प्रथमावृत्ति वीर नि. सं० २४७८ प्रतियाँ १०००
द्वितीयावृत्ति वीर नि. सं० २४९९ प्रतियाँ ११००
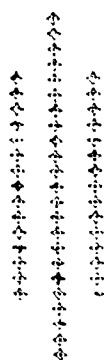
मूल्य—५-००
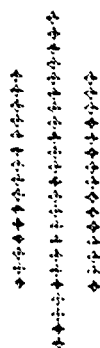
मुद्रक :—
मगनलाल जैन
अजित मुद्रणालय
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

ॐ

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके विषयमें उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि-शिलालेख]

अर्थः—कुन्दपुष्पकी प्रभाको धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके—चारण-ऋद्धिधारी महामुनिओंके—सुन्दर हस्तकमलोंके भ्रमर थे और जिन पवित्रात्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?

. . . . .कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान भूमितलको छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे, उससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वे प्रभु अन्तरमें, वैसे ही बाह्यमें, रजसे (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अंतरंगमें वे रागादिक मलसे अस्पृष्ट थे और बाह्यमें धूलसे अस्पृष्ट थे)।

* * *

जइ पउमणंदिणाहो सीमन्धरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

[दर्शनसार]

अर्थः—(महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकरदेव) श्री सीमंधर स्वामीसे प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञानके द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्गको कैसे जानते?

* * *

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानके विषयमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रकाशकीय

आज ग्रन्थाधिराज श्री समयसार-प्रवचनके तृतीय भागको पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्गकी प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्वज्ञान करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्गको प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओंको मोक्षमार्गमें लगानेके मूल कारणभूत इस ग्रन्थराजकी विस्तृत व्याख्याको प्रकाशन करनेका शुभअवसर मुझे प्राप्त हुआ है यह मेरे बड़े सौभाग्यकी बात है।

इस ग्रन्थराजके विषयमें कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। इस समयसारके स्मरण-मात्रसे ही मुमुक्षु जीवोंके हृदयरूपी वीणाके तार आनन्दसे झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रथम भागकी प्रस्तावनामें दिया हुआ है इसलिये यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांगका निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्गका प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसारमें कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवानकी साक्षात् दिव्यध्वनिसे सीधा सम्बन्धित होनेके कारण अत्यन्त प्रामाणिक है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका हमारे ऊपर महान् उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमंधर भगवान-के पादमूलमें आठ दिन तक रहकर भगवानकी दिव्यध्वनिरूप अमृतका पेट भरकर साक्षात् पान किया; और भरतक्षेत्र पधारकर हम भरत जीवोंके लिये इस अमृतको श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थोंमें भरके रखा,

जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्गमें लग रहे हैं एवम् भविष्यमें भी लगेंगे।

इसीप्रकार समयसारके अत्यन्त गम्भीर एवम् गूढ रहस्योंको प्रकाशन करनेवाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने भी भगवानके गणधर (जो ॐकाररूप ध्वनिको द्वादशांगरूपमें विस्तृत कर देते हैं) के समान इस ग्रन्थके गम्भीर रहस्योंको खोलनेका कार्य किया है, इसलिये उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवम् रुचिकी मंदताके कारण हम लोग उस टीकाको भी यथार्थरूपमें नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवम् रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्त्वकी जगह अतत्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्वको और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसारके अभ्यासका ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समयमें हमारे सद्‌भाग्यसे समयसारके मर्मज्ञ एवम् अनुभवी पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामीके सत्समागमका महान् लाभ हम मुमुक्षुओंको प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुननेवाला धुनिया रुईके बंधे पिंडको धुन धुनकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है उसीप्रकार आपने भी समयसारके एवम् उसकी टीकाके गम्भीरसे गम्भीर एवम् गूढ़ रहस्योंको इतनी सरल एवम् सादी भाषामें खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धिवाला भी, इसको यथार्थ रुचिके साथ ग्रहण कर लेनेसे, अनन्तकालमें नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्गको सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये हम वर्तमान बुद्धि वाले जीवों पर तो श्री कानजी महाराजका महान महान उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराजको नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्गकी प्राप्ति कैसे होती? इसलिये हमारे पास आपके उपकारका वर्णन करनेके लिये कोई शब्द ही नहीं है। मात्र श्रद्धाके साथ आपको प्रणाम करते हैं।

भगवान महावीर स्वामीके समयमें दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेपमें ही मोक्षमार्गका प्रकाशन होता था और उसीसे पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे-धीरे जीवोंकी रुचि, आयु, बल और क्षयोपशम क्षीण होता गया, तो भगवानका निर्वाण होनेके करीब पांचसौ वर्ष बाद ही मोक्षमार्गके मूल प्रयोजनभूत तत्त्वका श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा ग्रन्थरूपमें संकलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढ़ी तो उसके एक हजार वर्ष बाद ही श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा उसकी और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या हो गई, और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उसके एक हजार वर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या श्री कानजीस्वामी द्वारा हो रही है। यह सब इस बातके द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवानका मार्ग इस कालके अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसका पालन करने वाले धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजीस्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी संकलना किसप्रकार किसके, द्वारा और कहाँ की गई, यह सब प्रथम भागकी प्रस्तावनामें बतलाया दिया गया है। यह प्रवचन गुजराती भाषामें गाथा १४४ तकके प्रकाशित हो चुके हैं और आगेका प्रकाशन चालू है। इन प्रवचनोंका हिन्दी भाषा-भाषी भी पूरा लाभ लेवें, इस भावनासे [illegible] हिन्दीमें प्रकाशन प्रारंभ किया गया जिसमेंसे समयसारकी १ से [illegible] गाथा तकके प्रवचन प्रथम भागमें प्रकाशित हुए हैं तथा द्वितीय भागमें गाथा [illegible] से [illegible] तकके प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं; अब इस तृतीय भागमें गाथा [illegible] से गाथा [illegible] तकके प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं; इसप्रकार इस भागमें [illegible] गाथा तक जो [illegible] बोलने वाले आध्यात्मिक पूज्य श्री कानजीस्वामीके प्रवचन [illegible] प्रकाशमें आते हैं। आशा है मुमुक्षुगण इन प्रवचनोंसे [illegible] उठावेंगे

आत्मतत्त्वको पहिचानकर सत्समागम द्वारा मोक्षमार्गको प्राप्त करेंगे।

अन्तमें पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजीस्वामीको मेरा अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसारको नष्ट कर देने वाले सत्धर्मकी प्राप्ति हुई।

भवदीय—

कार्तिक शुक्ला १
वीर नि० सं० २४७८

नेमीचन्द पाटनी, आगरा

द्वितीयावृत्तिका निवेदन

श्री समयसारजी शास्त्रपर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा किये गये प्रवचनोंसे अनेक मुमुक्षुओंको इस अध्यात्म-शास्त्रका सूक्ष्म रहस्य सरलतापूर्वक समझने तथा आत्महितकी साधनामें बड़ी सहायता मिली है; इन प्रवचनोंके प्रथम तथा द्वितीय भागकी दो-दो आवृत्तियां प्रकाशित हो चुकी हैं, और जिज्ञासुओंकी मांग होनेके कारण तृतीय भागकी यह द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करते हुए हर्ष होता है। आशा है जिज्ञासुजन इसका पूरा पूरा लाभ उठायेंगे।

वीर सं. २४९९
भाद्रपद शुक्ला पंचमी

साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दि. जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

विषयानुक्रमणिका

श्री समयसार प्रवचन

[तृतीय भाग]

प्रत्याख्यान है, अन्य कुछ नहीं।

ज्ञान प्रत्याख्यान है, यह बात लोगोंको कैसे जमे ? जिस बालकने बकरीका दूध पिया हो उसे भरपूर मक्खनवड़े और गुलाबजामुन कैसे पच सकते हैं ? उसीप्रकार जिसे अनंतकालसे विपरीत पोषण मिला हो उसे यह बात सुनकर आघात लगता है, किन्तु पात्र जीवोंको यह सुनते ही उल्लास आ जाता है कि—अहो ! यह बात हमने कभी नहीं सुनी;—ऐसा उल्लास आनेसे वे पात्र हो जाते हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्यने कहा है कि 'भावि-निर्वाणभाजनम्'—इसप्रकार वे पात्र जीव आत्माका भान करके, चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त करनेके लिये तैयार हो जाते हैं।

जगतमें जब सत् प्रगट होता है उस समय जो पात्रजीव होते हैं वे यथार्थरूपसे समझकर स्वीकार करते हैं और जो अपात्र हैं वे विपरीत धारणा बनाते हैं।

जैसे—श्री ऋषभदेव भगवान प्रथम तीर्थंकर होनेसे पूर्व इस भरत क्षेत्रमें अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपमका धर्मका अंतर था; उतने समयतक कोई तीर्थंकर नहीं हुए थे, पाँचवाँ गुणस्थान भी उतने कालमें किसीको नहीं होता था। अकेले जुगलिया थे, वे जुगलिया मरकर देव होते थे, मनुष्य भी नहीं होते थे, तिर्यंच भी नहीं होते थे, एकेन्द्रिय भी नहीं होते थे, और न नरकमें भी जाते थे;—मात्र देवभवमें ही सब जाते थे। लेकिन जब श्री ऋषभदेवभगवानको केवलज्ञान हुआ और दिव्यध्वनि खिरी तथा वह ध्वनि समस्त जीवोंने सुनी कि वहाँ विभाग हो गये; मनुष्य, तिर्यंच, नरक और सिद्ध; चारों गतियाँ चालू हो गईं—देव गति तो थी ही। कल्पवृक्षमें फलोंकी कमी होने लगी इसलिये सबको पहले जैसा समभाव था वह न रहकर किसीको क्रोधकी तीव्रता और किसीको मंदता—ऐसा होने लगा। कल्पवृक्षके फल जब कम पड़ने लगे उस समय लोग आपसमें झगड़ने लगे। कोई बादमें आये और कहे कि—मुझे पहले खाने दो, मुझे बहुत भूख लगी है, तब दूसरा बोले कि—तुझे कैसे खाने दूँ ? पहले हम आये है ! और तीसरा कहे कि—

केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं। इसमें यह शास्त्र रचनेका निमित्त बना है इसलिये प्राणी तैयार होनेवाले हैं—यह नियम है।

अब आचार्यदेव प्रत्याख्यानका उत्तर देते हैं। यह भगवान ज्ञाता द्रव्य है, वह अन्य द्रव्यके स्वभावसे होनेवाले अन्य समस्त परभावोंको, वे अपने स्वभावभाव द्वारा व्याप्त न होनेसे, पररूप जानकर त्याग करता है वही प्रत्याख्यान है।

अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं, शुभाशुभपरिणाम भी पर हैं; दयाकी वृत्ति होना शुभ है और हिंसाकी वृत्ति होना अशुभ है, और मैं परसे निराला, निर्दोष, ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा जानकर ज्ञानमें एकाग्र होता है वह प्रत्याख्यान है।

मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ—ऐसा भान होने पर उसी समय वीतराग नहीं हो जाता। अल्प राग-द्वेष होते हैं उन्हें दूर करके स्थिर होना सो प्रत्याख्यान है।

ज्ञान प्रत्याख्यान अर्थात् आत्मा परसे निराला है;—उस ज्ञातामें ज्ञातारूपसे स्थिर हुआ और जो-जो वृत्तियाँ उठें उनमें नहीं रुका वह प्रत्याख्यान है; इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

कोई कहे कि ज्ञान ही प्रत्याख्यान है इसलिये आनंद करो! लेकिन भाई! ज्ञान अर्थात् अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना सो प्रत्याख्यान है उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसा नियमसे जानना कि जो पर है सो मैं नहीं हूँ, व्रत और अव्रतके परिणामोंको छोड़कर जो ज्ञानकी एकाग्रतारूप परिणाम है वही प्रत्याख्यान है।

हे शिष्य! अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं। शरीरादि और पुण्य-पापके परिणाम वह सब पर हैं। यह सब जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं वे परभाव हैं–ऐसा जानकर उनका त्याग करता है वह प्रत्याख्यान है। इस

प्रकार जो ज्ञानमें एकाग्र होता है वह प्रत्याख्यान है, इससे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। आत्माको परका त्याग नहीं है, किन्तु ज्ञानसे वह सब पर है—ऐसा जानना ही परवस्तुका त्याग है। ज्ञानमें परके त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है।

मैं निर्दोष हूं, ज्ञाता हूं और विकार होता है वह मेरी अवस्थामें होता है, लेकिन वह मेरा स्वरूप नहीं है,—ऐसा जानकर ज्ञानमें रहना सो प्रत्याख्यान है।

ज्ञानमूर्ति चैतन्यस्वभावमें परभाव विकारका त्याग और ज्ञानकी एकाग्रताको ही श्री सर्वज्ञदेव सच्चे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं, उसके अतिरिक्त प्रत्याख्यानका स्वरूप कहीं शास्त्रमें नहीं होता।

सम्यग्दर्शन हुआ तबसे भगवान कहा है, भावसे भगवान कहा है, एक—दो भवमें मोक्ष जाना है इसलिये भगवान कहा है, शक्तिरूपसे भगवान है इसलिये भगवान कहा है।

किसी रंक—भिखारीसे कहा जावे कि—तू भगवान है, तो वह कहेगा कि—भाई साहब! मुझसे भगवान मत कहो! उसके हृदयमें तो भगवान—पैसेवाले सेठ हैं उनका माहात्म्य है। जब कोई सेठ घर आता तो कहता है कि—आओ सेठ साहिब, पधारो! किन्तु [illegible] तो भगवान आत्मा है उसकी जिसे श्रद्धा हुई वही [illegible], इसी आचार्यदेवने भगवान कहा है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ वहाँ [illegible] होनेवाले अशुभ भावका पश्चात्ताप [illegible] करता है। [illegible] राग-द्वेष, पुण्य हो अथवा पाप हो, उनके परिणाम [illegible] [illegible] हो या [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] किया है। [illegible] और [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] है।

हाथ जोड़कर नम्र हो जाना प्रत्याख्यान नहीं है, वह तो व्यव-हार कहलाता है। हाथ जोड़कर नम्र होनेका व्यवहार ज्ञानीके भी होता है। देखो, यहाँ विनयपूर्वक गुरुसे पूछते हैं न! जहाँ आत्माका भान हो वहाँ विनय और व्रतादिका व्यवहार होता है। गुरुके निकट विनय करके व्यवहारको—शुभभावको सिद्ध करते हैं, किन्तु जानते हैं कि यह व्रतादिका शुभभाव भी मेरे स्वभावमेंसे उत्पन्न नहीं होता। शुभभाव होता है, तथापि उसका स्वीकार नहीं है, स्वीकार तो एक अखण्ड ज्ञायकका है। व्रत लूँ और चारित्र ग्रहण करूँ—यह विकल्प भी मेरे द्वारा व्याप्त नहीं हैं, वे सब अन्य द्रव्यसे होनेवाले विकार हैं। मेरे चैतन्यस्वभावका वह विस्तार नहीं है; कर्मभावसे होनेवाला परका विस्तार है। ज्ञानीको व्रत लेनेकी शुभवृत्ति उठती है, परंतु वे जानते हैं कि-यह वृत्ति मेरे स्वभावमें प्रसरित नहीं है, मेरे स्वभावका यह विस्तार नहीं है, इसका विस्तार और प्रसरित होना परमें है। मेरे स्वभावके विस्तारमें तो अंतरज्ञान और शांति होती है। चारित्र लेनेका

विकल्प उठे वह भी अन्यभाव है। चारित्र लेनेका जो विकल्प उठा उसका त्याग करना चाहते हैं, जो वर्तमान विकल्प है उसका त्याग करने—नाश करनेकी इच्छा रखते हैं। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् श्रावकके बारह व्रत और मुनिके पंचमहाव्रत—ये सब पुण्य-परिणाम हैं, उनके पीछे अकषायभावकी स्थिरता है वह निश्चयचारित्र है।

ज्ञानी समझते हैं कि मेरे पुरुषार्थकी मन्दतासे पुण्य-पापकी वृत्तियाँ मुझमें होती हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, तब फिर शरीरादि तो कहाँसे मुझमें होंगे?

जिसने ऐसा जान लिया कि यह मैं नहीं हूँ, वही आत्मामें स्थिर होता है। दूसरा कोई त्याग करनेवाला नहीं है—ऐसा जहाँ भान हो, पश्चात् जो व्रतका शुभ विकल्प उठा वह व्यवहार प्रत्याख्यान है और स्वभावमें स्थिर होना वह परमार्थ व्रत है।

ज्ञानने यह जाना कि—शुभाशुभकी वृत्ति भी विकार है, वह मलिन है, वह मैं नहीं हूँ;—इसप्रकार आत्माके निश्चय पूर्वक प्रथम सम्यक् दर्शन हुआ, दर्शन होनेके पश्चात् प्रत्याख्यानके समय [illegible] स्वरूपमें रमता है उसकी शुद्धि की है कि—[illegible] [illegible] निकलता है सो मैं हूँ—ऐसा जानकर शुभवृत्ति [illegible] हूँ—ऐसी दोनोंमें ज्ञानकी शुद्धि की है।

[illegible] वीतरागस्वभावको [illegible] है कि [illegible] ज्ञान होता है [illegible] मैं ज्ञाता हूँ। [illegible] [illegible] जो भाव हैं वे भी [illegible]

मैं स्वतः ज्ञाता हूँ, [illegible]

उसमें स्थिर होनेसे वह राग पर्याय सहज ही छूट जाती है। उसे छोड़नेकी ओर लक्ष रखनेसे नहीं छूटती; किन्तु आनंदमूर्ति आत्मामें स्थिर होनेसे वह सहज ही छूट जाती है। आत्मा स्वभावसे राग-द्वेष रहित है, उसमें परवृत्तिको छोड़ूँ वह नाममात्र है, उपाधि है। 'अकेले आत्मामें' इतना भी नहीं चल सकता।

प्रत्याख्यानके समय रागादिकके त्यागका कर्तृत्व नाममात्र है, राग छूटता है सो असद्‌भूत व्यवहारनयसे है। और स्वभावमें स्थिर होना सो सद्‌भूत व्यवहार है। यहाँ अकेली स्वभावदृष्टि रखी है; वहुत ही अच्छी टीका की है; इसमें कितना समावेश कर दिया है! मुनि और श्रावकके व्रतकी यह वात की है, यह वात अत्यन्त सूक्ष्म है।

यहाँ द्रव्यदृष्टिसे वात है। परका त्याग करूँ—ऐसा विकल्प भी परके ऊपर लक्ष जानेसे होता है, वह त्यागके कर्तृत्वका नाममात्र है, उपाधिस्वरूप है; शरीर, मन, वाणीका संयोग तो नहीं, किन्तु त्यागकी वृत्तिमें भी एकमेक न होनेवाला-ऐसा मैं आत्मा हूँ; मैं परको छोड़ूँ —ऐसा विकल्प भी मुझे अच्छा नहीं लगता।

परमार्थसे परके त्यागका नाम भी अपनेको नहीं है। यदि स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो राग-द्वेषको छोड़ूँ—ऐसा कर्तापनेका नाम भी आत्माको नहीं है। प्रत्याख्यान करनेवाला सम्यक्त्वी विचार करता है कि—यह जो शुभभाव वर्त रहा है उसे मैंने जान लिया; लेकिन, 'विकारको छोड़ूँ'-ऐसा विकल्प भी जिसमें उपाधिमात्र भाव है—ऐसा मेरा चैतन्य स्वभाव अखंडानन्द है। मेरा स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इसलिये मैंने यह तो जान लिया कि-'यह मैं हूँ, और यह पर है', लेकिन परका जो स्वरूप है वह मेरा नहीं है। रागको छोड़ूँ और अराग पर्यायको ग्रहण करूँ—वह भी व्यवहार है, रागको छोड़ूँ और वीतरागभाव ग्रहण करूँ —वह भी व्यवहार है, राग-द्वेषका व्यय और वीतरागी पर्यायकी उत्पत्ति सो व्यवहार है, रागको छोड़कर स्वरूपमें स्थिर होना भी व्यवहार है।

सहज स्वभावमें स्थिर होकर रागद्वेषको छोड़ूँ और निर्मल पर्यायको अंगीकार करूँ—यह भी व्यवहार है। अस्थिर पर्याय दूर होकर स्थिर पर्याय प्रगट हुई—इन दो भेदोंका लक्ष नहीं है, किन्तु ध्रुव पर ही लक्ष है। स्वसन्मुख होकर जिस समय पर्याय प्रगट होती है उसी समय अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि है वह ध्रुवदृष्टि है। सम्यक्दृष्टि पर्यायको ग्रहण न करके ध्रुवको ग्रहण करता है। चारित्रकी शक्ति, व्यक्तिकी पर्याय पर लक्ष देनेसे रागकी कोई बीचमें आती है, इससे चारित्रपर्याय विकसित नहीं होती। इसलिये मोक्षपर्याय, चारित्रपर्याय ग्रहण न करके, उसपर लक्ष न देकर, अकेले द्रव्यस्वभावके प्रति लक्ष देनेसे चारित्रपर्याय मोक्षपर्याय प्रगट होती है,—इस ध्रुवदृष्टिकी यहां बात है। स्वभावकी दृष्टिसे सबमें अवस्थाको गौण कर देते हैं, उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। यह यथार्थ बात है, तीन कालमें नहीं बदल सकती। ऐसी बात भी न सुनी हो वहां प्रत्याख्यान तो हो ही कैसे सकता है? शरीर सो मैं हूँ—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टिको तो बात ही कहां रही? आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु! तू अपनी प्रभुताके बिना कहां स्थिर रहेगा? अर्थात् ज्ञान बिना प्रत्याख्यान कहांसे होगा?

यह बात बहुत उत्तम है। भाई! संसारकी बात तो अनंत काल सुनी है, किन्तु यदि जन्म-मरणको दूर करना हो तो [illegible] यह बात अवश्य सुनना पड़ेगी।

परमार्थसे देखा जाये तो परभावमें [illegible] नहीं है। यह [illegible] [illegible] क्योंकि [illegible] [illegible]

पुरुषार्थ है। परकी ओर लक्ष आता है कि–राग-द्वेषको छोड़ दूँ; वह भी अपना स्वरूप नहीं है, वह उपाधिमात्र है, नाममात्र है। वास्तवमें अपने स्वभावमें स्थिर होनेसे वह सहज ही छूट जाता है, यही चारित्र है—ऐसा भगवानने कहा है। इसीका अनुभव करना सो प्रत्याख्यान है, दूसरा कोई प्रत्याख्यानका स्वरूप नहीं है।

यह प्रत्याख्यानकी व्याख्या चल रही है। लोग कहते हैं कि त्याग करो, त्याग करो, तो त्यागका क्या स्वरूप होगा? त्याग क्या वस्तु है? कोई गुण है या किसी पदार्थकी अवस्था है? क्योंकि जो भी शब्द बोला जाता है वह किसी द्रव्यका-गुणका अथवा तो पर्यायका अवलम्बन लेकर कहा जाता है। त्याग किसी परवस्तुका होता है? कि किसी राग-द्वेषका त्याग है? या स्वरूपमें एकाग्र रहना सो त्याग है?

आत्माके मूल स्वभावमें ग्रहण-त्याग है ही नहीं। आत्माने परको ग्रहण किया हो तभी उसका त्याग करे न? इससे स्वरूपको पहिचान-कर उसमें स्थिर रहना ही त्याग है और वह आत्माकी निर्मल पर्याय है। मकान, कुटुम्ब, लक्ष्मी आदि कहीं आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो गये हैं, फिर उनका त्याग कैसे कहा जा सकता है? वे मकानादि आत्मामें नहीं किंतु मान्यतामें प्रविष्ट हो गये हैं। जीवने मान लिया हैं कि–शरीर, मन, वाणी, मकान, स्त्री, लक्ष्मी आदि सब मेरे हैं—वही उसका अत्याग भाव है।

जो विपरीत माना था उसका भान हुआ कि–यह मैं नहीं हूँ, मेरे स्वभावका विस्तार विकाररूप नहीं है, मैं एक आत्मा हूँ और जानने-देखनेका मेरा स्वभाव है; उसमें परनिमित्तसे क्रोध, मान, माया और लोभका जो विस्तार दिखायी देता है वह मेरे आत्माके स्वभावका विस्तार नहीं है। राग-द्वेषको छोड़ देना भी व्यवहार है। आत्माके अखण्ड शुद्ध निर्मल स्वभावमें जितने अंशसे स्थिर हुआ उतने अंशमें राग-द्वेष सहज ही छूट जाते हैं, उसे त्याग कहते हैं।

आजकल जगतमें त्यागके नामपर औंधाउल्टी चल रही है। ढूंढ़िया-जैनोंने भेंट-भाजीकी तरह व्रतोंका मूल्य कर दिया है। प्रत्याख्यानका स्वरूप क्या है उसे नहीं समझते। यथार्थ स्वरूप समझे बिना व्रतादिके शुभभाव करे तो पुण्यबंध हो, किन्तु जो अपनी भूमिका नहीं है उसे माने और मनावे तो वह कषायकी तीव्रता है, मिथ्यादर्शनकी तीव्रता है; ऐसा भान किये बिना अनंत व्रतोंको अज्ञानमें खेला गया। ये शुभ छोड़कर अशुभ परिणाम करनेकी यह बात नहीं है, किन्तु यथार्थ पहिचान करनेकी बात है।

जो पहले परको अपना मानता था वह अब अपने स्वरूपको समझकर ज्ञानी होता हुआ त्यागका निश्चय करता है कि—मैं अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाऊँ तो विकल्प सहज ही छूट जाते हैं। ऐसा निश्चय करनेके पश्चात् त्याग करता है।

इसमें कहीं पुनरुक्ति दोष नहीं लगता, किन्तु पुष्टि होती है। जिस प्रकार प्रतिदिन रोटी खाते रहने पर भी उसके प्रति अरुचि नहीं आती। जहाँ रुचि है वहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं मानता, तो फिर इस बातमें भी पुनरुक्ति दोष नहीं लगता, किन्तु स्वानुभवकी दृढ़ता होती है। जिसे रुचि होती है उसे बारम्बार सुननेसे अरुचि नहीं आती, किन्तु [illegible] होती है।

प्रत्याख्यानके समय जो विकल्प आते हैं कि [illegible]

मकान, लक्ष्मी आदि परवस्तुका संयोग छोड़ूँ तो गुण हो-ऐसा नहीं है, और राग-द्वेषको छोड़ूँ तो गुण हो-ऐसा भी नहीं है; किन्तु भीतर आत्मामें गुण भरे है उनमेंसे प्रगट होते हैं। जिसमें गुण न हों उसमेंसे प्रगट नहीं होते। आत्मामें निर्विकल्प, वीतरागस्वभाव भरा है उसमें एकाग्र होऊँ तो गुण प्रगट होते हैं।

भीतर गुण भरे है उनमेंसे प्रगट होते है, वे बाहरसे नहीं आते; गुण स्वयं प्रगट नही होता किन्तु गुणकी अवस्था प्रगट होती है। गुणकी अवस्थामें त्याग-अत्यागके दो भेद हैं, गुणमें वे भेद नही हैं। (गुणमें अवस्थाका आरोप करके गुण प्रगट हुआ-ऐसा कहा जाता है।) मैं गुणमूर्ति आत्मा अखण्ड हूँ; भीतर गुण भरे हुए हैं उनमेंसे गुणोंकी अवस्था आती है-ऐसा भान करके उसमें स्थिर हुआ वहाँ राग-द्वेषकी अवस्था सहज ही दूर हो जाती है और प्रत्याख्यानकी अवस्था प्रगट होती है। सम्यक्‌दर्शन होनेके पश्चात् अणुव्रत और महाव्रतके शुभ-परिणाम आते हैं उन्हें वह जानता है कि यह मेरे चैतन्यआत्माका स्वरूप नहीं है, किन्तु आस्रवका स्वरूप है, मैं तो चैतन्यमूर्ति ज्ञानज्योति हूँ; —इसप्रकार स्वभावदृष्टिके बलमें शुभाशुभभावकी अवस्थाका अभाव करनेसे ज्ञानकी जो अवस्था स्थिर होती है उसका नाम प्रत्याख्यान है, त्याग है। द्रव्य और गुण त्रिकाल शुद्ध हैं, किन्तु वर्तमान अवस्थामें जो वासना होती है वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा स्वभाव नहीं है। ज्ञानी विचार करता है कि मैं ध्रुवस्वरूप हूँ, ऐसी स्वभावदृष्टिके बलमें अवस्था निर्मल हुई; उस निर्मल अवस्थाका उत्पाद हुआ और अव्रत अवस्थाका व्यय हुआ वह प्रत्याख्यान है।

ज्ञानीको भी पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण अल्प आसक्ति अर्थात् अल्प राग-द्वेष होते हैं, लेकिन उसे तीव्र पुरुषार्थसे दूर करना चाहते हैं। ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्य पर जमी है, उस दृष्टि द्वारा वह आसक्तिको अपना स्वरूप नहीं मानता। मैं छोड़ दूँ-यह भी नाममात्र है, उपाधि-

मात्र है, क्योंकि स्वभावमें स्थिर होनेसे वह सहज ही छूट जाता है। ज्ञानस्वभावसे पृथक् नहीं है इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञानकी निर्मल अवस्था ही प्रत्याख्यान है। 'ज्ञान' शब्दसे यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों समझना चाहिए।

वस्तुस्वभाव जैसा है वैसा है। जनता प्रत्याख्यानका कोई अन्य स्वरूप माने तो उससे कहीं स्वरूप नहीं बदल सकता। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने जगतके समक्ष प्रत्याख्यानका स्पष्ट स्वरूप रखा है। ज्ञानमें वृद्धि हुई अर्थात् वह अपने स्वभावमें स्थिर-एकाग्र हुआ, वही सच्चा प्रत्याख्यान, वही सच्चा त्याग, वही सच्चा वैराग्य, वही सच्चा नियम, और सब एक रहित शून्यके समान है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् अंश बढ़ते पर अणुव्रत और महाव्रतके शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहते किन्तु वह चारित्रका स्वरूप नहीं है। स्वभावदृष्टिसे उन शुभभावकी स्वीकृति नहीं है। आत्मामें शुभाशुभभावसे रहित अमुक अंशमें स्वरूप-स्थिरता हुई और अव्रत-परिणामका त्याग हुआ वह पाँचवीं भूमिका है और स्वरूपमें विशेष रमणता होना सो मुनिपना है। इसीका नाम सच्चा [illegible] और सच्चा चारित्र है।

[illegible]

नीतिवाला मनुष्य है, इसलिये जब उसने देखा कि ऐसे चिह्नोंवाला मेरा वस्त्र नहीं है वहाँ तुरन्त उसे वापिस देता है। इतना भी नहीं कहता कि मैं धोबीके यहाँसे अपने कपड़े ले आऊँगा, तब तेरे कपड़े दूँगा, किन्तु जल्दी छोड़ देता है। देखो, दृष्टान्तमें भी कैसी नीति रखी है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता है, किन्तु मिथ्यादृष्टिपनेके कारण भ्रमसे पर निमित्तसे होने वाले विकारी भावोंको ग्रहण करके—अपना मानकर अपनेमें एकरूप किया कि—यह ज्ञाता चैतन्यज्योति और राग-द्वेष यह सब मैं ही हूँ, वे मेरे हैं;—इसप्रकार सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। 'अपने आप' अर्थात् किसीने बनाया नहीं है। अनादिका अज्ञानी है, उसकी जागृतिके समय गुरुकी उपस्थिति होती ही है। गुरुके निमित्त विना जागृति नहीं होती और स्वयं जागृत हो उस समय गुरु उपस्थित होते ही हैं—ऐसा यहाँ वतलाया है। अनादिका अज्ञानी होकर भ्रमसे सो रहा है उससे श्रीगुरु कहते हैं कि—देख भाई! यह पर द्रव्य, शुभाशुभभाव तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मात्र ज्ञातास्वरूप है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदसे पृथक वताकर कहते हैं कि तू शीघ्र जागृत हो, सावधान हो। यहाँ तो एक ही बात है कि जाग और सावधान हो! यह तेरा आत्मा जानता है-देखता है वह वास्तवमें ज्ञान मात्र है, उसका स्वभाव उपाधिमात्र नहीं है। जो उपाधिभाव ज्ञानमें भासित हों वे सब परभाव हैं, दूर करने योग्य हैं, नाशवान हैं, वह तेरा स्वभाव नहीं है। शिष्य पात्र है, इससे वारम्वार सुनकर भी अनादर नहीं करता किन्तु प्रसन्न होता है। श्रीगुरु उसे भेदज्ञान कराते हैं-असंयोगी और संयोगीभाव—दोनोंका भेद करके विवेक कराते हैं कि जितना ज्ञाता उतना तू और जो यह विकारी खलवलाहट हो रही है उतना तू नहीं है।

गुरु कहते हैं कि तू देख! विकारी और अविकारीका मेल नहीं वैठ सकता। यह जो संयोगजनित विकारके भेद होते हैं वे परजन्य हैं, उपाधि हैं। जितने संयोगजनित विकारके भेद पड़ें वह तेरा स्वरूप

नहीं है; तू शीघ्र जाग, और सावधान हो। यहाँ तो शास्त्रकारने शीघ्र जागनेकी ही बात की है किन्तु एकदम जाग और तैयार हो। चैतन्यज्योति आत्मा पर संयोगोंसे भिन्न है उसे तू भली भाँति देख! अंतरमें जानता है-देखता है वह ज्ञानमात्र आत्मा है। 'ज्ञानमात्र' कहनेसे अनंत गुण साथ ही आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त जो मलिन हो वह संयोगजनित उपाधि है, वह दूर करने योग्य भाव है; रखने योग्य तो एक अपना स्वभाव ही है। देखो, शिष्यको ऐसा नहीं होता कि-एक ही बातको बारम्बार सुनाते हैं, उसमें शिष्यकी पात्रता है। गुरु बारंबार कहते हैं उसमें दो प्रकार हुए। उसमें सुननेवाले जीवकी ओरसे लिया जाये तो-आत्माका जो स्वरूप ऐसा गुरुने कहा उसे सुननेको तत्पर रहता है और प्रेमसे सुनता है, वहाँ गुरुको ऐसा लगा कि इसे यह बात रुचिकर लगती है, इसलिये बारम्बार सुनाते हैं।

बारम्बार कहना पड़ता है, इसमें दूसरी बात यह है कि पंचम-कालके प्राणी हैं, इसलिये बारम्बार कहना पड़ता है, किन्तु बारम्बार सुनने पर भी शिष्यको अरुचि नहीं होती, अनादर नहीं करता, किन्तु जिज्ञासा बतलाता है; यह शिष्यकी पात्रता है। [illegible] बात सुननेके लिये बारम्बार रुचिपूर्वक श्रवण करता है।

'आत्मतत्त्व बारम्बार सुनता है' ऐसा कहा है, [illegible]

[illegible]

नीतिवाला मनुष्य है, इसलिये जब उसने देखा कि ऐसे चिह्नोंवाला मेरा वस्त्र नहीं है वहाँ तुरन्त उसे वापिस देता है। इतना भी नहीं कहता कि मैं धोबीके यहाँसे अपने कपड़े ले आऊँगा, तब तेरे कपड़े दूँगा, किन्तु जल्दी छोड़ देता है। देखो, दृष्टान्तमें भी कैसी नीति रखी है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता है, किन्तु मिथ्यादृष्टिपनेके कारण भ्रमसे पर निमित्तसे होने वाले विकारी भावोंको ग्रहण करके—अपना मानकर अपनेमें एकरूप किया कि—यह ज्ञाता चैतन्यज्योति और राग-द्वेष यह सब मैं ही हूँ, वे मेरे हैं;—इसप्रकार सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। 'अपने आप' अर्थात् किसीने बनाया नहीं है। अनादिका अज्ञानी है, उसकी जागृतिके समय गुरुकी उपस्थिति होती ही है। गुरुके निमित्त बिना जागृति नहीं होती और स्वयं जागृत हो उस समय गुरु उपस्थित होते ही हैं—ऐसा यहाँ बतलाया है। अनादिका अज्ञानी होकर भ्रमसे सो रहा है उससे श्रीगुरु कहते हैं कि—देख भाई! यह पर द्रव्य, शुभाशुभभाव तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मात्र ज्ञातास्वरूप है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदसे पृथक बताकर कहते हैं कि तू शीघ्र जागृत हो, सावधान हो। यहाँ तो एक ही बात है कि जाग और सावधान हो! यह तेरा आत्मा जानता है-देखता है वह वास्तवमें ज्ञान मात्र है, उसका स्वभाव उपाधिमात्र नहीं है। जो उपाधिभाव ज्ञानमें भासित हों वे सब परभाव हैं, दूर करने योग्य हैं, नाशवान हैं, वह तेरा स्वभाव नहीं है। शिष्य पात्र है, इससे वारम्वार सुनकर भी अनादर नहीं करता किन्तु प्रसन्न होता है। श्रीगुरु उसे भेदज्ञान कराते हैं-असंयोगी और संयोगीभाव—दोनोंका भेद करके विवेक कराते हैं कि जितना ज्ञाता उतना तू और जो यह विकारी खलबलाहट हो रही है उतना तू नहीं है।

गुरु कहते हैं कि तू देख! विकारी और अविकारीका मेल नहीं बैठ सकता। यह जो संयोगजनित विकारके भेद होते हैं वे परजन्य हैं, उपाधि हैं। जितने संयोगजनित विकारके भेद पड़ें वह तेरा स्वरूप

शिष्यने परीक्षा करके निर्णय किया है कि—यह जो आसक्ति और विकारीभाव दिखाई देते हैं वह अवश्य विकार ही है। पाप तो विकार है, किन्तु पुण्यके परिणाम भी विकार ही हैं। पाप तो मेरे नहीं हैं, किन्तु पुण्य भी मेरे होंगे या नहीं?—ऐसी शंका भी नहीं पड़ती;—निःशंक है। यह अवश्य परभाव हैं और मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ—इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्माको जानकर ज्ञानी होता हुआ सर्व परभावोंको तत्काल छोड़ता है। जिसप्रकार दूसरेकी वस्तुको अपना माना था, उसे पररूप जाना तब तत्काल छोड़ देता है; उसीप्रकार यथार्थ भान होनेसे परभावोंको तत्काल छोड़ देता है; फिर परभावोंको अपना नहीं मानता, यह प्रत्याख्यानका स्वरूप है। प्रत्याख्यान अरूपी आत्मामें होता है। स्वभावके बलसे स्थिरताकी अवस्था प्रगट हुई वह अरूपी होती है। यह त्यागका स्वरूप बाह्यमें नहीं होता। ज्ञानी परभावोंको पर समझकर छोड़ता है उसका नाम सच्चा प्रत्याख्यान और सच्चा त्याग है।

पैंतीसवीं गाथामें ऐसा कहा कि आत्मा ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है। विकार और मलिनता ज्ञाताका स्वभाव नहीं है।—ऐसा जो ज्ञायक आत्मा है उसमें प्रत्याख्यान क्या वस्तु है, त्याग क्या वस्तु है, यह धोबीके दृष्टांत द्वारा कहा। जैसेः—अज्ञानसे धोबीके यहाँसे अपने कपड़ोंके बदले दूसरेके कपड़े लाया हो, फिर जब कोई ऐसा बतलाये कि वे दूसरेके हैं, तब उन्हें परका समझकर छोड़ देता है।

इसप्रकार ज्ञानी गुरु द्वारा शास्त्रके वचन बारंबार सुनकर, स्व-परके लक्षणको जानकर, भलीभाँति परीक्षा करके जाना कि शुभाशुभ भाव आकुलतास्वरूप हैं, यह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा ज्ञाताका स्वरूप तो निराकुल है, उसमें लीनता करना सो प्रत्याख्यानका स्वरूप है।

सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञानके बिना सच्चे व्रत-प्रत्याख्यान हो ही नहीं सकते। आत्मा परसे निराला है—ऐसे भान बिना स्वरूपमें स्थिरता नहीं हो सकती। तत्त्वको जाने बिना कहाँ स्थिर हो? अशुभ भावोंको दूर करके शुभ भाव करे वह सच्चे व्रत-प्रत्याख्यानका स्वरूप नहीं है। ऐसे शुभ

प्रश्नः—शुभ करते करते मार्ग सरल तो बनेगा न ?

उत्तरः—शुभसे सरल नहीं होता। विष खानेसे अमृतकी डकार नहीं आती। सत्-समागम द्वारा यथार्थ पहिचान करे तो मार्ग सरल होता है, बीचमें शुभ परिणाम आते अवश्य हैं, किंतु वे मार्गको सरल नहीं बना देते।

आजकल लोग जो शुभ परिणाम कर रहे हैं वे तो बहुत ही स्थूल शुभ परिणाम हैं, किंतु गत कालके प्रवाहमें अपने स्वभावकी अज्ञानतामें [illegible] शुभ परिणाम किये कि वैसे उच्च शुभ परिणाम करनेकी इस समय [illegible] किसीकी शक्ति नहीं है। उसप्रकारके सूक्ष्म शुभ परिणाम [illegible] अनन्तबार किए हैं। नग्न-दिगम्बर मुनि हुआ, सच्चे देव, गुरु, [illegible] जाना, छहकायकी ऐसी दया पालन की कि एक [illegible] एक जुआरके दानेकी भी विराधना नहीं की; [illegible] दे, काँटे लगाकर जला दे तथापि क्रोध न [illegible] की, स्वर्गसे इन्द्राणी डिगाने आयें तो भी न [illegible] हो कि मनसे विकल्प तक न आये,—ऐसे [illegible] किए कि जिनसे नववें ग्रैवेयकमें गया; किंतु जन्म-[illegible], क्योंकि यह जो शुभ परिणाम कर रहा हूँ [illegible], लाभ होगा—ऐसा माना, किन्तु आत्मामें [illegible] और उसमें एकाग्र होऊँ तो गुण प्रगट [illegible]। शुभ भावका कर्ता होकर स्वभावपर्याय [illegible] है, किंतु उस भावसे मैं पृथक् हूँ, शुभके [illegible] निर्मल ज्ञान प्रगट होगा—ऐसा नहीं मानता। [illegible] होगा—इसी भावसे आत्मा अनादिसे [illegible] भावको (—स्वभावको) सहायक होगा [illegible] है। पुण्यभाव करके राजा हो, देव हो, [illegible]। यह तो जन्म-मरणको दूर [illegible] संसारका बीज है। शुभ

यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि पुरानी न हो अर्थात् आसक्ति, क्रोध, मान विकार है, वे परके ही हैं ऐसा जाना और वह दृष्टि पुरानी नहीं हुई अर्थात् नवीनकी नवीन रही; पर प्रवृत्तिको प्राप्त न हो अर्थात् पर आचरणको प्राप्त न हो, राग-द्वेषमें युक्त न हो, उसके पूर्व स्वमें स्थिर हुआ और परभावको छोड़ दिया वही प्रत्याख्यान है।

इस ज्ञानस्वभावमें कुछ परका करना है ही नहीं, किन्तु वर्तमान समय जितनी क्षणिक अवस्थामें करने-छोड़नेकी वृत्ति हो तब ज्ञान चलित-अस्थिर होता है, इसलिये उसमें युक्त न होनेसे ज्ञानका भाव पुराना नहीं हुआ, ज्ञान नयेका नया रहा, इतनेमें आत्माका अनुभव हो गया। जान लिया था कि यह राग-द्वेष, शुभाशुभ आकुलताके भाव होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है। जो जाना था उसे नया बनाये रखा और स्थिर हुआ वह प्रत्याख्यान है।

त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि पुरानी नहीं हुई और प्रवृत्तिको प्राप्त नहीं हुई अर्थात् विकारमें युक्त नहीं हुआ वहाँ तो स्वभावमें स्थिर हो गया। विकार मेरा स्वरूप नहीं है–इसप्रकार ज्ञान नयेका नया रहा वहाँ स्वरूपमें स्थिर हो गया।

परभाव विकारी वासना है वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसी दृष्टि पुरानी नहीं हुई नयीकी नयी रही और विकारमें युक्त नहीं हुआ उसके पहले तो अत्यन्त वेगसे स्वभावमें स्थिर हो गया—इसका नाम प्रत्याख्यान है। विकारी वासनामें युक्त न होना और आत्मस्वभावका प्रगट होना वे दोनों कार्य एक ही समयमें होते हैं, किन्तु यहाँ 'पहले-पश्चात्' बात की है वह जोर देनेके लिये कही है। दुनियाँ कहेगी कि यह प्रत्याख्यान कहाँसे निकाला? आत्माके स्वभावमेंसे निकाला है। भाई! इस आत्माका स्वरूप तो वीतरागता है और उस अरागदशामें स्थिर होनेका नाम ही त्याग है; किन्तु परका लेना-देना, ग्रहण-त्याग आत्माके हाथकी बात नहीं है।

कोई कहे कि हम व्यापार-धन्धा करते हों, तथापि हमारे अंतरमें

मेरे स्वभावका सामर्थ्य परकी भावना करे ऐसा नहीं हो सकता। मेरा सामर्थ्य तो मेरे स्वभावको प्रगट करे ऐसा होता है, परको प्रगट करे ऐसा नहीं हो सकता। मेरा स्वतंत्रस्वभाव स्वतंत्ररूपसे मेरे आधीन प्रगट होता है, परके आधीन होकर प्रगट हो ही नहीं सकता —ऐसी वस्तुस्थिति है।

स्वयमेव विश्वको प्रकाशित करनेमें चतुर है। धर्मी विचार करता है कि मैं तो स्व-पर सबके स्वभावको जाननेमें चतुर हूँ। यह जो राग-द्वेषादि होते हैं वह मैं नहीं हूँ, लेकिन उन्हें जाननेवाला मैं हूँ, इसलिये मैं जाननेका कार्य कर सकता हूँ; लेकिन परका लेने-देने आदिकी क्रियाएँ और उस ओरकी होनेवाली वृत्तियोंका मैं कर्ता नहीं हूँ। जो नहीं हो सकता उसका अभिमान छोड़कर मैं अपनेमें ज्ञातारूपसे रहूँ- यह मेरा स्वभाव है। मैं विकारका कर्ता नहीं हूँ; यदि आत्मा विकारका कर्ता हो तो विकार उसका कार्य हो जाये, और यदि विकार कार्य हो तो उसको नाश करनेका कार्य नहीं कर सकता। मैं तो अविकारी कार्य प्रगट कर सकता हूँ, अविकारीका कर्ता हो सकता हूँ। मैं परको जाननेमें चतुर-बुद्धिमान हूँ; लेकिन परका कर्ता होनेका मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी इस पर्यायमें जो जो दोष होते हैं वे मेरे ज्ञानसे बाहर नहीं जाते, जो जो वृत्तियाँ हो उन्हें मैं ज्ञाता रहकर जानता हूँ, लेकिन अपने ज्ञानके बाहर नहीं जाने देता—ऐसा जाननेमें मैं चतुर-बुद्धिमान हूँ।

जो नवीन-नवीन विकार होता है उसे जाननेमें मैं चतुर-प्रताप-संपदा स्वरूप हूँ। पुण्य-पापादि विकारी भाव हों, तथापि वे मेरी चैतन्य जगमगाती ज्योतिको नहीं बुझा सकते,—ऐसा मैं प्रतापस्वरूप हूँ अर्थात् प्रतापी हूँ। मैं तो विकासरूप निरंतर शाश्वत प्रताप संपदा स्वरूप हूँ। मेरा चैतन्यस्वभाव सदैव-निरंतर प्रकाशमान है; उसे कोई भी विकारी वृत्ति ढँक नहीं सकती ऐसा मैं निरंतर विकासरूप हूँ।

मेक नहीं हो गया हूँ इसलिये मैं एक हूँ।

धर्मी विचार करता है कि जहाँ मैं हूँ वहाँ (उस क्षेत्रमें) यह जो अंतरमें होनेवाली परोन्मुखता वाली राग-द्वेष और हर्ष-शोककी वृत्तियाँ दिखलाई देती हैं, और इस चौदह ब्रह्माण्डकी थैलीमें जहाँ मैं हूँ उस स्थान पर अन्य पर पदार्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल आदि भी हैं। उन राग-द्वेषादि सबको अपने भावमेंसे मैं पृथक् कर सकता हूँ, किन्तु क्षेत्रसे पृथक् करना अशक्य है। दूसरे पदार्थ एक क्षेत्रमें भले हों, किंतु उन्हें मैं अपने स्वभावलक्षण द्वारा भावसे भिन्न कर सकता हूँ। शाश्वत प्रतापसंपदावाला आदि कहकर अस्तिकी बात कही है और यहां परसे भिन्न बतलाकर नास्तिकी बात कही है।

आत्मा और जड़ शीखंडकी भाँति एकमेक हो रहे हैं। शीखंडमें दही और शक्करके स्वादको एक स्थानसे पृथक्-पृथक् करना अशक्य है। जिस प्रकार शीखंडके खट्टे-मीठे स्वादको एक क्षेत्रसे पृथक् नहीं किया जा सकता किन्तु स्वादके भेदसे पृथक् किया जा सकता है; उसीप्रकार आत्मा और जड़ क्षेत्रकी अपेक्षासे एकमेक हो रहे हैं, तथापि स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले स्वादभेदके कारण पृथक् किया जा सकता है। अनुकूलता और प्रतिकूलताके संयोगमें होनेवाली जो सुख-दुःखकी वृत्ति है वह आकुलित भाव है। उस आकुलताका स्वाद पृथक् और मेरा स्वाद पृथक् है—ऐसा स्पष्ट अनुभवमें आता है। क्षेत्रसे पृथक् नहीं कर सकता किन्तु पृथक् २ लक्षणोंके ज्ञानके द्वारा पृथक् कर सकता हूँ। मोहके निमित्तसे अनेक प्रकारके भाव होते हैं; वह हर्ष-शोकका स्वाद मलिन और कलुषित है, मेरे चैतन्यका स्वाद शांत और पवित्र है-इसप्रकार धर्मात्मा भावना भाते है कि-अंतरमें यह जो आकुलताकी खलबलाहट हो रही है उससे मेरा स्वरूप पृथक् है। खलबलाहटका स्वाद पृथक् है और मेरा—आत्माका स्वाद पृथक् है। मेरा स्वाद निरुपाधिक और निराकुलतामय है, और रागका स्वाद उपाधिमय एवं कलुषित है।

वस्तुमें तो विकार हो ही नहीं सकता। विकारका अर्थ है विकृति, विकृति अर्थात् कर्माधीन उपाधि, और जो उपाधि है सो वास्तविक स्वरूप नहीं है। किसी भी पदार्थके ओर की वृत्ति उठे वह सब विकार है, वह मैं नहीं हूँ। पराश्रय करनेरूप विकार अनेक है, उसमें ज्ञाता-तत्त्व है नहीं इसलिये मैं एक हूँ; मैं अपने स्वभावमें एकाग्र रहूँ और ज्ञान-दर्शनकी निर्मलतामें भंग न पड़ने दूँ—वही मेरे स्वभावकी प्राप्ति है, वही आत्माके स्वभावकी वृद्धिका कारण है। शरीरादिसे तो आत्मा पृथक् है ही, किन्तु मोहकर्मके निमित्तसे जो अनेक प्रकारके भाव होते हैं उनसे भी आत्मा पृथक् है। ज्ञाताका स्वभाव कहीं भी अटकनेवाला नहीं है; विकारका नाश करनेवाला आत्मा निर्दोष स्वभावकी ओर उन्मुख रहे वही मोक्षकी नसैनी—मोक्षका मार्ग है।

अपनी ज्ञान सत्तामें पदार्थ दिखाई देते हैं। ज्ञानमूर्तिमें यह सब जो विकार दिखाई देता है वह मैं नहीं हूँ, मैं तो विकार रहित एक हूँ। अवस्थादृष्टिसे जो क्षणिक भंग-भेदजनित भाव होते हैं वह मैं हूँ-ऐसी कल्पना अज्ञान भावसे होती थी, किन्तु वह मैं नहीं हूँ; मैं तो नित्य एकरूप ही हूँ।

दही और शक्करको मिलानेसे शीखण्ड बनता है उसमें दही और शक्कर एकमेक मालूम होते हैं, तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वादके भेदसे पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं; उसीप्रकार द्रव्योंके लक्षण भेदसे जड़-चेतनका पृथक्-पृथक् स्वाद ज्ञात होता है कि मोहकर्मके उदयका स्वाद रागादिक है वह चैतन्यके निजस्वभावके स्वादसे पृथक् ही है।

ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वाद तो निराकुल, अद्भुत रसस्वरूप है, राग-द्वेषका स्वाद विकारी है, परका स्वाद मुझमें आ नहीं जाता। अज्ञानी समझता है कि परका स्वाद मुझमें आ जाता है। जैसे—बादामोंका स्पर्श जीभके साथ होनेसे अज्ञानी मान लेता है कि बादामोंका स्वाद मुझमें आ गया है। लेकिन भाई! विचार तो कर कि परका स्वाद तुझमें कैसे आ सकता है?

स्वादको लेनेवाला कहोगे क्या? क्योंकि स्वाद लेनेवाला तो मिष्टान्नरूप ही हो गया है, इसलिये ऐसा नहीं होता। वह स्वादरूप नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञाता ही रहता है। ज्ञाता रहता है इसलिए क्रमशः पूड़ी-साग, दाल-भात आदि वस्तुओंके स्वादका ज्ञाता रहता है।

मैं तीन लोकका ज्ञाता मिष्टान्नरूप नहीं हो जाता, और न उस मिष्टान्नका स्वाद मुझे ज्ञातारूप होता है। उसीप्रकार मोहकर्मके उदयका स्वाद—राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि होता है वह मुझमें नहीं आ जाता; मैं तो उसका ज्ञाता हूँ। जिस समय जो ज्ञेय आता है उसे मैं जानता हूँ, किन्तु उसीरूप हो जानेवाला नहीं हूँ।

साठ वर्षकी उम्रमें लड़का पैदा हुआ इससे अत्यंत हर्ष हुआ; फिर तीसरे ही दिन वह मर गया इससे महान शोक हुआ। हर्ष–शोक तो कर्मजन्य विकारी स्वाद हैं। जिसप्रकार मिष्टान्नका स्वाद जड़का है उसी प्रकार हर्ष-शोकका स्वाद विकारी है, कर्मजन्य है, वह आत्माका स्वाद नहीं है।

यहाँ आचार्य देव कहते हैं कि भाई! यदि राग-द्वेष और हर्ष-शोक आत्माकी खानमेंसे होते हों तो आत्मा कभी भी उनका नाश नहीं कर सकता; इसलिये वे कर्मकी खानमेंसे होते हैं—ऐसा कह दिया है। चैतन्य अकेला समाधानस्वरूप है, मेरे चैतन्यकी खानमेंसे चैतन्यका ज्ञान, शांति और समाधानस्वरूप प्रगट होता है। कर्मके पाकके समय आत्मामें कलुषितताका भास हो उसे ज्ञानी समझते हैं कि यह सब कर्मजन्य भाव है; इस विकारी स्वादमें मैं कहाँ रुका हूँ? यह मेरा स्वाद नहीं है। चैतन्यके नित्य स्वभावमें अटकना वह मेरा स्वाद है। देखो, स्वाद भेद कहा है परन्तु क्षेत्रभेद नहीं कहा। आकुलता और निराकुलताको स्वाद भेदसे भिन्न कर दिया। भावकभाव अर्थात् कर्मके निमित्तसे होनेवाला भाव—उससे मेरा स्वरूप पृथक् है; इस प्रकार दोनोंका भेद कर देनेका नाम मोक्षका पंथ मोक्षकी नसैनी है; वही आत्मधर्म है।

है। स्त्री, कुटुम्ब या आत्माके विकारी भावमें सुख नहीं है किन्तु कल्पनासे मान लिया है। विकारी-मलिन भाव आत्माका नहीं है। वह संसारकी अवस्थामें होता है, वह दूर किया जा सकता है इसलिये अपना स्वभाव नहीं है। जिसे शान्ति और सुखका मार्ग चाहिये है —उसे यह मानना ही पड़ेगा।

पानीमें अग्निके निमित्तसे उत्पन्न हुई उष्णताको दूर किया जा सकता है इसलिये वह उष्णता अग्निकी है, किन्तु पानीकी नहीं है। इसी प्रकार धर्मात्मा समझता है कि जो शुभ-अशुभ विकारी भाव [illegible] आत्मामें होते हैं, जड़में नहीं; किन्तु मैं उनसे पृथक् हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अविकारी स्वरूप हूँ। स्वभावके भानमें वह [illegible] सकता है इसलिये मेरा स्वभाव नहीं है। मैं उसका [illegible] मान तो वह मान दूर हो सकता है, इसलिये मेरा [illegible] सकता है। मेरा स्वभाव, मेरा गुण, मेरी शान्ति [illegible] जो राग-द्वेष होते हैं वह मेरा स्वभाव [illegible]

है। ज्ञान दुःखको दूर करता है इसलिये ज्ञान ही समाधानस्वरूप है। विभावकी ओर उन्मुख हुआ ज्ञान भी दूसरेका आश्रय लेकर थोड़ा दुःख दूर करता है। तब फिर ज्ञानभावसे समस्त पुण्य-पापकी वृत्तिको दूर करके ज्ञान समाधानस्वरूप रहे ऐसा चैतन्यका सामर्थ्य है।

आत्मामें जब हर्ष-शोककी वृत्तियाँ उठें उस समय भी ज्ञान समाधान करता है कि मैं तो उनसे भिन्न हूँ; यह जो वृत्तियाँ हैं सो मैं नहीं हूँ; जितनी चैतन्यशक्ति है उतना मैं हूँ–ऐसा समाधान करके स्वरूपकी ओर उन्मुख हो जाता है—ऐसा चैतन्यका स्वभाव है। धर्मी जीव विचार करता है कि—ऐसा चैतन्यका स्वभाव है। धर्मी जीव विचार करता है कि—भीतर यह जो केवल ज्ञानव्यापार दिखाई देता है उसमें यह क्या? बाह्यमें अनुकूलता-प्रतिकूलताके निमित्तोंके कारण हर्ष-शोकके प्रसंगोंका स्मरण होनेसे उसमें अटक जाता हूँ और अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाता, यह क्या? मैं समाधानरूप हूँ, चाहे जैसे हर्ष-शोकके प्रसंगोंमें समाधानस्वरूप रहना वह मेरा स्वभाव है। अपने स्वरूपकी ओर उन्मुख होनेका मेरा स्वभाव है। मैं परसे उदासीन-स्वरूप हूँ—ऐसा विचार करके धर्मी अपने स्वरूपमें स्थिर होता है। परके ओरकी वृत्ति होती है उसकी उत्पत्ति मेरे घरसे नहीं है किन्तु पर घरसे है, ऐसा विचार करके अपने शांत-उदासीन स्वरूपमें रहनेका नाम आत्माका अनुभव और उसीका नाम धर्म है।

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भर भावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घन महोनिधिरस्मि ॥ ३०॥

अर्थः—इस लोकमें मैं स्वतः ही अपने एक आत्मस्वरूपका ही अनुभव करता हूँ कि जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणमनसे पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिये यह मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं है—मैं तो शुद्ध चैतन्यके समूहरूप तेजपुंजका निधि हूँ।

करनेमें आधारभूत नहीं हैं—ऐसा इन्द्रियोंसे भी भेदज्ञानी समझता है ॥३६॥

अब ज्ञेय भावके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं:—

णत्थि मम धम्म आदि बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३७ ॥

अर्थ:—ऐसा जाने कि-'इन धर्म आदि द्रव्योंसे मेरा कोई संबंध नहीं है; एक उपयोग है वही मैं हूँ'—ऐसा जो जानना है उसे सिद्धांतके अथवा स्व-परके स्वरूप समयके ज्ञाता धर्मद्रव्यके प्रति निर्ममत्व कहते हैं।

३६ वीं गाथामें आत्माको परसे निराला अर्थात् मोहकर्मके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे पृथक् बतलाया। ३७ वीं गाथामें उससे भी आगे बढ़ते हैं। भेदज्ञान होनेके पश्चात् जो ज्ञेयके विचार आते हैं उनसे भी पृथक् बतलाते हैं और अन्तर एकाग्रतामें बढ़ाते हैं। धर्मात्माको भेदज्ञान होनेके पश्चात् धर्मास्तिकाय आदिके विचार आते हैं, किन्तु वह ऐसा समझता है कि—इन धर्मास्ति आदि छह पदार्थोंका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; लेन-देन नहीं है। एक उपयोग ही मैं हूँ;—उसे सिद्धान्तका ज्ञाता, त्रिकाल स्वरूपका ज्ञाता, अथवा स्व-पर पदार्थका ज्ञाता निर्ममत्व कहते हैं।

आत्माका ज्ञान कैसा है? अपने निजरससे जो प्रगट हुआ है, निवारण न किया जा सके ऐसा जिसका विस्तार है। आत्माका ज्ञान इतना विकासरूप है कि उसमें चाहे जितने पदार्थ ज्ञात किए जाएँ तथापि ज्ञानका विकास न थके। देखो भाई! तुम्हें यह ज्ञात होता है उसमें तुम्हारा ज्ञान थकता है? नहीं थकता; क्योंकि जिसका जाननेका स्वभाव है वह क्या नहीं जानेगा? सब कुछ जान लेगा। जिसप्रकार थोड़ा जाननेमें ज्ञान नहीं थकता उसीप्रकार सर्व पदार्थोंको जाननेमें भी ज्ञान नहीं थकता; किन्तु ऐसे विशाल ज्ञानका विश्वास नहीं बैठता। जीवोंको ऐसी शंका हो जाती है कि इतनेसे शरीरमें इतना बड़ा ज्ञान हो सकता

हुआ। इसलिये जो मान्यता थी वह मिथ्या हुई। जो तत्त्व अपनेसे भिन्न है वह अपनेको अनुकूलताका कारण नहीं हो सकता। वे सब बाह्य तत्त्व हैं। आत्मा अपने रूपसे है और बाह्य तत्त्व रूपसे नहीं है अर्थात् आत्माकी अपने रूपसे अस्ति और बाह्य तत्त्वरूपसे नास्ति है। बाह्यतत्त्व बाह्यतत्त्वरूपसे है—आत्मारूपसे नहीं है। जो तत्त्व (पदार्थ) आत्मासे भिन्न हैं वे आत्माको अनुकूलता-प्रतिकूलता या लाभ-हानि करनेमें समर्थ हो ही नहीं सकते।

मैं स्वयमेव उपयुक्त (उपयुक्त अर्थात् जानने-देखनेके व्यापारवाला) हूँ; उसमें रहना ही मेरी वीतरागता प्रगट करने की रीति-पंथ है। मैं एक स्वयमेव नित्य उपयुक्त हूँ; स्वयमेव अर्थात् अपने आप, नित्य अर्थात् त्रिकाल और उपयुक्त अर्थात् ज्ञान-दर्शनके व्यापारवाला हूँ। अपने आप त्रिकाल उपयुक्त हूँ: यही मेरा स्वभाव, धर्म और व्यापार है, सम्यक्दृष्टिका यह व्यापार है। संकल्प–विकल्पका व्यापार तो परका है, जड़का है। सम्यक्दृष्टि विचार करता है कि मेरा व्यापार तो ज्ञान ही है; मेरा स्वभाव शुद्ध निर्मल है, उसीमें धर्म है। लोगोंको अंतरंग तत्त्वका कोई विचार नहीं है और कहते हैं कि बाह्य तत्त्वका तो कुछ कहते ही नहीं; किंतु जिसमें धर्म नहीं है उसमें ज्ञानी कभी धर्म बतलाते ही नहीं हैं। तूने अपनी विपरीत मान्यतासे बाह्यमें धर्म मान लिया है, उस मान्यताको छोड़ दे।

मैं एक हूँ; संकल्प-विकल्पके जो अनेक प्रकार हैं वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं उससे बिल्कुल भिन्न हूँ; संकल्प-विकल्पकी किसी भी प्रकारकी उपाधि मुझमें नहीं है, उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है; परमार्थत. मैं एक, अनाकुल, परसे भिन्न चिन्मात्र मूर्ति हूँ।

मैं आत्मा अनाकुलतास्वरूप हूँ, बाह्यकी दौड़-धूप और बाह्य तत्त्वका रक्षकपना, तथा मैं परको रखता हूँ और पर मुझे रखता है-ऐसे जो भाव होते हैं वह सब आकुलता–व्याकुलता है; ज्ञानी समझते है कि यह आकुलता-व्याकुलता मेरा स्वरूप नहीं है। पर पदार्थ हैं सो मैं नहीं हूँ; तब फिर उनके निमित्तसे होनेवाले जो आकुलित भाव हैं वह मैं कहांसे होऊँ? मैं तो अनाकुल स्वरूप हूँ—ऐसा भान हुआ तब आकुलताका

आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करनेकी तैयारी करे तब उस जातिके शरीर संहननकी उपस्थिति होती है। किन्तु उसके द्वारा धर्म नहीं होता। धर्म तो अकेले अपने द्वारा ही होता है धर्म होनेमें उसकी सहायता भी नहीं है।

अनन्तबार मनुष्य भव प्राप्त किया, एक एक क्षणमें अरबों रुपयोंकी आमदनीवाला राजकुमार भी अनन्तबार हुआ, जहाँ तीर्थंकर और केवली विचरण करते हों ऐसा सुक्षेत्र भी अनंतबार प्राप्त किया, और उत्तम चतुर्थकाल भी अनन्तबार प्राप्त किया, साक्षात् तीर्थंकर भगवानके समव-शरणमें भी अनंतबार हो आया, साक्षात् देव-गुरु-शास्त्रका योग भी अनंतबार मिला, किन्तु अपनी तैयारी बिना आत्माकी पहिचान नहीं हुई, सत्य समझमें नहीं आया इसलिये धर्म नहीं हुआ।

सदैव अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे ऐसेका ऐसा स्थित रहता है—ऐसा कहकर बिलकुल ध्रुवत्व बतलाया है। इसमें आचार्यदेवने अत्यंत गम्भीर रहस्य बतलाया है। बिलकुल अपना एक प्रकार लक्षमें लेना उसमें दो प्रकार कैसे? परका संबंधवाली अवस्था-बंध और परके संबंधके अभाव-रूप अवस्था—मोक्ष पर लक्ष न किया जाय तो सदैव एकत्वमें ही प्राप्त है और ऐसेका ऐसा स्थित है। अवस्था अर्थात् एक समयकी दशा—स्थितिको लक्षमेंसे छोड़कर एकत्वसे देखें तो ऐसेका ऐसा ही प्राप्त है, एकत्व छूटकर बंध-मोक्ष ऐसा द्वित्व त्रिकालमें हुआ ही नहीं है। इसमें अत्यन्त गूढ़ बात है। आत्मा तो नित्य ज्ञान आनंदका रसकंद है,—इस दृष्टिसे देखें तो जो अवस्थामें पर निमित्तकी अपेक्षा है, उसे लक्षमें न लिया जाय तो वस्तु तो जो है सो है। राग-द्वेष रूप संसार और उसके अभावरूप मोक्ष—वह सब अवस्थामें है, उस अवस्थामें निमित्तकी अपेक्षा आती है; किंतु अकेले द्रव्यस्वभावसे देखा जाये तो छहों पदार्थ नित्य ऐसेके ऐसे स्थित हैं।

किसी एक वस्तुको छोटा-बड़ा कहने परकी अपेक्षा आती है; किंतु परकी अपेक्षा ही न हो तो किसकी अपेक्षासे उस वस्तुको छोटा-बड़ा कहा

जायेगा ? किंतु जब वस्तुको अकेला कहना तो तब परकी अपेक्षा लक्षमेंसे
निकाल देना चाहिए। इसप्रकार आत्मतत्त्वके साथ एक कर्म है;
उसकी अपेक्षा लक्षमें न ली जाये तो वस्तु जैसी है वैसीकी वैसी निरपेक्ष
है। स्वर्णकी कलाको लक्षमें न लिया जाये तो स्वर्ण जैसा है वैसा ही है;
इसीप्रकार चैतन्य अनंत ज्ञानादि गुणोंका रसकंद है, उसकी अवस्थामें
निमित्तकी अपेक्षासे देखा जाये तो राग-द्वेषरूप संसार है, और राग-
द्वेष-मोहका अभाव करो तो सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान, सम्यक्‌चारित्ररूप
मोक्षमार्ग और मोक्षकी कलारूप अवस्था होती है; किंतु उस निमित्तकी
सद्भाव-अभावरूप अपेक्षा लक्षमें न ली जाये तो आत्मद्रव्य, द्रव्य-गुण-
पर्यायसे जैसा है वैसा ही है।

परमाणु द्रव्यमें भी कर्मकी और अन्य वैभाविक अनेक प्रकारकी
अवस्थाएं होती हैं; उन्हें लक्षमें न लिया जाये तो परमाणु द्रव्य भी
पृथक्–पृथक् निरपेक्ष तत्त्व है।

कर्म मेरी राग-द्वेषकी अवस्था होनेमें निमित्त है और मेरी राग-
द्वेषकी अवस्था परमाणुकी कर्मरूप अवस्था होनेमें निमित्त है;–ऐसी
परस्पर अपेक्षाको निकाल दिया जाये तो दोनों पदार्थ जैसे हैं वैसे ही
निरपेक्ष स्थित हैं।

सर्व पदार्थ अपने-अपनेमें एकरूप ही स्थित हैं। आत्मा स्वयं एक
वस्तु है। वह किसीसे दबा होगा या स्वतंत्र ? दबा हुआ तो मान लिया
है; किन्तु वस्तुतः तो वह स्वतंत्र ही है। ऐसे सच्चे तत्त्वको श्रद्धामें
परकी अपेक्षा भी छूट जाती है। बिलकुल स्वतंत्र पदार्थको एकत्वकी
अपेक्षासे देखा जाये, अवस्थाकी अपेक्षा लक्षमेंसे छोड़ दी जाये तो, समस्त
पदार्थ निरपेक्ष–जैसे हैं वैसे हैं।–ऐसी श्रद्धा की उसमें एकाग्र रहनेका
नाम धर्म है। यहां तो परके संबंध रहित बात लेना है। मुझे और
परको तीनकाल तीनलोकमें संबंध है ही नहीं, था भी नहीं; तब फिर
बंधन और मुक्ति किसे कहे जायें ? अवस्था है अवश्य, यदि वह न हो
तो यह संसार और मोक्ष किसके ? वे अवस्थादृष्टिसे हैं अवश्य, किन्तु

उस दृष्टिको यहाँ गौण करके द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे कहा है। यह बात अत्यन्त सूक्ष्म है। सूक्ष्म मोतियोंको पकड़नेके लिये बड़ी-बड़ी सँडासी काममें नहीं आतीं, किंतु उन्हें पकड़नेके लिये तो छोटी सी चिमटी होना चाहिए। उसीप्रकार यह सूक्ष्म बात पकड़नेके लिये स्थूल दृष्टि काममें नहीं आयेगी—किंतु सूक्ष्म दृष्टि होना चाहिए।

मोह अर्थात् मूर्च्छा बुद्धि। जिसप्रकार मूर्च्छित प्राणी सच्चे-झूठेका विवेक नहीं कर सकता, उसीप्रकार जिसकी बुद्धि मूर्च्छित है वह आत्माका और परका विवेक नहीं कर सकता, और पुण्य-पाप किये उतना ही मैं हूँ ऐसा मानता है; वह मूर्च्छित मोही अज्ञानी है, उसे वस्तु क्या है उसकी कुछ भी खबर नहीं है। भले त्यागी हो या गृहस्थ हो, किन्तु पुण्यादिके परिणाम और शरीरादिकी क्रिया मेरी अपनी है और मैं उसका कर्ता हूँ-ऐसा मान रहा है, और चिदानंदा मूर्ति हूँ उसका कुछ भान न होनेसे वे सब मूर्च्छित मोही प्राणी हैं। इतने विशेषण तो यहाँ अज्ञानीको दिये हैं। देखो, इस समयसारमें कितनी गाथाओंसे अप्रतिबुद्धको समझाते आ रहे हैं। कोई कहे कि यह सातवें गुणस्थानकी बात है किन्तु ऐसा नहीं है, यहाँ तो अप्रतिबुद्धपना छुड़ाकर आगे ले जाते हैं।

अत्यन्त अप्रतिबुद्धको विरक्त गुरुसे निरंतर समझाये जानेसे किसी भी प्रकार समझ जाता है। विरक्त गुरु अर्थात् अंतरमें विपरीत मान्यता और अमुक अंशमें राग-द्वेषसे भी निवृत्त हैं। आत्माके स्वभावके भानको प्राप्त, मुक्तिके सन्मुख हुए, संसारसे निवृत्त हुए-ऐसे गुरु द्वारा समझाये जाने पर-ऐसा कहा है। अज्ञानी गुरुको नहीं लिया है, क्योंकि अज्ञानी गुरु द्वारा समझाया जाये तो समझा नहीं जा सकता इसलिये ज्ञानी विरक्त गुरुको लिया है। जो स्वभावको प्राप्त हुए हों उन्हींके द्वारा [illegible] प्राप्त किया जा सकता है।

'[illegible] समझाये जाने पर'-ऐसा कहा है, किन्तु 'कुछ काल [illegible] जाने पर'-ऐसा नहीं कहा है। इन पंचमकालके प्राणीओंको

निरन्तर समझाया जाये तब वे समझते हैं; शिष्यको चारों पक्षोंसे चारों ओरके योगसे समझाया जाता है।

समय अर्थात् पदार्थ समस्त एकत्वसे स्थित है। इसप्रकार ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य वस्तुसे मेरा और परका सम्यक्ज्ञान द्वारा भेद हुआ, भान हुआ वही धर्म है। परका और अपना कहीं भी किसी भी जगह मेल नहीं। आत्माको किसी शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेषके साथ किसी भी जगह किंचित् मेल नहीं है; किन्तु अज्ञानी बिना जाने-समझे व्यर्थका झगड़ा करके परको अपना-अपना करके, परको विपरीत श्रद्धासे पकड़ रखता है। किन्तु जहाँ स्वतंत्रताका भान हुआ कि अरे! मेरा और परका कोई सम्बन्ध नहीं है, मैंने व्यर्थकी मिथ्या पकड़ की थी—वही धर्म है और परतंत्रतामें रुका सो अधर्म है।

आचार्यदेवने स्वतन्त्रताकी घोषणा की है। तू प्रभु है! स्वतंत्र है! तुझे अपने माहात्म्यकी खबर नहीं है इससे तूने परको माहात्म्य दिया है, किन्तु वह परका माहात्म्य छोड़ दे और भगवान आत्माका माहात्म्य कर! द्रव्यदृष्टिसे सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं, उस दृष्टिसे पराश्रय दूर होता है और स्वाश्रय होता है—वही धर्म है। द्रव्यदृष्टिसे प्रत्येक रजकण पृथक् है, प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र पृथक् है। इसप्रकार ज्ञेयभावोंसे और भावकभावसे भेदज्ञान हुआ, पृथक्त्वका भान हुआ, उसमें शंका है ही नहीं। जो शंका करता है वह अपना घात करता है; शंका ही संसार है।

अब कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे भावकभाव और ज्ञेयभावोंसे भेद-ज्ञान होने पर जब सर्व अन्य भावोंसे भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्माको ही धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे जिसने परिणति की है ऐसा, अपने आत्मारूपी उद्यान (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है—अन्यत्र नहीं जाता।

इस कलशमें ३६ वीं और ३७ वीं गाथाका स्पष्टीकरण करते हैं। भावकभाव और ज्ञेयभावसे भिन्नत्वका भान होने पर वे सब अपनेसे पृथक्-रूप प्रतिभासित होते हैं। भावकभावका भेद अर्थात् कर्मके निमित्तसे होने-वाला विकार मेरा नहीं है—ऐसा जाना और ज्ञेयभावका भेद अर्थात् सर्व परद्रव्यसे भिन्नत्वका भान हुआ—इसप्रकार दोनोंसे भिन्नत्वका भान हुआ तब उपयोग, अतिशय सुन्दर स्वरूपको ही धारण करता हुआ—स्वयं अपने एक स्वरूपको ही धारण करता हुआ, परमार्थ स्वभाव था सो प्रगट हुआ।—ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे जिसने परिणति की है अर्थात् स्वरूपकी प्रतीति—स्वरूपका ज्ञान और स्वरूपकी स्थिरतामें जिसने रमणता की है, अपने आत्मारूपी उद्यानमें प्रवृत्ति की है वह अन्यत्र नहीं जाता।

परसे भिन्न और परके विकारसे भिन्न—ऐसे आत्मामें स्थित हुआ, ऐसे अपने स्वभावकी परिणति अर्थात् अवस्था की है—ऐसा आत्मा, आत्मारूपी विश्रामबागमें क्रीड़ा करता हुआ आत्मामें विचरने लगा—कहीं बाहर नहीं जाता।

मनुष्य फिरने जाते हैं तब मोटरों और हवाई जहाजोंमें बैठते हैं, चार-चार मील तक फिरते हैं, और मानते हैं कि फिरनेसे शरीरमें स्फूर्ति आती है और बादमें काम अच्छी तरह होता है।—इसप्रकार संकल्प-विकल्पके बागमें सर्वत्र फिरता हुआ अपनेको पराश्रित और अपूर्ण मानता है उसे परसे निराला तत्त्व कहांसे जमे? दृष्टाको न जानता हो तो उसमें केलि कैसे करे? स्वयं अपनी ओर ढलता जाये, रुचि करे, जाने और श्रद्धा करे तो उसमें क्रीड़ा किये बिना नहीं रहेगा। सच्चा उद्यान तो आत्माका है और उसमें क्रीड़ा करने की यहाँ बात है।

जीव बाह्यके बाग-बगीचोंमें आनन्द मान रहे हैं। घरमें बाग हो, बागमें ठंडे पानीका छिड़काव हो, गुलाबके फूलोंकी सुगन्ध फैल रही हो, पानीके फव्वारे छूट रहे हों और भाईसाहब उसमें मित्रों सम्बन्धियोंके साथ क्रीड़ा करके आनंद मान रहे हों; किन्तु वह क्रीड़ा और बाग सब होली है।

आत्मा परसे निराले स्वभावका भान करे तो आत्मारूपी उद्यानका आनंद छोड़कर परमें कहीं नहीं जाता। स्वभावकी शांतिके अतिरिक्त बाह्यमें कहीं भी नहीं देखता ? स्वोन्मुख रहकर आत्माकी शांतिमें क्रीड़ा करना ही धर्म है।

आत्मा जड़से पृथक् है.—ऐसा जाने, तो राग-द्वेषादिको दूर कर सकता है, किन्तु यदि आत्माके स्वभावको न जाने तो अवगुणोंको कैसे दूर किया जा सकता है ?

सर्व परद्रव्योंसे, शरीरादिसे तथा कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंसे जब आत्माका भेद जाना तब उपयोगको क्रीड़ा करनेके लिये अन्य कोई स्थल नहीं रहा, किन्तु अपनेमें क्रीड़ा करने लगा। अन्य शरीरादि पदार्थोंका मैं कर सकता हूँ—ऐसी भ्रांति दूर हुई इसलिये उपयोग ज्ञानमें एकाग्रता करके स्वकी ओर क्रीड़ा करने लगा; दर्शन-ज्ञान-चारित्रके साथ एकमेक हुआ अपनेमें ही रमणता करता है। दर्शन अर्थात् मैं परिपूर्ण हूँ-ऐसी श्रद्धा, ज्ञान अर्थात् परसे निराला अपना ज्ञान और चारित्र अर्थात् राग-द्वेष रहित अपनेमें स्थिरता—यह तीनों एक होकर अपने स्वरूपमें परिणमन करते हैं ॥ ३७ ॥

अब, इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गी आत्माको संचेतन अर्थात् आत्माका अनुभव कैसा होता है वह कहते हैं।

अप्रतिबुद्ध अज्ञानीने अभी तक गाथाके निमित्त द्वारा अर्थात् शास्त्रके निमित्त द्वारा, अपने उपादानसे, एक रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा

जाना। अब, एक रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा जाना वह ३८ वीं गाथामें कहते हैं।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८॥

अर्थ.—दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ आत्मा ऐसा जानता है कि निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ; कोई भी अन्य पर द्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है यह निश्चय है।

अब ३८ वीं गाथामें योगफल आता है। धर्मी जीव अपने आत्माको परसे भिन्न जान लेनेके पश्चात् आत्मामें किस प्रकार एकाग्रता करता है वह कहते हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें परिणमित आत्मामें अभी मोक्ष प्राप्त नहीं किया है, किन्तु मोक्षमार्गमें प्रवृत्त है वह क्या जानता है सो कहते हैं।

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ,—ऐसे समस्त विकल्प चौथेसे छठवें गुणस्थान तक आते हैं; सातवें गुणस्थानमें तथा श्रेणी चढ़नेके पश्चात् ऐसे विकल्प नही होते, इससे जो श्रेणी चढ़ गया है उसकी यहाँ बात है; किन्तु यहाँ तो चतुर्थ गुणस्थानवालेकी बात है। धर्मात्मा ज्ञानी अपने आत्माकी भावना करता है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, सदा अरूपी हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है ये निश्चय है।

जो अनादि मोहरूप अज्ञानसे उन्मत्तपनेके कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अज्ञानी अनादिसे मोहरूप अज्ञानसे मैं शांत निर्मल स्वभावरूप हूँ—यह भूलकर, रागादिकका कर्ता होता है और उन्मत्त होकर पागलपनके कारण, शरीरादि, स्त्री, कुटुम्बको अपना मानता हुआ मूढ हो रहा था। संसारके चतुर संसारमें उन्मत्त हुए को चतुर कहते हैं; किन्तु दुनिया तो पागल है; पागल पागलको चतुर कहता है, उसकी प्रशंसा करता है, किन्तु ज्ञानी उसे अच्छा नही कहते।

निरंतर समझाया जाता है—ऐसा आचार्यदेवने कहा है, किन्तु शिष्य
सारे दिन गुरुके पास बैठा-बैठा सुनता रहे—ऐसा तो नहीं होता; और
गुरु सारे दिन सुनाते रहें—ऐसा भी नहीं होता, क्योंकि मुनि कहीं सारे
दिन उपदेश नहीं देते, वे तो अपने ज्ञान-ध्यानमें लीन होते हैं; निरंतर
नहीं समझाते हैं, और समझानेवाले गुरुका उपयोग भी सदैव इसे
समझाता रहूँ ऐसा नहीं रहता है। समझानेवाले ज्ञानी गुरुको तो ऐसे
भाव होते हैं कि दूसरेको समझाना होगा और उसकी पात्रता होगी तो
समझमें आयेगा। पर पदार्थको समझाना मेरे हाथकी बात नहीं है।

गुरुका उपयोग तो निरंतर ज्ञान-ध्यानमें होता है—दूसरेको समझाने
की ओर निरंतर नहीं होता; तथापि ऐसे गुरुने (—श्री अमृतचंद्राचार्यने)
स्वयं ही निरंतर समझाना कहा है; स्वयं पंचमहाव्रतधारी मुनि हैं।
उन्होंने स्वयं ही निरंतर समझाना कहा है उसका अर्थ दूसरा है।

समझनेवालेको समझनेकी निरन्तर आतुरता है, निरन्तर समझनेका
कामी रहता हुआ वर्तता है, समझनेवालेकी आतुरता निरंतर समझनेकी
है इसलिये उसने गुरुको दूर नहीं रखा है निरंतर गुरुके पास बैठा नहीं
जा सकता किंतु हृदयसे गुरुको दूर नहीं रखा है। समझनेवाला खाता
है, पीता है, व्यापार करता है, किन्तु निरंतर आकांक्षा बनी रहती है कि
कब अवकाश मिले और कब गुरुके पास जाऊँ और गुरु मुझे समझायें
इसलिये अन्य कार्य करने पर भी निरन्तर समझनेमें शिष्यका स
जाता है—ऐसा कहा जाता है। व्यापारके, खाने-पीने आदिके अन्य
अल्प भाव आते हैं उन्हें गौण कर दिया है।

समझनेके कामीको विचार आता है कि यदि इस भवमें स
नहीं आयेगा तो कहाँ आश्रय मिलेगा? इस भवमें जन्म-मरणके
टले तो फिर कहाँ टालूँगा? जन्म-मरणको दूर करनेवाला सम्य
हुआ तो ऐसा तारनेवाला अन्यत्र कहाँ मिलेगा? ऐसी भावना।
समस्त गृहकार्य करने पर भी, निरन्तर श्रवणकी और समझनेकी जिज्ञासा
रहती है, इससे निरन्तर सुनता है ऐसा कहा है। किन्तु शास्त्रमें निमित्तकी

भाषा की है, पञ्चकार बात की है कि गुरु निरन्तर समझाते हैं। बात निमित्तसे की है, किन्तु यथार्थ बात तो उपादानसे है। गुरुने निमित्तकी ओरसे बात की है किन्तु यथार्थ बात तो शिष्यके उपादानकी ओर की है। इसमें अलौकिक मंत्र भरे हैं। समयसारके रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने और टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने अलौकिक मंत्र भरे हैं! एक अद्भुत रचना हो गई है।

समझनेवालेको निरंतर समझनेकी आतुरता और जिज्ञासा रहती है। किन्तु ज्ञानी गुरुका अर्थात् समझानेवालेका उपयोग नित्य ऐसा नहीं रहता कि इसे समझाऊँ, किन्तु शिष्यकी इतनी पात्रता है कि चाहे जितनी बार सुनायें तथापि प्रीतिपूर्वक उत्साहसे सुनता है—प्रमाद नहीं आता। यहाँ समझनेके भावकी मुख्यता है। संसारके अन्य कार्य करने पर भी समझनेकी जिज्ञासा रहती है, इसलिये अन्य राग-द्वेषके भावको गौण करके कहा कि निरंतर सुनता है। जब स्वयं समझता है तब गुरुका निमित्त होता है-ऐसा भी इसमें आ जाता है।

जिसे निरन्तर सत्को समझनेकी जिज्ञासा रहा करती है कि 'मुझे समझना है, समझना है'—ऐसे पात्र जीवको समझानेसे वह महाभाग्यसे समझा है। शिष्य पुरुषार्थसे समझा है, उस पुरुषार्थको यहाँ महा भाग्य कहा है।

शिष्य पहले अप्रतिबुद्ध था तब गुरुसे कहता था कि—शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है—ऐसा हम नही समझते हैं; किंतु धर्मात्मा गुरुके समझानेसे किसीप्रकार समझमें आया। किसी प्रकार यानी कोई तुरंत समझ जाता है और कोई अधिक विचार और मंथन करनेसे समझता है। अब शिष्य समझकर सावधान हुआ कि मैं कौन हूँ? यह किसके गीत गाये जा रहे हैं? अहो! मैं तो शुद्ध निर्मल ज्ञानज्योति हूँ, यह शरीरादि मेरे कुछ भी नहीं हैं। मोहका अभाव करके सावधान हुआ है। अहो! परके लिये जो दौड़-धूप कर रहा था उसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं

भाषा ली है, पलटकर बात ली है कि गुरु निरन्तर समझाते हैं। बात निमित्तसे ली है, किन्तु यथार्थ बात तो उपादानसे है। गुरुके निमित्तकी ओरसे बात ली है किन्तु यथार्थ बात तो शिष्यके उपादानके ओर की है। इसमें अलौकिक मंत्र भरे हैं। समयसारके रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने और टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्यदेवने अलौकिक मंत्र भरे हैं? एक अद्‌भुत रचना हो गई है।

समझनेवालेको निरंतर समझनेकी आतुरता और जिज्ञासा रहती है। किन्तु ज्ञानी गुरुका अर्थात् समझानेवालेका उपयोग नित्य ऐसा नहीं रहता कि इसे समझाऊँ, किन्तु शिष्यकी इतनी पात्रता है कि चाहे जितनी बार सुनायें तथापि प्रीतिपूर्वक उग्रतासे सुनता है—प्रमाद नहीं आता। यहाँ समझनेके भावकी मुख्यता है। संसारके अन्य कार्य करते पर भी समझनेकी जिज्ञासा रहती है, इसलिये अन्य राग-द्वेषके भावको गौण करके कहा कि निरंतर सुनता है। जब स्वयं समझता है तब गुरुका निमित्त होता है-ऐसा भी इसमें आ जाता है।

जिसे निरन्तर सत्‌को समझनेकी जिज्ञासा रहा करती है कि 'मुझे समझना है, समझना है'—ऐसे पात्र जीवको समझानेसे वह महाभाग्यसे समझा है। शिष्य पुरुषार्थसे समझा है, उस पुरुषार्थको यहाँ महा भाग्य कहा है।

शिष्य पहले अप्रतिबुद्ध था तब गुरुसे कहता था कि—शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है—ऐसा हम नहीं समझते हैं; किन्तु धर्मात्मा गुरुके समझानेसे किसीप्रकार समझमें आया। किसी प्रकार यानी कोई तुरन्त समझ जाता है और कोई अधिक विचार और मंथन करनेसे समझता है। अब शिष्य समझकर सावधान हुआ कि मैं कौन हूँ? यह किसके गीत गाये जा रहे हैं? अहो! मैं तो शुद्ध निर्मल ज्ञानज्योति हूँ, यह शरीरादि मेरा कुछ भी नहीं है। मोहका अभाव करके सावधान हुआ है। अहो! इतने दिन तो दौड़धूप कर रहा था उसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं

था-उलटा मेरा बिगड़ जाता था। सावधान हुआ कि—अरे रे! परोन्मुखतासे मेरा अहित होता था! मेरा स्वरूप क्या है? पर मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो मेरे आगे है;—ऐसा विचार करके सावधान होकर, स्वरूपमें एकाग्रता-लीनता करता है। मोह था तब सावधान नहीं था—मोहका अभाव होनेसे सावधान हुआ; इसलिये 'सावधान' शब्द लिया है।

जैसे कोई मुट्ठीमें रखे हुए स्वर्णको भूल जाये उसी प्रकार आत्माको भूल गया था। देखो, हाथमें सोनेको बतलाते हैं उसी प्रकार आत्माको हाथमें बतलाते हैं। जैसे—किसी मनुष्यकी मुट्ठीमें सोना हो, वह किसी दूसरे मनुष्यके साथ बातोंमें इतना लीन हो जाये कि मुट्ठीमें पकड़े हुए सोनेको भूल जाये—अरे! मेरा सोना कहाँ है? इसप्रकार ढूँढ़ने लग जाये; फिर चारों ओर देखे, कहीं भी दिखाई न दे इसलिये मेरे ही पास है—ऐसा स्मरण करके निश्चय करता है, पुनः याद करके स्वर्णको देखता है। स्वर्ण मेरे हाथमें है ऐसी खबर तो थी, किन्तु भूल गया था, वह स्मरण होनेसे पुनः देखता है। दृष्टांतमें पहले खबर थी और फिर स्मरण होता है; किन्तु उस दृष्टांतके सिद्धांतमें—अनादिका अज्ञानी था और फिर ज्ञान होता है—इतना अंतर है। सुवर्णके न्यायानुसार अपने परमेश्वरको भूल गया था।—अपने सर्व सामर्थ्यसे परिपूर्ण, अनंत ज्ञानशक्ति, अनंत वीर्यशक्ति, अनंत आनंदका कंद आदि अनंत गुणोंका पिण्ड—ऐसे अपने परमेश्वर (आत्मा)को भूल गया था। आत्माको रंक-भिखारी नहीं किन्तु पहलेसे ही सर्व सामर्थ्यसे परिपूर्ण कहा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा तेरे पास है किन्तु भूल गया है—जैसे स्वर्ण अपने हाथमें ही था किन्तु तू भूल गया था उसी प्रकार आत्मा शरीरमें होगा या शरीरसे बाहर! पुण्यसे लाभ होता होगा! पुण्यसे आत्मधर्म होता होगा!—ऐसा मानता था। अनादिसे आत्माको भूल गया था, किन्तु सर्व सामर्थ्यके धारक परमेश्वर आत्माका हाथमें

भान करके क्षणमें राग-द्वेष दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है। ऐसा आत्माका अलौकिक स्वभाव है। आत्माको परमेश्वर-तीन लोकका नाथ कहा जाता है वह तीन लोकको जाननेकी अपेक्षासे कहा जाता है; किन्तु जगतका संहार; उत्पत्ति या रक्षण करता है ऐसा कोई ईश्वर नहीं है। मेरा स्वभाव ऐसा है कि तीन काल तीन लोकके पदार्थ मुझे लुभाने या प्रतिकूलता करनेमें समर्थ नहीं हैं। अहो ! मैं ऐसे अपने भगवान आत्माको भूल गया था। जिस प्रकार अंधकार प्रकाशसे दूर होता है उसी प्रकार अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हुआ। जो अंतरतत्त्व है सो मैं हूँ—बाह्य तत्त्व मैं नहीं हूँ:—ऐसा ज्ञान, श्रद्धा और आचरण किया अर्थात् उसीमें तन्मयता की-लीनता की। देखो, इसमें अंतरकी क्रिया आयी, अंतरका चारित्र आया। जैसा जाना था वैसी ही मान्यता करके, उसीमें आचरण करके, जैसा था वैसा एक आत्माराम हुआ। तत्पश्चात् कहता है कि यह जो मैंने जाना 'यहीं मैं हूँ' 'ऐसा ही मैं हूँ', ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्य मात्र ज्योति हूँ—जो कि मेरे अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

आत्मा स्व-परप्रकाशक है। अग्निको खबर नहीं है कि मैं स्व-पर प्रकाशक हूँ, किन्तु इस जाननेवालेको खबर है कि मैं स्व-परप्रकाशक हूँ। आत्मा स्वयं अपनेको जानता है और दूसरोंको भी जानता है इसप्रकार मैं अपने अन्तरज्ञानसे जानता हूँ कि मैं स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञा[न] ज्योति हूँ।

चिन्मात्र आकारके कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरू[प] प्रवर्तमान व्यावहारिक भावोंसे भेदरूप नहीं होता इसलिये मैं एक हूँ।

मैं ज्ञान मात्र विशेष आकार हूँ। क्रमरूप अर्थात् नर-नारकादि पर्याय, मनुष्य और नारकी आदिके भव-सब एक साथ नहीं होते इसलिये वे क्रमरूप हैं और लेश्या, योग आदि व्यावहारिक भाव सब एक साथ वर्तते हैं इसलिये वे अक्रमरूप हैं। बालक, युवा और वृद्ध—यह तीन अवस्थाएँ क्रम पूर्वक वर्तती हैं और अंतरमें होनेवाले तीव्र-

मंद राग-द्वेष भी क्रमपूर्वक वर्तते हैं। क्रमरूप अर्थात् एकके पश्चात् एक अवस्था। जैसे कि-क्षणमें क्रोध हो, क्षणमें अभिमान हो, फिर लोभ हो आदि अवस्था क्रमपूर्वक होती है, और योग, कषाय, लेश्या, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि समस्त भेद आत्मामें एकसाथ अक्रमरूप वर्तते हैं—वे समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप भेद प्रवर्तमान होनेपर भी, और वे अनेक भेद, ज्ञानमें ज्ञात होने पर भी मैं उनसे खण्डरूप नहीं होता, इससे मेरे एकत्वका नाश नहीं होता, मैं तो अपनेमें एकरूप ही कार्य करता हूँ, मैं तो चिन्मात्र आकारके कारण एक हूँ।

पहले गुरुने समझाया कि 'तू ऐसा है तू ऐसा है।' अब, शिष्य कहता है कि—'मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ मैं शुद्ध हूँ।' नर-नारक आदि प्रकृतिके जो फल हैं उनरूप मैं नहीं हूँ; राग-द्वेष शुभाशुभ आदि विकार भी मैं नहीं हूँ। धर्मी हुआ इससे कहता है कि-जिसप्रकार कोई मुट्ठीमें रखे हुए सुवर्णको भूल जाये उसीप्रकार मैं अपने परमेश्वरको भूल गया था। वास्तवमें मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं वणिक नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ, किन्तु उन सबसे पृथक् ज्ञायक मात्र ज्योति हूँ।

मैं जीव हूँ;-ऐसा विकल्प आये वह मैं नहीं हूँ, जीवके विकल्पका भेद पड़ता है उससे मैं भिन्न हूँ। मैं शरीरादि जड़ पुद्गल आदि अजीव द्रव्योंसे भिन्न हूँ; दया, दानादिके जो शुभ परिणाम होते है उनसे भी मैं भिन्न हूँ; हिंसा, झूठ आदि पापके भाव होते हैं उनसे भी भिन्न हूँ; आस्रव अर्थात् जिस अवस्थाके निमित्तसे कर्मके रजकण आयें उनसे भी मैं भिन्न हूँ; संवर अर्थात् कर्मोंको रोकनेकी अवस्थाका विकल्प भी मैं नहीं हूँ और संवरकी पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ-मैं तो त्रिकाली अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ; निर्जरा अर्थात् आत्मामें जो कर्मोंको दूर करनेकी अवस्था होती है उस निर्जराका विकल्प भी मैं नहीं हूँ; और निर्जरा अर्थात् आत्माकी विशेष स्थिरतारूप अवस्था जितना भी मैं नहीं हूँ। मैं तो परिपूर्ण स्वभावसे नित्य परिपूर्ण हूँ। बन्धका विकल्प भी मैं नहीं हूँ, मेरा मोक्ष होगा—ऐसा जो विकल्प है वह भी राग है; उस रागसे मेरा स्वरूप भिन्न है, और तो

उत्तर:—महावीर भगवानने कैसे उपवास किये थे? तुम जिन्हें उपवास कहते हो ऐसे नहीं; किन्तु वहाँ तो आत्माके अनुभवमें—अतीन्द्रिय आनंदरसमें स्थिर होनेमें-लीन होनेमें सहज आहारकी इच्छा टूट गई थी, आहार लिया है या नहीं लिया—उसका भान भी नहीं था, उस ओरका विकल्प तक नहीं उठा, आत्माकी अमृत डकारमें साथ आहारको भूल गये हैं। सहज ही इच्छा टूट गई इसका नाम उपवास है। चौथे-पांचवें गुणस्थानमें श्रावकको और छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें मुनिको, सिद्ध भगवान जैसी अमृतकी डकारें आती हैं।

मैं शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ—ऐसे भानमें क्रमशः स्थिरता की वृद्धि होनेसे आनंदकी धारा बढ़नेसे सहज इच्छा टूट गई और सहज ही महावीर स्वामी आहारको भूल गये थे—इसका नाम सच्चा उपवास है। यदि शुभ-परिणाम हों तो पुण्यबंध करे और अभिमान आदिसे प्रसिद्धिमें आनेका हेतु हो तो पापबंध होता है। ज्ञानीको भी उपवासके शुभपरिणाम आयें उनसे पुण्यका ही बंध होता है, किन्तु जितनी स्वरूपकी लीनता हो

उसके द्वारा कर्मका नाश होता है। महावीर भगवानको भी जो स्वरूपकी लीनता हुई और सहज आहारकी इच्छा टूट गई-उस स्वरूपकी लीनता द्वारा ही कर्मोंका नाश हुआ है-शुभ परिणामसे कर्मोंका नाश नहीं हुआ; शुभपरिणामका कर्तृत्व भी भगवानको नहीं था। शास्त्रमें किस अपेक्षासे व्रत-प्रत्याख्यानका स्वरूप कहा है उसे समझे बिना बारंबार उपवास करे, तथापि आत्माको उसका कोई फल नहीं है। हाँ स्वर्गका फल मिलेगा किंतु भव कम नहीं होंगे। जैसे उपवास करके जीव अनंतबार नववें ग्रैवेयक तक हो आया किन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ।

धर्मात्मा ज्ञानी कहता है कि मैं तो प्रतापवंत हूँ, मेरा ही प्रताप चलता है। जिसप्रकार लौकिकमें राणा प्रताप हो गये हैं। उन राणा प्रतापमें ऐसा बल था कि—मैं हिन्दू हूँ; मुझे कोई जीत नहीं सकता। ऐसी लौकिक श्रद्धा द्वारा अपने घोड़ेका पैर सरदारके हाथीके दाँत पर रखा और ऊपर बैठे हुए महावतको भाले द्वारा मार गिराया। उसी-प्रकार आत्मा भावआर्यप्रताप है, उस प्रतापी आत्माका भान होने पर चार गतियोंको नष्ट करनेका पुरुषार्थ जागृत होता है। चारगतियोंका मूल मेरे हिलानेसे हिलता है; टालनेसे टलता है, मेरा ही हुकम चलता है-सब मेरे ही हाथकी बात है—ऐसा मैं प्रतापवंत हूँ।

प्रश्नः—जबतक यह समझमें न आये तबतक क्या करना ?

उत्तरः—यह समझमें न आये तबतक सत् समागम करना चाहिये; अन्य सब स्वच्छन्द, छोड़कर, मरणके अन्तिम श्वास तक भी शास्त्राभ्यास तत्त्वचितन और सत्समागम करना चाहिए। मुनियोंको भी उपदेश दिया है कि हे मुनि! मरणके अंतिम श्वास तक शास्त्रका, विचित्र प्रकारके अध्यात्मशास्त्रका, सम्यक्प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान-ध्यानमें लीन होने पर समाधि-मरणसे देह छूटे तो एक-दो भवमें मुक्ति होती है। यह बात निश्चित है-कभी बदल नहीं सकती।

उपरोक्त कथनानुसार मुझ प्रतापवंत वर्तनेवालेको, यद्यपि बाह्यमें अपनी अनेक प्रकारकी स्वरूप संपदा द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं; तथापि कोई भी परद्रव्य–परमाणुमात्र भी–अपनेरूप भासित नहीं होता।

धर्मात्मा विचार करता है कि मुझसे बाहर अनेकों परपदार्थ उनकी ऋद्धि द्वारा स्फुरायमान हैं। उनकी संपदा उनसे है, आत्मामें उनके स्वरूपकी कोई संपदा नहीं है। शरीरादि और शुभाशुभवृत्ति दिखाई देती है वह मेरी सम्पदा नहीं है–जड़की संपदा है। जड़में उसकी अपनी अनेक प्रकारकी शक्ति तथा ऋद्धि स्फुरायमान होती है —ऐसा जहाँ भान हुआ वहाँ कोई भी परद्रव्य अपने रूपसे मुझमें भासित नहीं होता। परद्रव्योंकी संपदा परद्रव्योंमें स्फुरायमान होती है और मेरी संपदा मुझमें स्फुरायमान होती है; इससे कोई परमाणु मात्र भी मुझे अपनेरूप भासित नहीं होता। दोनों वस्तुओंको स्वतन्त्र रखता हुआ स्वयं प्रतापवंत वर्तता है; इसलिये कहीं बाह्यसे परद्रव्योंका नाश नहीं हो गया है—परद्रव्य कहीं उड़ नहीं गये हैं; किन्तु मैं अपनेमें और वे (परद्रव्य) अपनेमें;—इसप्रकार अस्ति-नास्ति बतलाते हैं।

धर्मीकी पहिचान क्या है? कि एक रजकण भी मेरे आधीन नहीं है, मैं किसी रजकणके आधीन नहीं हूँ। मैं एक भी रजकणका कर्ता नहीं हूँ, और वह मेरा कर्म है; मेरे शुद्ध स्वभावका मैं कर्ता हूँ और मेरी शुद्ध अवस्था मेरा कर्म है—ऐसा भान वह सम्यक्‌दृष्टिकी पहिचान है।

अनंत रजकणोंमेंसे एक रजकण–परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है; —ऐसा भार पूर्वक कहा है; तब फिर किसी स्थूल पदार्थकी तो बात ही कहां रही?

कोई कहे कि—इसमें पुरुषार्थ क्या आया? समाधानः–एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है—ऐसी यथार्थ प्रतीति करना वह कर्मोंको नाश करनेका अनन्त पुरुषार्थ है। जिसके ज्ञानमें—एक रजकण भी मेरा नहीं है, मैं शुद्ध चिदानन्द मूर्ति हूँ—ऐसा अपूर्व भान होता है वह स्वप्नमें

भी उत्तर देता है कि-मैं शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ, एक रजकण भी मेरा नहीं है; मेरे आधीन नहीं है।

अेनुं स्वप्पने जो दर्शन पामे रे,
अेनुं मन न चढे बीजे भामे रे;
मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे,
शुद्ध जीवनदोरी हमारी रे।

त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान्‌ने आत्माको जैसा देखा और कहा है वैसे भगवान आत्माका जिसे अल्पकाल भी दर्शन हो जाये उसका मन अन्य विषय-कषायोंकी ओर नहीं जाता; परसे मुक्त-निराला चैतन्य पिण्डका जो आनंद है, उस मुक्तानंदका मैं विहारी हूँ अर्थात् उसमें रमण करनेवाला हूँ; स्वरूपमें स्थिर होनेकी डोर मेरे हाथमें है, और वही मेरे जीवनकी डोरी है।

एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, एक परमाणुको हिलाने या गति करानेमें मैं समर्थ नहीं हूँ;-ऐसा मुझे भान हुआ है। अब भावक-रूपसे और ज्ञेयरूपसे वह मेरे साथ होकर मोह उत्पन्न नहीं कर सकता अब किसी कर्ममें ऐसी शक्ति नहीं रही है कि मुझे पुनः मोह उत्पन्न कर सके; अब मुझे ऐसा स्वप्न भी नहीं आयेगा कि-राग-द्वेषादि भावक और स्त्री, कुटुम्ब आदि ज्ञेय मेरे हैं। इस समयसार शास्त्रमें अलौकिक बात कही है।

महा विदेह क्षेत्रमें त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव श्री सीमंधर भगवान परमात्मदशामें वर्तमानमें विराज रहे हैं। श्री कुंदकुंदाचार्य देव वहाँ गये थे और भगवानके श्रीमुखमें खिरी हुई दिव्यध्वनिको उन्होंने हृदयमें धारण किया, वह उनके हृदयमें प्रविष्ट हो गई; और पश्चात् वहाँसे आकर उन्होंने इस शास्त्रमें जो स्वरूप कहा गया है-ऐसी आत्म-श्रेणी जिसके आत्मामें स्फुरायमान हुई उसे अप्रतिहतभाव हुए बिना नहीं रहेगा।

जिसप्रकार वृक्षकी जड़ उखड़ जानेके पश्चात् उसकी नवीन उत्पत्ति

हमारी इस समयसारकी वाणी रूपी बीनका नाद सुनकर कौन आत्मा नहीं डोल उठेगा ? कौन जागृत नहीं होगा ? सभी डोल उठेंगे, सभी जागृत होंगे; जिसे न जमे, न बैठे वह अपने घर रहा। आचार्यदेवने तो अपने भावसे समस्त जगतको आमंत्रण दिया है।

ज्ञानसमुद्र भगवान, समुद्रकी भाँति अपने ज्ञानमें हिलोरें मारता है। ज्ञानसमुद्र आत्मा चाहे जितने वर्षोंकी बात जाने तथापि उसका भार नहीं होता—ऐसा ज्ञानसमुद्रसे परिपूर्ण आत्मा है।

जिस प्रकार समुद्र पानीसे छलाछल भरा हो, उसमें आड़ी भीत या अन्य कोई वस्तु आ जाये तो पानी दिखाई नहीं देता, किन्तु यहाँ तो मात्र चादर अर्थात् चारों ओर मात्र वस्त्रका ही आवरण लिया है कि जिसे दूर करनेमें देर नहीं लगती। मात्र उस वस्त्रको पानीमें डुबा देनेसे छलाछल पानीसे भरा हुआ समुद्र दिखाई देता है; उसी प्रकार ज्ञान-समुद्र भगवान आत्मा भीतर छलाछल भरा हुआ है। विभ्रमरूप आड़ी चादर पड़ी थी उसे सम्पूर्ण पानीमें डुबा दिया अर्थात् भ्रमणकी मिथ्या पकड़का व्यय किया और सर्वांग रूपसे प्रगट होने रूप उत्पाद हुआ; सर्वांग अर्थात् असंख्य प्रदेशसे प्रगट हुआ। ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा अपने ज्ञान आदि शांतरसमें हिलोरे मारता है।

जिस प्रकार लोक-व्यवहारमें कहा जाता है कि—यह सरोवर मीठा स्वच्छ जलसे भरा हुआ है, इसमें स्नान करो। उसी प्रकार आचार्य-देव कहते हैं कि यह स्वच्छ ज्ञानसमुद्र भरा हुआ है, इसमें समस्त जीव आकर स्नान करो। शीतल होओ ! शांतरसमें निमग्न होओ। यहाँ समस्त जीव आओ ऐसा कहा है; वह भी एकसाथ आओ—ऐसा कहा है; किन्तु ऐसा नहीं कहा कि एकके बाद आओ। अहा ! ऐसा भगवान आत्मा है। भगवान आत्माका अद्भुत स्वभाव देखकर आचार्यदेवका भाव उछल गया है कि अहो ! ऐसा आत्मा है और सब जीव एक ही साथ क्यों नहीं आते ? सब आओ ! एक साथ आओ ! शांतरसमें एक ही साथ अत्यन्त निमग्न होओ !

मात्र निमग्न नहीं कहा है किन्तु अत्यन्त निमग्न होओ—ऐसा कहा है। फिर कहते हैं—कैसा है शांत रस? समस्त लोकमें उछल रहा है, चौदह ब्रह्माण्डके जीवोंमें शांत रस हिलोरें ले रहा है, सभी जीव प्रभु है। अहो! सब जीव लीन होओ—ऐसा आचार्यदेव आमंत्रण देते हैं। और दूसरा अर्थ यह है कि—केवलज्ञान होनेसे समस्तलोकालोकको जानते हैं वहाँ समस्त लोकालोकपर्यंततक शांत रस उछल रहा है।

मात्र भ्रान्तिका पट आड़े था इससे स्वभाव दिखाई नहीं देता था। भीत जैसी कठिन वस्तु आड़े हो तो तोड़नेमें समय लगता है; किन्तु यह तो पट जैसी भ्रांति क्षणभरमें दूर की जा सकती है। विभ्रमसे अपना स्वरूप ज्ञात नहीं होता था। स्त्री, कुटुम्ब आदि तो एक ओर रहे किन्तु शरीर, मन, वाणी भी अलग रखे रहे। वे तो भिन्न ही हैं; किन्तु अन्तरमें होनेवाली शुभाशुभ वृत्तियाँ भी भिन्न हैं; उन सबमें एकत्वबुद्धि थी उसे दूर करके, समूल डुबाकर इस ज्ञान समुद्रमें—वीतरागी विज्ञानमें सब एक साथ निमग्न होओ!—इसप्रकार आचार्यदेवने घोषणा की है। आबालवृद्धको निमंत्रण दिया है। फिर कौन नहीं पहुँचेगा? सब पहुँचेंगे। जिसे विरोध हो, वह नहीं पहुँचेगा; कोई बीमार हो वह नहीं जायेगा। बीमार कहेंगे कि हम नहीं पहुँच सकते तो क्या करें? अरे रोगी! अपनी पुरुषार्थहीनताकी बात एक ओर रख दे! इस निमंत्रणमें एक बार चल तो! दाल-भात ही खा लेना; किन्तु चल तो!

अनेक श्रावक साधर्मियोंको भोजन कराते हैं, उनमें बहुतोंके ऐसे भाव होते हैं कि कोई भी साधर्मी छूट न जाये; क्योंकि इन सबमें कोई जीव ऐसा श्रेष्ठ होता है कि भविष्यमें तीर्थंकर होनेवाला होता है, कोई केवली होनेवाला होता है; कोई अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करनेवाले भी होते हैं—ऐसे साधर्मी जीवोंके पेटमें मेरा अन्न पहुँचे तो मेरे अवतारको धन्य है! कौन भविष्यमें तीर्थंकर होनेवाला है, कौन अल्पकालमें मोक्षमें जानेवाला है—इसकी भले कोई खबर न हो, किन्तु आमन्त्रण देनेवालेका भाव ऐसा है कि—अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करनेवाला कोई जीव

अज्ञानी जीव कपड़े-गहने पहिनकर शोभा मानता है। [illegible] मूढ़! आत्मा तो तीन लोकका नाथ है, तुझे परकी शोभासे लज्जा नहीं लगता? तू तो सदानंद चिदानन्द आत्मा है, तुझे शरम नहीं आती? अरे आत्मा! परसे तेरी शोभा नहीं है, तेरी शोभा तो तुझमें है। कपड़े-गहने पहिनकर-शृङ्गार सजाकर दर्पणमें मुँहको ऊँचा-नीचा, इधर-उधर करके देखता हो उस समय पागल जैसा मालूम होता है; किन्तु भाई! शृङ्गार रस तेरे आत्माका स्वभाव नहीं है, वह पागलपन है; संसार परिभ्रमणका कारण है।

हास्यरस आत्माका स्वभाव नहीं है।—हंसना और खिलखिलाना उसमें तुझे रसका अनुभव होता है; किन्तु अरे तीन लोकके नाथ! यह कुतूहलता करना, खिलखिलाना तुझे शोभा देता है? अपना स्वभाव भूलकर परमें जड़में तुझे क्या नवीनता मालूम होती है? काहेका कुतूहल होता है? परमें नवीनता नहीं है। भाई! यह तेरा स्वभाव

नहीं है, तेरे आत्माका स्वभाव तो अपूर्व शांतरससे परिपूर्ण है, उसे देख !

रौद्ररस अर्थात् क्रूररस। दूसरोंको मारनेके परिणाम, शत्रुको मारनेका परिणाम सो क्रूररस है। जब वह क्रूररस चढ़ता है उस समय किसीको मारते समय बीच कोई भी आ जाये तो उसे भी मार डालता है; अरे चैतन्य ! अपने स्वभावको भूलकर इस क्रूररसमें कहाँ फँस गया ! ऐसे रस तो संसार-परिभ्रमणके कारण हैं।

करुण रस—एक साठ वर्षकी बुड्ढी हो, उसका इकलौता लड़का हो, वही जीवनका आधार हो, दूसरा कोई आधार न हो। वह लड़का जंगलमें जाकर लकड़ी काटकर बेचता हो, और आजीविका चलाता हो। जंगलमें लकड़ी काटते समय उसे साँपने डस लिया और वह मर गया। किसीने आकर बुड्ढीको समाचार सुनाया कि तेरे लड़केको साँपने डस लिया, वह जंगलमें मरा पड़ा है। उस समय बुड्ढीका रुदन कितना करुणापूर्ण और हृदयको भेदनेवाला होता है। उस रुदनसे जो करुणा उत्पन्न हो वह करुण रस है। ऐसे-ऐसे करुणाके प्रसंग देखकर दयाके भाव हों वह करुण रस है वह एक पुण्यका भाव है।

वीर रस—शत्रुका संहार करनेमें जो रस चढ़ जाता है वह वीर रस है। राजकुमार पुष्पोंकी शय्या पर सो रहा हो और कोई राज्यपर चढ़ाई कर दे उस समय राजकुमारको शत्रु संहारका कैसा रस चढ़ आता है ? वह वीर रस है, वह पाप रस है, दुर्गतिमें भ्रमण करनेका कारण है। अरे भाई ! अपने ज्ञानस्वरूप भगवान आत्माको भूलकर यहाँ वहाँ अटक रहा है ! यह तेरा स्वभाव नहीं है।

भयानक रस—आषाढ़की अमावस्याकी अँधेरी रात्रिमें जब बादल गरजते हैं और पानीकी झड़िया लगती है उस समय जंगलमें अकेला हो, सिंह, चीते चिंघाड़ रहे हों, बिजली चमक रही हो, वहाँ जो भय उत्पन्न होता है वह भयानक रस है। अरे भाई ! भीतर देख तो तेरा

दस हजारकी हीरेकी अंगूठी पहिनकर कहीं जा रहा हो और मार्गमें लुटेरे मिल गये। लुटेरे कहने लगे, 'अंगूठी लाओ, नहीं तो मार डालेंगे।' मनमें सोचने लगा—इससे अच्छा तो यही था कि मैं अंगूठी न पहिनता; जिससे शोभा मानी थी वही दुःखका कारण हुआ। पहले रागभावसे शोभा मानी थी किंतु जहाँ लक्ष बदला वहाँ दुःख हो गया। उस समय यदि मैं चिदानंद आत्मा हूँ—ऐसा जानकर, मानकर उसमें स्थिर हो तो आत्माके ज्ञान और आनंदका रस आये; किन्तु उसमें लीन न होकर भयमें लीन हो तो भयका रस आता है। यह रसकी सर्व व्यापक व्याख्या है।

रागकी एकाग्रतासे रस आता है, किन्तु बाह्यवस्तु पर आरोप करता है कि मुझे अमुक वस्तुमेंसे, व्यापार-धंधेमेंसे, खाने-पीनेमेंसे, सोने-बैठनेमेंसे रस आता है; किन्तु वास्तवमें तो रागकी एकाग्रतामेंसे रस आता है।

रसका स्वरूप नृत्यमें नृत्यकार बतलाते हैं। अन्य रसको अन्य रसके समान करके वर्णन करते हैं। जैसे—शृङ्गार रसमें हास्य रस मिलाते हैं और हास्य रसमें शृङ्गार रस मिलाते हैं।

उसी प्रकार आत्मसत्ता रंगभूमि है और देखनेवाले सम्यग्दृष्टि है। यथार्थतया ज्ञायकभावसे देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि हैं, अन्य सब विपरीत मान्यतावालोंकी सभा है; उन्हें बतलाते है। नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ है; उन दोनोंका एकपना, कर्ता-कर्मपना आदि अनेक स्वांग है; कर्ता-कर्म आदिके स्वांग धारण करके नाच रहे हैं। उसमें वे परस्पर अनेकरूप होते है और आठ-रसरूप परिणमन करते हैं—वह नृत्य है। वहाँ जो सम्यग्दृष्टि देखनेवाले है वे जीव-अजीवके भिन्न स्वरूपको जानते है, वे तो इन सर्व स्वांगोंको कर्म कृत जानकर शांतरसमें ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीवका भेद नहीं जानते इससे इन स्वांगोंको ही सच्चा जानकर इनमें लीन हो जाते है। उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, शांतरसमें लीन करके उन्हें सम्यग्दृष्टि बनाते है।

सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिसे कहते हैं कि—देख भाई! जब तू माताके शरीरमें आया उस समय यह स्थूल शरीर लेकर नहीं आया था, किन्तु

सम्यक्‌दृष्टि भ्रम मिटाकर स्वरूपमें—शांतरसमें मग्न कराते हैं। 'मज्जंतु' कलश पहले आ चुका है उसका यथार्थ भाव ऐसा है कि मेरे असंख्य प्रदेशमें शांतरस भरा है, वह प्रस्फुटित हो जाओ, प्रगट हो जाओ। और बाह्यसे लोगोंको आमंत्रण देते हैं कि—सब इस शांतरसमें मग्न होओ! कोई कहेगा कि—अभव्यको कहाँ शांतरस प्रगट होता है कि आचार्यदेवने सबको आमन्त्रण दिया? किन्तु आचार्यदेव तो अपनी दृष्टिसे ऐसा ही देखते हैं कि सभीको शान्तरस प्रगट हो। अभव्य भले अपने घरके लिये होगा; आचार्यदेव तो अपनी भावनाके बलमें भव्य-अभव्य सभीको आमन्त्रण देते हैं कि—सब आओ! मुझे ऐसा शांतरस प्रगट हुआ है और जगतका कोई जीव इससे वंचित न रह जाए—ऐसी भावना तो अपनी है न!

अब जीव-अजीवके स्वांगका वर्णन करेंगे।

नृत्य कुतूहल तत्त्वको, मरियवि देखो धाय;
निजानन्द रसमें छको, आन सबै छिटकाय।

यह तत्त्व क्या है इसका एक बार तो कुतूहल कर! यह जो इज्जत, कीर्ति, पैसा, कुटुम्बमें अपनापन मानकर उनमें लीन हो रहा है उसे भूलकर भीतर आत्मामें उतर कर उसकी थाह ले! जिसप्रकार कुएँमें डुबकी मारकर थाह लाते हैं ऐसी थाह ले। दुनियाको भूलकर, मरकर भी एकबार अन्तरतत्त्व क्या है उसे देखनेके लिये गिर तो! मरकर अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता सहन करके भी कुतूहल कर! अनन्तबार देहके अर्थ आत्माको लगा दिया, किन्तु अब एकबार आत्माके अर्थ देहको लगा दे तो भव न रहे। दुनियाको भूल दुनियाकी चिन्ता छोड़कर आत्माके रसमें मस्त हो जा! पुरुषार्थ करके अन्तर-पटको तोड़ दे।

इसप्रकार जीव-अजीव अधिकारमें पूर्व रंग समाप्त हुआ।

* * *

अब जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य दोनों एक होकर रंग भूमिमें प्रवेश करते हैं। अब चिदानन्द मूर्ति आत्मा और शरीरादिक, पुण्य-पाप इत्यादि सब एक ही वेश धारण करके आते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि— तुझे पहले यह बताया जा चुका है कि जीवका स्वभाव ऐसा होता है; अब तू इससे यह समझ ले कि जो जो अजीव आते हैं वह तू नहीं है। अब आचार्यदेव इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरण करते हैं; माणिकस्तम्भको स्थापित करते हैं, ज्ञानकी महिमा प्रगट करते हैं; यह ज्ञान समस्त वस्तुओंको जाननेवाला है, वह जीव अजीवके समस्त वेषोंको भली भांति पहचानता है, ऐसा सर्व स्वांगोंको पहिचाननेवाला सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है।

यहाँ 'सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है', यह कहकर सम्यक् ज्ञानीकी बात कही है। अर्थात् यहाँ चतुर्थ गुणस्थानवालोंकी बात है सातवें गुणस्थानवालोंकी नहीं। रामचन्द्रजी, पांडव और राजा श्रेणिक इत्यादि गृहस्थ आश्रममें थे तथापि उन्हें यह दृढ़ प्रतीति थी कि आत्मा परसे भिन्न है, राग द्वेष मेरे नहीं हैं, इसप्रकार भ्रान्तिका त्याग करके वे आत्मस्वरूपमें स्थित रहते थे। संसारमें रहकर भी ऐसी प्रतीति हो सकती है। ऐसी प्रतीतिके बिनाका त्याग वास्तविक त्याग नहीं है।

पुण्य पाप इत्यादि परकी वृत्तियोंका अभिमान दूर हो जाये और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो, वह ज्ञान ही सच्चा मंगल है। 'मंग' अर्थात् पवित्रता, 'ल' अर्थात् लाना,—पवित्रताकी प्राप्ति। वही सच्चा मंगल है। पवित्र [illegible] आत्मभाव ही सच्चा मंगल है। [illegible] भी है कि—'म' अर्थात् अपवित्रता और [illegible] नष्ट कर दे, अर्थात् शरीर मन वाणी और [illegible] अपवित्रता है उसे सम्यग्ज्ञान [illegible] सच्चा मंगल है। [illegible]

अब सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है इस अर्थका सूचक कलश कहते हैं—

जीवाजीवविवेक पुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा—
नासंसार निबद्ध बंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्मारामसनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥ ३३ ॥

अर्थः—जो ज्ञान है सो मनको आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव-अजीवके स्वांगको देखने वाले महा पुरुषोंको जीव-अजीवके भेदको देखने वाली अति उज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा भिन्न द्रव्यकी प्रतीति उत्पन्न कराते है। अनादि संसारसे जिनका बंधन दृढ़ बँधा हुआ है, ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, अर्थात् जैसे फूलकी कली खिलती है उसी प्रकार विकासरूप है। और वह ऐसा है कि जिसका क्रीड़ावान आत्मा ही है, अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञेयोंके आकार झलकते है तथापि स्वयं अपने स्वरूपमें ही रमण करता है; जिसका प्रकाश अनन्त है, और जो प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदयरूप है। और जो धीर है, उदात्त है, इसीलिये अनाकुल है–सर्व इच्छाओंसे रहित निराकुल है। (यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल—यह तीन विशेषण शांतरूप नृत्यके आभूषण समझना चाहिये। ऐसा ज्ञान विलास करता है।

ज्ञान मनको आनन्द देता हुआ प्रगट होता है, जीव-अजीव साथ नच रहा है, उसे सम्यग्दृष्टि पहिचान लेता है कि यह मैं नहीं हूँ, मेरा स्वरूप परसे भिन्न ज्ञायकरूप है। यह बरफ ठंडा है, अग्नि गर्म है, गुड़ मीठा है, इत्यादिका विवेक कौन करता है? यह सब विवेक ज्ञान ही करता है। आश्चर्य तो यह है कि यह जीव पराभिमुख हो रहा है और अपनी ओर नहीं देखता। तू परको जानता है और उसी ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु स्वयं अपनेको न जाने तो यह कितना भारी अविवेक है तू पर पदार्थोंका तो भेद करता है कि यह अच्छा बुरा है और स्व

सम्यक्ज्ञान मनको आनन्द देता हुआ प्रगट होता है, और संसारके परिभ्रमणका ज्ञान भेद भिन्न करता हुआ प्रगट होता है। [illegible] समझसे ही प्रगट होते हैं यदि बारम्बार सत् समागम करके और विचार करके समझे तो आत्मामें ज्ञान और शांति गुण बिना न रहे।

जीव और मन वाणी देह, पुण्य–पापके भाव–सब का एकत्रित वेष है, उन्हें जो भिन्न जानता है सो वह महा पुरुष है, दूसरा कोई महा पुरुष नहीं है। सम्यक्ज्ञान अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा भिन्न भिन्न पदार्थोंकी प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। जो भिन्न भिन्न पदार्थोंका विवेक करता है सो ज्ञान है। वह ज्ञान मनको आनन्द देता है सो सम्यक्ज्ञान है।

आत्मा पर कर्मके कारण जो वेष है उसमें एक तो शरीरादिक और दूसरे भीतर होने वाली वृत्तियां और परको अपना माननेरूप वेष है सो वह सब कर्मका वेष है, वह अपना वेष नहीं है। मैं ज्ञान-ज्योति आत्मा उन वेषोंसे भिन्न हूँ इसप्रकार सच्चा ज्ञान विवेक करता है।

आत्मा एक वस्तु है, पदार्थ है। जो वस्तु होती है उसमें गुण और स्वभाव होता है। जैसे गुड़ एक वस्तु है, और मिठास उसका गुण है। गुड़ हो और मिठास न हो यह नहीं हो सकता! इसीप्रकार मैं आत्मा एक वस्तु हूँ और उसमें ज्ञान आदि अनन्त गुण न हों यह नहीं हो सकता; अतः आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है।

शरीरादिक या पुण्य–पापमेंसे सुख और शांति आती है ऐसा मान-कर पराधीनतामें न रखकर यह मेरे गुण हैं जिनसे सुख और शांति

प्राप्त होती है, ऐसा परिचय प्राप्त करके श्रद्धा करके अपने स्वरूपमें रहूँ तो पराधीनता मिट जावे, उस प्रकारकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनता मोक्षमार्ग है। और उसकी पूर्णता होना सो मोक्ष है।

पराश्रय दुःख है और स्वाश्रय सुख है, शरीरका प्रत्येक रजकण पृथक् पृथक् है, इसलिये शरीरसे आत्माको लाभ नहीं हो सकता, एक स्वाधीन तत्त्व परका आश्रय ले सो पराधीनता है, और पराधीनता स्वप्नमें भी सुख नहीं है। पराधीनताकी व्यापक परिभाषा भली भाँति जान लेनी चाहिये। दूसरेकी नोकरी करना इतनी मात्र ही पराधीनता-की व्याख्या नहीं है किन्तु स्त्री, पुत्रादिसे सुख मिलता है, रुपया पैसेसे सुख मिलता है, बड़प्पन प्रतिष्ठादिसे सुख मिलता है, इस प्रकार पर पदार्थो पर सुखका लक्ष करना सो पराधीनता है, इतना ही नहीं किन्तु यह मानना कि शुभाशुभ परिणामोंसे सुख मिलता है सो वह पराधीनता है। "पराधीन सपनेहु सुख नाही"। एक तत्त्वको सुखके लिये दूसरे तत्त्व पर दृष्टि रखनी पड़े सो पराधीनता है। जब तक पर पदार्थो पर दृष्टि है तबतक पराधीनता दूर नहीं हो सकती। और जब तक पराधीनता दूर नही होती तब तक स्वाधीनता प्रगट नही होगी।

गुणके बिना गुणी नहीं होता ऐसे अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण स्वाधीन तत्त्वको जिसने नहीं माना और दूसरे तत्त्वोंसे सुख मुझे सुख होगा मान रखा है, उसे चौरासीके अवतार अवश्य लेना पड़ेंगे। उसकी पराधीनता और दुःख दूर नही हो सकते।

सम्यक्ज्ञानके द्वारा सम्यक्ज्ञानी अज्ञान और उसके फलको भिन्न माने कि यह मेरा स्वरूप नही है, मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्दघन है; ऐसी प्रतीति हुई कि स्वाश्रय प्राप्त हुये बिना नही रहता, और सुख-शान्ति प्राप्त हुये बिना नहीं रहती।

जब घरमें विवाहादिका उत्सव होता है तब किसीके गहने जेवर इत्यादि वस्तुएं लाकर अपने घरकी शोभा बना ली हो किन्तु –

समझदार मनुष्य यह जानता है कि अपना काम पूरा हो जाने पर दूसरेको यह वस्तुएँ वापिस कर देनी होंगी इसी प्रकार ज्ञानवान पुरुष जानता है अथवा अज्ञानी पुरुषसे ज्ञानी पुरुष कहता है कि हे भाई! यह इन्द्रिय, शरीर, पुण्य–पापके भाव इत्यादि सब कर्म कृत मंडप हैं यह दूसरेका मंडप है, तेरा चैतन्यघर तो अलग ही है, जड़की पूँजी अपनी न मान, परकी शोभासे अपनी शोभा मत मान; तू शुद्ध चिदानन्द मूर्ति है, तेरी अपनी पूँजी अलग है, तेरा वेष अलग है, और शरीर इन्द्रिय एवं शुभाशुभ परिणामोंका वेष अलग है यह सब कर्म कृत वेश है, यह तेरा वेष नहीं है। कर्मकी शोभासे अपनी शोभा नहीं मानी जा सकती, यह सब परकी शोभाका मंडप है। यहाँ तो मोक्षका मंडप तन चुका है, यह अब नहीं उखड़ सकता।

शरीरके सुख साधनको छोड़कर, और स्त्री पुत्रादिका त्याग करके त्यागी हो जानेसे कोई सच्चा त्यागी नहीं कहलाता, उससे धर्म नहीं होता। जब तक यह दृष्टि है कि जो पर है सो मैं हूँ, तब तक धर्म प्राप्त नहीं होता, और पराधीनता नहीं मिटती। कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुभपरिणाम हो और उससे अपनेको लाभ होना माने तो तब तक वह पराश्रयी ही है, इसलिये उसकी पराधीनता दूर नहीं हो सकती जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थोंकी भिन्नताकी प्रतीतिके बिना पराश्रयता दूर नहीं होती और स्वाश्रयता प्रगट नहीं होती।

चैतन्य मूर्ति आत्मा अलग है, उसमें जो अनेक प्रकारके वेष दिखाई देते हैं सो अज्ञानी मानता है कि यह मेरा वेष है। संसारमें विविध प्रकारके नाटक कर्ता पात्र भर्तृहरी, हरिश्चन्द्र या राम लक्ष्मण इत्यादिका अत्यन्त सुन्दर वेष धारण करके और उनका ज्योंका त्यों अभिनय करके भी यह जानते हैं कि हम सच्चे भर्तृहरि, हरिश्चन्द्र राम या लक्ष्मण नहीं हैं किन्तु हम तो वेतन भोगी सामान्य व्यक्ति हैं; किन्तु अनादि कालका अज्ञानी जीव अपनेको भूलकर पर सम्बन्धी

जो जो वेष दिखाई देता है उसे अपना ही मान लेता है किन्तु सम्यक्-ज्ञानी समझता है कि मैं चैतन्य अनन्त गुणमूर्ति पृथक् ही हूँ, और जो पुण्य-पापके भाव अथवा अनुकूलता-प्रतिकूलताका कोई बाह्य वेष आये तो मैं चैतन्य सम्राट उसे अपनी पूंजीमें नहीं मिला सकता, हाँ, मैं उसका ज्ञातामात्र रहूँगा। इसीप्रकार सम्यक्ज्ञान होनेके बाद अल्प राग-द्वेष हो किन्तु उसे दूर करके वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेगा। धर्मात्माने अति उज्ज्वल पवित्र दृष्टिसे भिन्न द्रव्यकी जो प्रतीति उत्पन्न की है, और उस प्रतीतिके होनेसे भिन्न द्रव्यका जो विवेक जागृत हो गया है, उनमें अब पराश्रय ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रह सकती। यद्यपि पुरुषार्थकी अशक्तिको लेकर अल्प राग-द्वेषकी ओर कभी कभी झुक सा जाता है, किन्तु आंतरिक विवेक किंचित् मात्र भी नहीं हटता। जो अल्प राग-द्वेष शेष रह गया है वह दूर होनेके लिये ही है, बने रहनेके लिये नहीं।

जैसे मकानमें कांचका बहुत ही सुन्दर झूमर लटक रहा हो और उससे घरकी शोभा हो रही हो किन्तु यदि वह ऊपरसे गिरे और उसके टुकड़े टुकड़े हो जायें तो उसपर पहले जो राग था वह मिट जाता है और उसके प्रति उपेक्षा हो जाती है वह तुच्छ प्रतीत होने लगता है। उस तुच्छताकी प्रतीतिका कारण यह है कि-ज्ञानमें यह निश्चय हो गया है कि-यह वस्तु मेरे कामकी नहीं रही, इसलिये इन कांचके टुकड़ोंको उठाकर बाहर फेंक दो। यद्यपि उन कांचके टुकड़ोंको बाहर फेंकनेका निश्चय हो चुका है यदि वे कुछ समयतक घरमें ही पड़े रहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि अब उन्हें संग्रह करके रख छोड़नेका भाव है, इसी-प्रकार अनन्त गुणस्वरूप प्रभु-परमात्माकी भांति ही मेरा आत्मा है, मैं पर स्वरूप नहीं हूँ, ऐसी सम्यक् प्रतीति हो जानेपर विभावकी तुच्छता मालूम होने लगती है। मैं चैतन्यघन स्वभावसे पूर्ण पवित्र हूँ ऐसी प्रतीति होने पर आत्मामें नये नये क्षणिक पुण्य-पापके जो भाव होते हैं वे तुच्छ मालूम होने लगते हैं। क्योंकि उन पुण्य-पापके भावोंमें तुच्छता मालूम

होने लगी तो फिर पुण्य-पापके फलोंमें अर्थात् बाह्य संयोग-शरीर, मकान लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादिमें तुच्छता मालूम होने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

पुण्य-पापके भाव और पुण्य-पापके फल सब उस अभ्रकके टूटे टुकड़ों जैसे ही भासित होते हैं। उन शुभाशुभ परिणामोंको निकाल फेंकनेमें कुछ विलम्ब हो जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे प्रिय हैं अथवा उन्हें रखनेका भाव है। अपनेसे पर पदार्थोंको भिन्न मानता है। और उन्हें भिन्न मानते ही परमें तुच्छता भासित होने लगती है और महत्ता नहीं भासती है उन शुभाशुभ भावोंको संग्रह कर रखनेका भाव नहीं है किन्तु उन्हें दूर करनेका ही भाव है। ऐसा भिन्नत्व विवेक होने पर अल्प कालमें मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। पुरुषार्थमें कुछ कमजोरी है इसलिये अल्प राग-द्वेष पाया जाता है, उसे दूर करनेमें कुछ विलम्ब होता है, किन्तु क्रमशः स्थिरताको बढ़ाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। यह भिन्नत्वके विवेकका माहात्म्य है।

वह ज्ञान अनादि संसारसे जिसका बन्धन दृढ़ता पूर्वक बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादिक कर्मोंका नाश होकर विशुद्ध हो गया है, स्फुट हो गया है। ज्ञानावरणीयका नाश किया अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि जो अष्ट कर्म हैं सो मैं नहीं हूँ, इसप्रकार उससे भिन्नत्वका विवेक किया, और इससे श्रद्धा और ज्ञानसे कर्मोंका नाश किया है, तथा क्रमः स्थिरता करके संपूर्ण नाश करेगा। इसप्रकार विवेकसे ज्ञानमें विशुद्धता हुई, स्पष्टता हुई और जब ज्ञान यह मानता था कि—जो कर्म हैं सो मैं हूँ, तब वह सम्पुटित-बन्द रहता था, वह परके साथ एकमेक रहता था इसलिये ज्ञानकी कलियाँ संकुचित हो गई थी। अब पृथक् विवेक किया है इसलिये ज्ञानकी कलियाँ भीतरसे विकसित होकर खिल उठी हैं। शरीरादिक तथा पुण्य-पापको अपना मान रखा था इसलिये ज्ञान संकुचित था, किन्तु जब यह मान लिया कि जो शरीरादिक हैं सो मैं नहीं हूँ, तो ज्ञान अलग हो गया और वह विकसित हो गया। पराश्रयभावका

त्याग किया कि ज्ञान खिल उठा। विवेक जागृत हुआ कि ज्ञानकी संकुचित कली पुनः विकसित हो गई। चाहे चक्रवर्तीका राज्य मिले या तीर्थंकर पद प्राप्त हो, किन्तु वह सब कर्मकृत है वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा चैतन्य ज्ञानकुंड स्वरूप परसे भिन्न है, इसप्रकार ज्ञानकी कली खिलना ही आत्मधर्म है। शरीरादिको अपना मानकर ज्ञान उसमें रम रहा किन्तु जहां विवेक जागृत हुआ कि यह मैं नहीं हूँ वहाँ ज्ञान अपनेमें रमण करने लगा। इसप्रकार स्वपरके पृथक्त्वका विवेक जागृत होने पर ज्ञान अपनेमें रमण करने लगा, अर्थात् ज्ञानकी कली खिल उठी—स्फुट हो गई।

यद्यपि ज्ञानमें अनन्त ज्ञेयोंके आकार आकर झलकते हैं, तथापि ज्ञान अपने स्वरूपमें ही रमण करता है। ज्ञानमें सब कुछ ज्ञात होता है, किन्तु इससे वह पररूप नहीं हो जाता। पराश्रयमें स्थिर होने वाला ज्ञान, यह पुण्य मेरा है, यह इन्द्रपद मेरा है इत्यादि मानकर पर पदार्थमें रमण कर रहा था, उसका जहाँ विवेक जागृत हुआ कि यह पर पदार्थ मेरे नहीं हैं, किन्तु मेरा तो ज्ञानस्वभाव है, शांति-स्वभाव है और मेरा स्वभाव मुझमें ही है, ऐसा स्वाश्रय होनेसे वहाँ ज्ञान अपनेमें रमण करने लगा। मेरा आत्मा असंयोगी है, मेरा मूलधन मुझमें ही है ऐसा माना कि पराश्रयता छूट गई, और अपना क्रीड़ावन आत्मा ही एकमात्र रह गया, दूसरा कोई स्थान नहीं रहा।

शरीर, वस्त्र और किसी वेषमें धर्म नहीं है, किन्तु वह आत्म-स्वरूपके विवेकमें है। जैसे अपने हाथसे परिश्रम पूर्वक बनाई गई रोटी मीठी लगती है, इसीप्रकार अपने घरका स्वभाव अपने ही हाथसे अर्थात् पुरुषार्थसे प्रगट करके जो आनन्दयुक्त धर्म होता है सो वही मीठा लगता है, और वही सुखरूप मालूम होता है, वही सच्चा धर्म है, सब अन्य अधर्म है। अपने स्वभावको न पहिचाने और परको अपना माने सो अधर्म है।

मेरा गुण निर्मल और निरावलंबित है मेरे गुणकी पर्याय मुझमें ही होती है, ऐसा विवेक होने पर ज्ञानका क्रीड़ावन आत्मा ही रह जाता है।

वहाँ "मोतियन थाल भरावे" का गीत गाया जाता है, इसी प्रकार सम्यक् ज्ञानी जीव भविष्यमें सिद्ध होने वाला है, अभी वह सिद्ध नहीं है, फिर भी भावनाकी प्रबलतासे अभी भी वह यह कहता है कि मैं सिद्ध हूँ। द्रव्यापेक्षासे ही तो सिद्ध हूँ ही किन्तु मैं पर्यायसे भी सिद्ध हूँ। द्रव्यदृष्टि द्रव्य और पर्यायके भेदको नहीं देखती। वह भावनाकी प्रबलतासे कालके अन्तरको बीचमेंसे निकाल देती है।

वह ज्ञानधीर है, स्वपरको जानता है, वह अपने भावोंको जानता है और परके भावोंको भी जानता है; अनुकूलता, प्रतिकूलता, निन्दा, प्रशंसा इत्यादि सब कुछ जानता है। ज्ञान ऐसा विचक्षण है कि वह पदार्थको चहुँ ओरसे जानता है फिर भी कहीं राग-द्वेष या क्रोध-मान इत्यादि नहीं होने देता। किन्तु सब ओरसे जानकर ज्ञान भीतर ही समा जाता है। वह ऐसा धीर है। ज्ञान सब कुछ जानता है तथापि कहीं राग-द्वेषकी आकुलता नहीं होने देता जैसे आमका पेड़ ज्यों ज्यों फलता है त्यों त्यों नीचेको नमता जाता है, इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान ज्यों ज्यों विकासको प्राप्त होता है त्यों त्यों भीतर समाता जाता है। सच्चा ज्ञान भीतर समाता है और अज्ञान बाहर फैलता है। अज्ञानसे विकार होता है और विकारसे बाहर पुण्य-पाप फलित होते हैं, वे पुण्य-पापके फल बाहरकी ओर फैलते जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अज्ञान ही बाहर फैलता है, और ज्ञान स्वाश्रित होने पर पराश्रयसे हटकर भीतर समा जाता है, इसलिये वह धीर है।

ज्ञान उदात्त है, उच्च है, और उदार है, अर्थात् भीतरसे [illegible] जितना ज्ञान निकाला जाये तो भी वह कम नहीं होता। [illegible] ज्ञानका विवेक प्रगट हुआ वहाँ शान्ति आये बिना नहीं रहती, [illegible] और अनाकुल है। इस प्रकार धीर, उदात्त, और अनाकुल [illegible] सुख ज्ञान विलास करता है।

जीव और अजीवका ज्ञान होने पर [illegible] कोई बहुरूपिया विविध स्वांग धारकर आता है [illegible]

है उसको यह चमत्कार करके [illegible] [illegible], इसी प्रकार [illegible] [illegible], और [illegible] कर्म आत्मा [illegible] [illegible] हैं, इस प्रकार भिन्नताका ज्ञान [illegible] ज्ञान है। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टिको होता है। मिथ्यादृष्टि ऐसी भिन्नताको नहीं जानता।

अब जीव-अजीवका एक रूप वर्णन करते हैं:—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवमज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥ ३९ ॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणु भागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥ ४० ॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४१ ॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केइ जीव मिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीव मिच्छंति ॥ ४२ ॥
एवं विहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाइहिं णिद्दिट्ठा ॥ ४३ ॥

अर्थ:—आत्माको नहीं जानते हुये, परको आत्मा कहने वाले कोई मूढ, मोही अज्ञानी तो अध्यवसानको, और कोई कर्मको जीव कहते हैं। कोई अध्यवसानोंमें तीव्र–मन्द अनुभागगतको जीव मानते हैं, और कोई नोकर्मको जीव मानते हैं। कोई कर्मके उदयको जीव मानते हैं। कोई कर्मके अनुभागको–'जो अनुभाग तीव्र मन्दपनेरूप गुणोंसे भेदको प्राप्त

होता है वह जीव है' ऐसा मानते हैं कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुये को भी जीव मानते हैं, और कोई कर्मके संयोगसे ही जीव मानते हैं। इसप्रकार तथा अन्य अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि—मिथ्यादृष्टि जीव परको आत्मा कहते हैं; वे परमार्थवादी अर्थात् सत्यार्थवादी नही है, ऐसा निश्चय (सत्यार्थ) वादियोंने कहा है।

अब यहाँ जीव-अजीवका एकत्रित नाटक है।

आत्म पदार्थ क्या है, उसके गुण क्या हैं और उसकी अवस्था क्या है, इसे न जानते हुये परके आश्रयसे अपना गुण माननेवाले कोई मूढ़ आत्माकी ओरसे असावधान अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि जो अध्यवसान है सो जीव है। कर्मके निमित्तके आधीन होनेसे जो भाव होता है सो अध्यवसान कहलाता है। आत्मा मात्र ज्ञाता है, उसे भूलकर कर्म निमित्तक पुण्य-पापके भाव होते हैं, उसमें एकत्वबुद्धिसे मानता है कि जो यह अध्यवसान है सो ही मैं हूँ। इस प्रकार कर्म निमित्ताधीन होनेसे जो अध्यवसान होता है, उसे आत्मा माननेवाले, और उस अध्यवसानको अपने लिये सहायक माननेवाले मूढ़—अज्ञानी हैं।

कोई कर्मको जीव मानते हैं, वे कहते हैं कि यदि कर्म कम हो तो भगवानके पास जा सकते हैं और इस प्रकार कर्मसे गुण-लाभ मानते हैं किन्तु यह बात मिथ्या है। कर्मसे भगवानके पास नहीं पहुंचते, किन्तु कर्म और आत्मा क्या है इसकी भिन्न प्रतीति करने पर भगवान अर्थात् स्वयं अपने आत्म भगवानके पास पहुंचा जाता है। जब तक अपूर्ण है तब तक निमित्त आये बिना नहीं रहेंगे, किन्तु यदि स्वयं न जागे तो निमित्त क्या लाभ कर सकते हैं? पुण्य बन्धसे अनेक बार भगवान मिले किन्तु अपने आत्मभगवानकी प्रतीति नहीं की इसलिये लाभ प्राप्त नहीं हुआ। जड़कर्मको आत्मा माननेवाले अर्थात् कर्मको [illegible] माननेवाले, कर्मको आत्मा माननेवाले, कर्मसे आत्मा माननेवाले और ऐसा माननेवाले कि कर्म मुझे मार्ग दे दे तो धर्म होता है [illegible] अज्ञानी मूढ़ है।

कोई तीव्र-मन्द [illegible] आत्मा मानता है। [illegible] शुभ-अशुभ और तीव्र-मन्द [illegible] परिवर्तनका [illegible]

कोई नोकर्मको अर्थात् शरीरको ही आत्मा मानते हैं। और शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब एवं धन सम्पत्तिमें ही सुख मानते हैं किन्तु वह वास्तवमें सुख नहीं है। शरीर और आत्मा दोनों पृथक् पदार्थ हैं। पर पदार्थ आत्माको सुख नहीं दे सकते। आत्माका सुख आत्मामें है, वह बाहरसे नहीं आता, किन्तु वह कल्पना मात्र है।

अज्ञानी मानते हैं कि—शरीर पुष्ट करनेसे आत्माको लाभ होगा और शरीरके सुखानेसे आत्माको हानि होगी, इस प्रकार अपनेको जड़का रखवाला मानता है और समझता है कि उन्हें जैसा रखेंगे वैसे रहेंगे किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है शरीरके पुष्ट होने या सुखानेसे आत्माको कोई लाभ-हानि त्रिकालमें और तीनलोकमें नहीं हो सकती। पर पदार्थसे आत्माको हानि-लाभ हो ही नहीं सकता। शरीरसे आत्माको हानि-लाभ मानने वाला शरीर और आत्माके कार्योंको एक मानता है,—किन्तु वह मिथ्या है, क्योंकि दोनोंके कार्य एक नहीं किन्तु सर्वथा भिन्न हैं।

अज्ञानी मानता है कि माल टाल खानेसे शरीरमें शान्ति आती है और सशक्त होनेसे आत्माको स्फूर्ति मिलती है। ऐसा मानने वालेको यह प्रतीति नहीं है कि आत्माकी शक्ति आत्मा पर ही अवलम्बित है, वह अज्ञानी तो शरीर और आत्माको एक ही साथ ढकेल रहा है। उसे यह पता नहीं है कि आत्माकी सम्पूर्ण शक्ति आत्मामें और जड़की जड़में है, किसीकी शक्ति किसीमें नहीं आती। शरीरको आत्मा मानने वाला मूढ़ है। शरीर तो अनन्त रजकणोंका पिंड है, वह रजकणोंका पिंड आत्माके साथ रहता है ऐसा मानने वाला यह नहीं समझता कि आत्मा ऐसे शरीरसे रहित अशरीरी, चैतन्य मूर्ति तत्व है इसलिये

यह मूढ़ है अज्ञानी है।

कोई पुण्य-पापके उदयको जीव मानता है, कोई साता-असातारूप होनेवाले कर्मके भेदको जीव मानता है, और कोई आत्मा तथा कर्मके मिलनेको जीव मानता है।

कोई कर्मके संयोगको ही जीव मानता है किन्तु मेरा स्वभाव कर्मको लेकर नहीं और कर्मका स्वभाव मेरे कारण नहीं है। दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। कोई कहता है कि मस्तिष्कमें विचार शक्ति है, इसलिये कर्मके संयोगसे जीव है, यह सिद्ध होता है। किन्तु आत्माको नहीं माननेवाले ही ऐसा मानते हैं। उन्हें यह तो विचार करना चाहिये कि जड़के मस्तिष्कमें विचार होते हैं, या विचारोंके जाननेवालेके व्यापारमें? विचार ज्ञानकी पर्याय है, इसलिये वह आत्मामें ही होती है; जड़को लेकर ज्ञानका व्यापार नहीं होता, इसलिये ज्ञानका व्यापार आत्मासे होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मके संयोगसे जीव नहीं है, किन्तु जीव स्वयं अपने आप ही स्वतः है।

अज्ञानी जीव आत्माको किस प्रकार मानते हैं, सो यह आगे आठ बोलमें कहा जायेगा। इस जगतमें आत्माके असाधारण लक्षणको न जाननेके कारण नपुंसकत्वसे अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्विक-परमार्थभूत आत्माको नहीं जाननेवाले अनेक अज्ञानीजन विविध प्रकारसे परको भी आत्मा कहते (बकते) हैं।

आत्माका ज्ञान लक्षण असाधारण है, अर्थात् उसका किसीके साथ मेल नहीं खाता। ज्ञान लक्षण किसी जड़में या परमें नहीं पाया जाता। कुछ भाग आत्माका, कुछ भाग अन्य अजीवका और कुछ भाग चैतन्यका लेकर जड़के साथ संयोग करके ज्ञान लक्षण नहीं बनता, किन्तु जड़से भिन्न चैतन्यका ज्ञान लक्षण सुस्पष्ट है, उस चैतन्यका असाधारण लक्षण ज्ञान है। आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान उसका लक्षण है। यह ज्ञान आत्माका लक्षण है, गुण और गुणी अलग अलग नहीं हो सकते।

कोई तीव्र-मन्द पुण्य-पापके भावको जीव मानते हैं। शुभाशुभ भावमेंसे शुभभावको अच्छा और अशुभभावको बुरा मानते हैं, किन्तु शुभ-अशुभ और तीव्र-मन्द भाव सब परभाव हैं. पुण्य-पाप भावके रसके परिवर्तनको आत्मा मानने वाले तथा उससे लाभ मानने वाले भी मूढ़ हैं।

कोई नोकर्मको अर्थात् शरीरको ही आत्मा मानते हैं। और वे शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब एवं धन सम्पत्तिमें ही सुख मानते हैं किन्तु वह वास्तवमें सुख नहीं है। शरीर और आत्मा दोनों पृथक् पदार्थ हैं। पर पदार्थ आत्माको सुख नहीं दे सकते। आत्माका सुख आत्मामें है, वह बाहरसे नहीं आता, किन्तु वह कल्पना मात्र है।

अज्ञानी मानते हैं कि—शरीर पुष्ट करनेसे आत्माको लाभ होगा और शरीरके सुखानेसे आत्माको हानि होगी, इस प्रकार अपनेको जड़का रखवाला मानता है और समझता है कि उन्हें जैसा रखेंगे वैसे रहेंगे किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है शरीरके पुष्ट होने वा सूखनेसे आत्माको कोई लाभ-हानि त्रिकालमें और तीनलोकमें नहीं हो सकती। पर पदार्थसे आत्माको हानि-लाभ हो ही नहीं सकता। शरीरसे आत्माको हानि-लाभ मानने वाला शरीर और आत्माके कार्योंको एक मानता है,—किन्तु वह मिथ्या है, क्योंकि दोनोंके कार्य एक नहीं किन्तु सर्वथा भिन्न हैं।

अज्ञानी मानता है कि माल टाल खानेसे शरीरमें शान्ति आती है और सशक्त होनेसे आत्माको स्फूर्ति मिलती है। ऐसा मानने वालेको यह प्रतीति नहीं है कि आत्माकी शक्ति आत्मा पर ही अवलम्बित है, वह अज्ञानी तो शरीर और आत्माको एक ही साथ ढकेल रहा है। उसे यह पता नहीं है कि आत्माकी सम्पूर्ण शक्ति आत्मामें और जड़की जड़में है, किसीकी शक्ति किसीमें नहीं आती। शरीरको आत्मा मानने वाला मूढ़ है। शरीर तो अनन्त रजकणोंका पिंड है, वह रजकणोंका पिंड आत्माके साथ रहता है ऐसा मानने वाला यह नहीं समझता कि आत्मा ऐसे शरीरसे रहित अशरीरी, चैतन्य मूर्ति तत्व है इसलिये

यह मूढ़ है अज्ञानी है।

कोई पुण्य-पापके उदयको जीव मानता है, कोई साता-असातारूप होनेवाले कर्मके भेदको जीव मानता है, और कोई आत्मा तथा कर्मके मिलनेको जीव मानता है।

कोई कर्मके संयोगको ही जीव मानता है किन्तु मेरा स्वभाव कर्मको लेकर नहीं और कर्मका स्वभाव मेरे कारण नहीं है। दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। कोई कहता है कि मस्तिष्कमें विचार शक्ति है, इसलिये कर्मके संयोगसे जीव है, यह सिद्ध होता है। किन्तु आत्माको नहीं माननेवाले ही ऐसा मानते है। उन्हें यह तो विचार करना चाहिये कि जड़के मस्तिकमें विचार होते हैं, या विचारोंके जाननेवालेके व्यापारमें ? विचार ज्ञानकी पर्याय है; इसलिये वह आत्मामें ही होती है; जड़को लेकर ज्ञानका व्यापार नहीं होता, इसलिये ज्ञानका व्यापार आत्मासे होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मके संयोगसे जीव नहीं है, किन्तु जीव स्वयं अपने आप ही स्वतः है।

अज्ञानी जीव आत्माको किस प्रकार मानते है, सो यह आगे आठ बोलमें कहा जायगा। इस जगतमें आत्माके असाधारण लक्षणको न जाननेके कारण नपुंसकत्वसे अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्विक-परमार्थ-भूत आत्माको नहीं जाननेवाले अनेक अज्ञानीजन विविध प्रकारसे परको भी आत्मा कहते (बकते) है।

आत्माका ज्ञान लक्षण असाधारण है, अर्थात् उसका किसीके साथ मेल नहीं खाता। ज्ञान लक्षण किसी जड़में या परमें नहीं पाया जाता। कुछ भाग आत्माका, कुछ भाग अन्य अजीवका और कुछ भाग चेतनका लेकर जड़के साथ संयोग करके ज्ञान लक्षण नहीं बनता, किन्तु जड़से भिन्न चैतन्यका ज्ञान लक्षण सुस्पष्ट है, उस चैतन्यका असाधारण लक्षण ज्ञान है। आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान उसका लक्षण है। यह [illegible] [illegible] लक्षण है, गुण और गुणी अलग अलग नहीं हो सकते।

जैसे गुड़ और मिठास अभेद है, इसीप्रकार गुण और गुणी अभेद हैं। क्रोध विभाव है, और विभाव दुःख है, और ज्ञानगुण-सुखरूप है, इसलिये क्रोधादिसे भिन्न आत्माका ज्ञान लक्षण निर्दोष है। विभाव भी आत्माका लक्षण नहीं है तो फिर शरीर मन वाणी इत्यादि आत्माका लक्षण हो ही कहांसे सकता है? इसलिये उन सबसे भिन्न आत्माका ज्ञान लक्षण सर्वांगपूर्ण-निर्दोष है। ऐसे आत्माके असाधारण लक्षणको न जानते हुए नपुंसकपनसे अत्यन्त विमूढ़ हो रहे हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि तू भीतरसे जागनेका पुरुषार्थ न करे और परको अपना मानकर उसमें सुख माने तो तू नपुंसक है पुरुषार्थहीन है। आचार्यदेवने नपुंसक कहकर कुछ कठोर विशेषणका प्रयोग किया है तथापि उनके इस कथनमें करुणा विद्यमान है। जिसे धर्मकी प्रतीति नहीं है और जिसे यह खबर नहीं है कि आत्महित क्या है, स्वतंत्रता क्या है और आत्मबल क्या है, वह अपने ज्ञानस्वरूपको भूलकर परको अपना मानकर, अपने आत्मवीर्यको न मानता हुआ नपुंसक हो रहा है।

मेरा आत्मबल पुण्य-पापके विकारको क्षणभरमें नष्ट करनेवाला और केवलज्ञान प्रगट करनेवाला है। ऐसे अपने स्वभावको न जानता हुआ अत्यन्त विमूढ़ होता हुआ नपुंसक है।

आत्माके स्वरूपको न जाने और अज्ञानी बना रहे तो उसके फल स्वरूप नपुंसक और निगोदमें जाना होगा। उसे कोई भान नहीं है, इसलिये इन्द्रियोंको हारकर एकेन्द्रियमें जायेगा, निगोदका फल प्राप्त करेगा। वहाँ मात्र नपुंसक वेद है, वहांसे अनन्त कालमें भी निकलना कठिन हो जायेगा। इसलिये यहाँ तत्वको पहिचाननेका उपदेश है।

यह सबसे पहले जानना चाहिये कि आत्मा क्या है, और उसका लक्षण क्या है। शरीरका प्रत्येक रजकण आत्मासे भिन्न है और वह रूपी है। पुण्य-पापकी वृत्ति आत्मस्वभावमें नहीं है इसलिये उस अपेक्षासे वह रूपी है, और जड़ है। उन सबके बीचमें आत्मा एक

अन्दर चैतन्य पदार्थ है, उसका परिचय प्राप्त किये बिना एकाग्र कहाँ होगा? पदार्थका परिचय प्राप्त किये बिना पदार्थमें एकाग्रता नहीं होता; और एकाग्रता हुये बिना धर्म कहाँसे होगा? हित कहाँसे होगा? और सुख कहाँसे होगा? यदि आत्मस्वभावका परिचय करके, श्रद्धा करके उसमें स्थिर हो तो धर्म हो।

भीतर भगवान आत्मा कौन है, उसका असाधारण लक्षण जाने बिना उसकी पहिचान नहीं हो सकती। आत्माका ज्ञानस्वभाव है इसका अर्थ यह नहीं है कि शास्त्रके पन्ने ज्ञान देते हैं, किन्तु ज्ञान अपने आत्माके ज्ञान स्वभावमेंसे ही आता है। ज्ञान आत्माका असाधारण लक्षण है, अर्थात् वह विभक्त नहीं है। थोड़ा ज्ञान गुरुसे प्राप्त हो, थोड़ा शास्त्रसे प्राप्त हो, और थोड़ा आत्मासे प्राप्त हो, इस-प्रकार ज्ञानस्वभाव एकत्रित होता हो सो बात नहीं है। किन्तु आत्माका ज्ञान-स्वभाव अनादि अनन्त स्वतः है; वह किसी परसे प्राप्त नहीं होता उसे कोई पर दे नहीं देता, मैं मात्र अपने स्वतः ज्ञानके द्वारा ज्ञानसे जानता हूँ। ज्ञान कहीं शरीरादिमें, या आन्तरिक वृत्तियों-में विभक्त नहीं है। हे प्रभु? यह शरीर, इसके अंग प्रत्यंग और श्वासोच्छ्वासादि तू नहीं है। तू तो असाधारण ज्ञान गुणरूप है। असाधारण-का अर्थ यह है कि वह आत्मामें ही है, अन्यत्र नहीं। जो आत्मासे अलग नहीं हो सकता वह असाधारण है। शरीरादि तथा रागादि आत्मासे अलग हो सकते हैं इसलिये वे आत्माका लक्षण नहीं है।

असाधारण आत्मस्वभावको न जाननेवाले, उसकी श्रद्धा न करने वाले तथा उसमें स्थिर न होनेवाले नपुंसक हैं। पुण्य-पाप जो क्षणिक विकार हैं सो मैं नहीं हूँ। मैं तो नित्य चिदानन्द स्वभाव हूँ। ऐसे [illegible] स्वीकार नहीं है, वह परमें आत्मबुद्धि लगानेवाला [illegible] नपुंसक है ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

[illegible] जो [illegible] है वह आत्मामें है, अर्थात्

अपनेमें है। मेरा स्वरूप [illegible] रहा है, ऐसा न माननेवाले, पर पदार्थोंको अपना मानता है, [illegible] पहिचाना–आत्मतत्त्वको नहीं जाना, क्योंकि शरीर और मन इत्यादि-को अपना मानकर उसीमें रुककर वीर्यहीन हो रहा है, [illegible] अनन्त अरूपी तत्त्वको रोककर वीर्यहीन हो गया है, आत्मा परसे भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है, पुण्य–पाप आत्मा नहीं है; आत्माका गुण आत्मामें है। किन्तु आत्माका चिह्न क्या है? आत्माका गुण क्या है? और आत्माकी स्वतंत्रता क्या है? इसे न जाननेवाले नपुंसक है।

आचार्यदेव करुणा करके कहते हैं कि तू अनादि अनन्त है, और तेरे गुण भी अविनाशी हैं। तू भीतर अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है, निर्दोष वीतराग स्वरूप है, और क्षणभरमें केवलज्ञान तथा परमात्मा दशा प्रगट कर सके; ऐसा है; उसे भूलकर तू इन पर पदार्थोंमें यहां रुक गया है? यह सदोषरूप तेरा स्वरूप नहीं है, उसमें वीर्यहीन होकर क्यों अटक रहा है? तू अपने स्वरूपकी प्रतीति कर।

बहुतसे विमूढ़ जीव परमार्थभूत आत्माको न पहिचाननेवाले, तत्त्व दृष्टिको न समझनेवाले नपुंसक होते हैं, अर्थात् वे निगोदमें जाते हैं। वे वर्तमान तत्त्वदृष्टिको नहीं समझते इसलिये नपुंसक हैं, और भविष्यमें भी नपुंसक होंगे। वे आलू सकरकन्द इत्यादि निगोदमें जायेंगे। स्मरण रहे कि आलू सकरकन्द इत्यादिमें भी आत्मा है,–चैतन्य है, उसे निगोदिया जीव कहते हैं, जो कि मात्र नपुंसक ही होते हैं।

देवोंमें स्त्री और पुरुष दोनों होते हैं, नपुंसक नहीं होते। नरकमें मात्र नपुंसक ही होते हैं। जो जीव मनुष्यभव प्राप्त करके महा हिंसा करते हैं, गर्भपात करते हैं, मदिरा मांसका सेवन करते हैं, और कोडलिवर तेल इत्यादि पीते हैं वे सब यहाँसे मरकर नरकमें जाते हैं, और जो तत्त्वदृष्टिके प्रति विरोध भाव करते हैं, वे निगोदमें जाते हैं। मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मस्वभावको पहिचाने, और आत्मदशाका साधन करे

तो वह मोक्षमें जाता है। निगोदका काल अनन्त है। त्रसका काल दो हजार सागर ही है। आत्मतत्त्व परसे निराला है, उसे नहीं जाना और आत्मस्वभावसे विरोध भाव किया तो वह निगोदमें जाता है। बीचमें दो हजार सागर ही त्रसमें रह सकता है, इसप्रकार त्रसका काल अल्प है। एक तो मोक्ष अवस्था दूसरी निगोद अवस्था–दोनों परस्पर एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत है। मोक्ष दशा सादि अनन्त है और निगोदमेंसे अनंतानंत-कालमें निकलना कठिन होता है, इसलिये यदि तत्त्वपरिचय न किया तो निगोदमेंसे निकलकर अनन्तकालमें भी लट आदि दो इन्द्रियका भव पाना भी कठिन हो जायेगा। यदि तत्त्वको समझ ले तो मोक्ष और तत्त्वको न समझे तो निगोद है। बीचमेंसे त्रसका काल निकाल दिया जाये तो सीधा निगोद ही है और तत्त्वको समझनेके बाद जो एक दो भव होते हैं उन्हें निकाल दिया जाये तो सीधा सिद्ध ही है।

नरककी अपेक्षा निगोदमें अनन्तगुणा दुःख है। बाह्य संयोग दुःखका कारण नहीं है, किन्तु ज्ञानकी मूढ़ता ही दुःख है। अग्निमें झुलस जाना दुःख नहीं है किन्तु यह प्रतिकूलता मुझे होती है इसप्रकार मोह करना ही दुःख है। इसप्रकार अनुकूलतारूप बाह्य सुविधाओंके साधन मिलनेसे सुख नहीं होता, किन्तु उनमेंसे मुझे सुख होता है, इसप्रकार मोहसे कल्पना करता है, किन्तु वह सुख नहीं, दुःख ही है।

बहुत बड़ा सम्पत्तिशाली हो, सभी प्रकारकी बाह्य सुविधाएं हों और सिरपर पंखा घूम रहा हो, उसमें सुख मान रहा है, मानों सारा सुख इसी वैभवमें आ गया हो। किन्तु भाई! जैसे पंखेमें चार पंखे [illegible] है उसी प्रकार चार गतियोंका चार पंखोंवाला पंखा तेरे सिर पर घूम रहा है, इसलिये उसमें सुख मानना छोड़ दे और अपने आत्माको [illegible], अन्यथा सीधा निगोदमें जायगा कि जहाँसे फिर [illegible] कठिन हो जायगा।

[illegible] यहाँ कहते हैं कि [illegible]

करना तेरे हाथकी वात नहीं है. हारना–जीतना पूर्व कृत पाप–पुण्यके अनुसार होता है, राजाओंमें जो लड़ाई होती है उसमें वे जीतते हैं या हारते हैं सो यह पूर्व कृत पुण्य–पापके योगानुसार होता है; वर्तमान प्रयत्नसे जीतना–हारना नहीं होता, किन्तु आत्मधर्मको प्रगट करना आत्माके वर्तमान प्रयत्नके हाथकी वात है।

अज्ञानी कहता है कि राग–द्वेप रूप मलिन परिणाम ही आत्मा है। मलिन भावसे भिन्न आत्मा दिखाई नहीं देता, जैसे कालेपनसे भिन्न कोई कोयला दिखाई नहीं देता।

पुस्तक, दवात, कलम इत्यादिमें राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि जिसमें ज्ञानगुण, शांतगुण, निर्मलगुण नहीं है, उसमें विकार भी कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि जिसमें गुण होता है उसीमें उससे विपरीत रूप अवगुण होता है। गुणका विपर्यास ही तो अवगुण है राग-द्वेप आत्माके गुणकी विपरीतता है। जिसमें शांत गुण क्षमा गुण ज्ञान गुण न हो, उसमें राग-द्वेष और क्रोधरूप विपरीतता भी नहीं होती, इसलिये अवगुण आत्माकी पर्यायमें होते हैं किन्तु वे आत्माका स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वह गुणकी विपरीतता है, इसलिये जो अवगुण हैं सो आत्मा नहीं है, किन्तु आत्मा, अवगुणसे अलग है। उस अवगुणरूप विपरीततासे भवका अभाव नहीं हो सकता और मुक्ति नहीं मिल सकती।

कोई अज्ञानी कहता है कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है, और अनन्त भविष्यका अवयव है, ऐसी जो एक संसरणरूप (भ्रमणारूप) क्रिया है सो उसरूपमें क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्मसे भिन्न कोई जीव देखनेमें नहीं आता, इसलिये कर्म ही जीव है।

जैसे राग-द्वेपके भाव किये हों उसी प्रकार कोआ कुत्ता बिल्ली इत्यादिके भव मिलते हैं, इसका कारण पूर्व अवयव अर्थात् पूर्वकृत कर्मका फल है। अज्ञानीको कर्मसे भिन्न आत्मा नहीं जमता। उसकी समझमें कर्मसे भिन्न अक्रिय ज्ञान स्वरूप आत्मा है वह नहीं बैठता; किंतु

आत्मासे भिन्न जो कर्म है सो वही अज्ञानीको दिखाई देता है।

एक अभिप्राय ऐसा है कि जो पूर्व अवयव अर्थात् अनादिकालके कर्म बँधे हैं वे अब कैसे छूट सकते हैं? किंतु भाई! वे कर्म तेरी भूलके कारण बंधे हैं तेरी भूलको लेकर ही तू परिभ्रमण कर रहा है, यह चौरासीका चक्कर भी तेरी भूलके कारण लग रहा है, इसलिये तू अपनी भूलको दूर कर तो कर्म छूट जायेंगे। परिभ्रमण करनेमें कर्म तो निमित्त मात्र है। तूने अपनी अनादिकालीन भूलको नहीं छोड़ा इसलिये तुझे परिभ्रमण करना पड़ रहा है; किंतु जिसे अपनी भूलकी खबर नहीं है वह यह मानता है कि—यह कर्म ही मुझे परिभ्रमण करा रहे हैं और कर्म ही पराधीनतामें डाले हुए हैं।

जैसे एक मनुष्य किसी धर्मशालामें गया और वहाँ अँधेरे कमरेमें चला गया, कमरेके मध्यमें पत्थरका एक खम्भा था, उसे देखकर वह समझा कि यह कोई मनुष्य है-चोर है; वह उसे पकड़ गया और उस मनुष्यरूप माने हुए पत्थरसे लिपट-झिपट करने लगा थोड़ी ही देरमें वह पत्थर उस मनुष्य पर आ गिरा, फिर क्या था? वह मनुष्य नीचे और पत्थर उसकी छाती पर? तब वह मनुष्य बोला कि भाई! तू जीता और मैं हारा, अब तो उठ और मुझे छोड़? किन्तु वहाँ कौन उठता और छोड़ता? उस मूर्खने तो पत्थरको आदमी मान रखा था और पत्थरको स्वयं ही पकड़ रखा था। इसीप्रकार स्वयं कर्मरूपी पत्थरको पकड़ बैठा है, और कहता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। वह अज्ञानी जीव कर्मोंसे कहता है कि अब तुम मेरा पिंड छोड़ो, किन्तु वह यह नहीं समझता कि स्वयं ही कर्मोंको लपेटे हुए है, यदि वह उनसे अलग होना चाहे तो कर्म तो अलग हुए ही पड़े हैं। हे! अज्ञानी जीव तू अपनी विपरीत मान्यताको छोड़! कर्म तुझे बाधा नहीं दे सकते, क्योंकि एक तत्त्व दूसरे तत्त्वको त्रिकालमें भी बाधा देनेको समर्थ नहीं है।

अब जीवपक्षके अवयवकी बात करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मुझे कर्म कब तक चक्कर खिलायेंगे किन्तु ऐसा कहनेवाले पुरुषार्थहीन

नपुंसक हैं। कर्म तुझे दुःखी करेंगे अथवा कर्मोंने मुझे परेशान कर डाला इसप्रकार तू क्या कह रहा है? कुछ विचार तो सही! क्या जड़ कर्म तुझे हैरान कर सकते हैं? क्या तेरी सत्तामें पर सत्ता कभी प्रवेश कर सकती है कि जो तुझे हैरान करे या दुःखी कर सके। जैसे कोई महिला अपने लड़केसे कहकर बहार जाये कि घरको देखना मैं अभी आती हूँ। उधर माँके जाने पर लड़का खेलनेमें लग गया और बिल्ली दूध पी गई। जब माँ आकर देखती है तो लड़केसे नाराज होती है और कहती है कि तू घरमें मरता था कि नहीं? इसप्रकार माताके कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि तू घरमें मर गया था या नहीं किंतु वह यह व्यक्त करना चाहती है कि तू घरमें था या नहीं। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि अकेले कर्म ही हैं या तेरा भी कोई अस्तित्व है? तू कहाँ चला गया? तुझमें कुछ दम है या नहीं? वहाँ तू है या मात्र कर्म ही है? तू विपरीततासे अलग हो जा, कि कर्म अलग ही हुए पड़े हैं। इस शरीरके कारणभूत जो कर्मके रजकण थे उनके हटने पर यह शरीर भी हट जाता है। जो अलग होने योग्य होता है वह सब अलग हो जाता है। मात्र चिदानन्द ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसके अतिरिक्त शरीरादिक तथा क्रोधादिक सब पर पदार्थ हटने योग्य हैं और वे हट जाते हैं।

शरीरमें जो रोग होता है सो किसी कर्मका कार्य है, और जब रोग हट जाता है तब उसका कारणभूत कर्म भी हट चुका होता है। स्वयं राग-द्वेष-काम-क्रोध न करे तो उसका कारण कर्म भी हट जाता है, और मात्र अलग आत्मा रह जाता है।

कर्मका नाम शास्त्रमेंसे सुना और कहने लगा कि कर्मोंके कारण गति मिलती है, और जैसी गति होती है, वैसी मति होती है, इत्यादि। किन्तु ऐसी उल्टी बात न कहकर यह कहना चाहिये कि जैसी मति होती है वैसी गति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमें इन अवतारोंसे अलग नहीं होना है,

हम तो यह चाहते हैं कि अच्छे अवतार मिला करें और भव धारण करते रहें। कुछ लोग यह चाहते हैं कि हमें तो निरन्तर मनुष्यभव मिलता रहे और हमारी सोने चांदीकी दुकानें चलती रहें, बस हमें फिर मुक्ति नहीं चाहिए। किन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि उन्हें मुक्ति तो मिल ही नहीं सकती किन्तु निरंतर मनुष्यभव धारण करते रहनेके योग्य पुण्य बँध भी निरंतर नहीं हो सकता। क्योंकि जब आत्म-प्रतीति नहीं करेगा तो पुण्यभावके बाद पापभावका आना अवश्यम्भावी है।

अज्ञानी जीव दया और दानके उच्च शुभ भाव करे तो उससे उसे उत्कृष्ट पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागरकी स्थितिवाला पुण्य बन्ध हो, किन्तु शुभ परिणाम विकार है और विकार मेरा स्वभाव नहीं है। विकारको नाश करनेकी मेरी शक्ति है जिसे यह खबर नहीं है, उस अज्ञानीके पुण्यकी बड़ी स्थिति बंधती है, किन्तु ज्ञानीके पुण्यकी बड़ी स्थिति नहीं बँधती, क्योंकि उसकी दृष्टि पुण्य पर नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव पर है। उसने विकारको अपना स्वभाव नहीं माना इसलिये उसे पुण्यका रस अधिक और स्थिति कम पड़ती है, वह उत्कृष्ट स्थिति अंतःकोड़ा-कोड़ी सागरकी बाँधता है; किन्तु अज्ञानी पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागरकी स्थिति बाँधता है, किन्तु पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागरोपमका पुण्य भोगनेका इस जगतमें कोई स्थान है ही नहीं, क्योंकि यदि स्वर्गमें गया तो वहाँ दो हजार सागरसे अधिककी स्थिति नहीं है। अज्ञानीकी दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिये शुभभावको बदलकर अशुभमें आकर पुण्यकी [illegible] स्थिति तोड़कर निगोदमें चला जायेगा।

जिसकी दृष्टि पुण्य पर है, जो पुण्यमें धर्म मानता है, और जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा पुण्य-पापका नाशक है, वो [illegible] पुण्यकी स्थिति तोड़कर निगोदमें चला जायेगा। ज्ञानीकी दृष्टि [illegible] पर है, इसलिये वह पुण्यकी बंधी हुई स्थितिको तोड़कर [illegible] जायेगा, शुभपरिणामको तोड़कर शुद्धमें चला जायेगा, और [illegible] शुभ परिणामको तोड़कर अशुभमें चला जायेगा।

सर्वज्ञ भगवानने जैसा देखा है वैसा कहा है। सर्वज्ञ भगवान किसीके कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता हैं। इस समय वर्तमानमें महाविदेह क्षेत्रमें त्रिलोकी नाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर भगवान विराजमान हैं वे जगतके ज्ञाता हैं कर्ता नहीं। उन सर्वज्ञ भगवन्तोंने अज्ञानियोंके अभिप्रायोंको जैसा जाना है, वैसा ही कहा है।

अज्ञानी मनुष्य बालतप, अज्ञानकष्ट करता है, उससे कदाचित पुण्य बांध ले किन्तु उसकी दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिये शुभको बदलकर अशुभ हो जायेगा। क्योंकि पुण्य परिणाम करते समय ऐसा विपरीत अभिप्राय था कि जो पुण्य है सो मैं हूँ, इसलिये पुण्यके साथ ही दर्शन मोहका भी बन्ध हुआ था। विपरीत मान्यताके बलसे पुण्यकी स्थितिको तोड़कर अशुभभाव करके नरक निगोदमें चला जायेगा।

ज्ञानी समझता है कि मैं इस राग–द्वेषका उत्पादक नहीं हूँ। अतः शुभ राग होता है किन्तु मैं उसका उत्पादक नहीं हूँ. मैं तो अपने स्वभावका उत्पादक हूँ। इसप्रकार ज्ञानीकी दृष्टि शुद्ध पर होती है, इसलिये वह पुण्यकी स्थितिको तोड़कर शुद्धमें चला जायेगा।

यहां आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव कर्मको ही आत्मा मानते हैं उन्हें यह खबर नहीं है कि कर्मोंका नाश करके वीतरागता प्रगट करनेवाले हम ही हैं, वे जीव संसारमें ही परिभ्रमण करते रहेंगे।

श्रेणिक राजा जैसे एकावतारी हुए हैं सो वह सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञानका प्रताप है आत्माका निर्मलस्वभाव परसे भिन्न है ऐसी प्रतीति करके और उस प्रतीतिके बलसे वे एकावतारी हो गये हैं। श्रेणिक राजाके भवमें उन्होंने तीर्थंकर गोत्रका बंध किया है। अभी वह प्रथम नरकमें है, वहांसे निकलकर वह तीर्थंकर होंगे। जैसे यहां भगवान महावीर थे उसी प्रकार वे आगामी चौबीसीमें तीर्थंकर होंगे।

आत्मा और दूसरे जड़पदार्थके स्वभावको यदि अपना माने तो

इससे भिन्न श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रका पुरुषार्थ नहीं किया जा सकेगा। आत्माका हितरूप और सुखरूप स्वभाव अनादिकालसे विद्यमान है, उसपर जो कर्मका लेप चढ़ा हुआ है उसे जब तक पृथक जानने और माननेमें न आवे तब तक उसे अलग करनेका अंतरंग पुरुषार्थ नहीं हो सकता। ज्ञान मूर्ति भगवान आत्मा जिस स्थान पर है, उसी स्थानपर अन्य कर्मकी उपाधिरूप विकार दिखाई देता है, उसे अपना माननेसे भी पृथक्त्वका पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता। चैतन्य सत्ता कर्म और कर्मके विकारसे भिन्न है, ऐसा सुनने समझने और मनन करनेका पुरुषार्थ जिसके नहीं है, वह कहीं न कहीं, अपने अस्तित्वको स्वीकार तो करेगा ही, इसलिये शुभाशुभभावको अपना मानकर वहीं अड़ जाता है।

कोई अज्ञानी यह कहता है कि कोयला, कालेपनसे अलग कोई वस्तु नहीं है, इसी प्रकार राग-द्वेषरूप अध्यवसान और जीव अलग नहीं है। अध्यवसान अर्थात् कर्म और आत्माका एकत्व बुद्धिरूप अभिप्राय। अज्ञानी कहता है कि हम तो विकारी भावमें ही [illegible] उससे अलग कोई जीव हमें दिखाई ही नहीं देता।

और अज्ञानी कहता है कि हमने कभी भी आत्माको [illegible] अलग नहीं देखी है, इसलिये हम तो कर्मको ही आत्मा मानते हैं। अनादि संसारमें परिभ्रमण करनेरूप जो क्रिया और [illegible] करता हुआ जो कर्म है, वही हमारे मतसे आत्मा है। [illegible] कर्मके आधारसे ही आत्माको मानता है। [illegible] क्योंकि [illegible] आत्माको एक ही मानते हैं, क्योंकि उन्हें [illegible] है, और कर्मोंका [illegible] पर विश्वास है इसलिये वे [illegible] आत्मा मानते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि पुण्य करते करते धर्म होता है, अर्थात् राग करते करते धर्म होता है, किन्तु रागको छोड़कर रागसे पार जो धर्म होता है वह बात उसको नहीं बैठती।

आचार्यदेव कहते हैं कि एक तो यह मनुष्य देह मिलना ही दुर्लभ है, और फिर उसमें ऐसी यथार्थ बात जानने पाना और भी कठिन है। यदि यह ज्ञात न हो कि मैं स्वाश्रयी तत्व क्या हूँ और मेरा शरणभूत कौन है तथा सत्यको श्रवण करनेकी रुचि भी न हो, तो फिर कहाँसे जाकर उसका उद्धार होगा? स्वयं अपूर्व तत्वको न समझे तो समझाने वाले भी वैसे ही मिल जाते हैं। जब कि अपना उपादान ही वैसा होता है वैसा ही निमित्त भी मिल जाता है।

अज्ञानी कहता है कि मंद-तीव्र रागसे पार पहुँचनेकी बात हमें नहीं बैठती। तीव्र राग और मन्दरागकी संतति अर्थात् एकके बाद एक

प्रवाह चलता रहता है। एक समय आहार संज्ञा होती है तो दूसरे समय मैथुन संज्ञा होती है और फिर तीसरे समय भक्ति-पूजाके परिणाम हो जाते हैं; इसप्रकार एकके बाद एक संतति चलती रहती है, किन्तु अज्ञानीके मनमें यह बात नहीं जमती कि-इस संततिको तोड़कर आत्माका निर्मल चैतन्यस्वभाव प्रगट किया जा सकता है। अज्ञानी मानता है कि संततिको तोड़ा ही नहीं जा सकता। वह यह नहीं समझ पाता कि संततिको तोड़नेवाला मैं उससे भिन्न, नित्य, ध्रुव आत्मा हूँ।

अज्ञानीको यह स्थूल शरीर तो दिखाई देता है, किन्तु भीतर होने वाले सूक्ष्म राग-द्वेष दिखाई नहीं देते, और वे राग-द्वेष आत्माको बाधा पहुँचाते हैं यह नहीं देखता, इसलिये राग द्वेषको ही आत्मा मानता है, यदि कोई उससे पूछे कि क्या तुझे कोई भीतर बाधा देते हैं? तो साफ इन्कार कर देता है कि नहीं, कोई बाधा नहीं देता। इसका कारण यह है कि उसे जो तीव्र और मंद राग बाधा दे रहे हैं, वे दिखाई नहीं देते। यदि कोई मार दे, काट दे तो वह दिखाई देता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं ज्ञानघन आत्मा सूक्ष्म राग-द्वेषसे भिन्न हूँ, इसलिये उसे वे राग-द्वेष बाधक नहीं मालूम होते।

कोई अज्ञानी कहता है कि नवीन और पुरानी अवस्थादिकरूप प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीरसे अन्य कोई भिन्न जीव दिखाई नहीं देता।

अज्ञानी कहता है कि हमारे हिलने-डुलने और चलने फिरने आदिरूप अवस्थाके अतिरिक्त अन्य कोई पृथक् आत्मा हमें दिखाई नहीं देता। नई पुरानी अवस्थादिके भेदसे प्रवर्तमान, अर्थात् बाल [illegible] और वृद्धावस्था रूपसे परिवर्तित होता हुआ नोकर्म [illegible] है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव दृष्टिमें [illegible] नहीं आता।

[illegible]

है उस समय इनकी अवस्था अलग हो और मेरी अवस्था अलग हो ऐसा हमें भासित नहीं होता। बालक होना, युवक होना और वृद्ध होना, इसप्रकार नई-पुरानी अवस्था और हलन चलन तथा बोलने इत्यादिकी सारी अवस्था उसके भावमें होती है, किन्तु अज्ञानीको यह भासित नहीं होता कि इसकी अवस्था और मेरी अवस्था अलग अलग है। शरीरकी अवस्था अपने आप ही परिणमित होती है, यदि ऐसा न हो तो किसीको बुखार चढ़ानेकी इच्छा नहीं होती तथापि बुखार आ जाता है, शरीरमें कमजोरी हो ऐसा कोई नहीं चाहता, फिर भी कमजोर हो जाती है, शरीरको बहुत अच्छा रखनेकी इच्छा होनेपर भी सूखकर लकड़ी हो जाता है; इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीरकी समस्त अवस्थाएं अपने आप ही परिणमित होती है, इसमें आत्माका कुछ नहीं चलता है।

अज्ञानी कहते हैं कि—यह बात तो हमारी समझमें आती है कि पुण्य पापके रसको हम करते हैं, किन्तु उससे भिन्न आत्माका जो शांतरस है उसे आत्मा कर सकता है, यह बात हमारी समझमें नहीं आती। शुभाशुभका जो विपाक भीतर उदयमें आता है, यहाँ उसके कर्तृत्वका आशय लिया गया है। अज्ञानी कहता है कि ऐसे शुभाशुभ विपाकसे भिन्न आत्माका गुण मानना और उस गुणकी अवस्था भी शुभाशुभविपाकसे भिन्न प्रगट करना सो यह बात हमें नहीं जमती। किन्तु पुण्य-पाप आत्माका स्वभाव नहीं है और आत्मा उन भावोंका कर्ता भी नहीं है, मगर स्थिरबिंबस्वरूप आत्माके शांतरसका आत्मा कर्ता है। अज्ञानीको यह बात नहीं जमती।

जगतको यदि उसके अनुकूल कहनेवाले, चापलूस लोग मिल जायें तो उनकी बात जम जाती है। आज पैसे वालोंकी हाँमें हाँ मिलानेवाले बहुतसे लोग पाये जाते हैं। यदि कोई अच्छी रकम कमा लेता है, और कोई दो चार हजार मासिक वेतन पाने लगता है तो वह उसकी वर्तमान चतुराई या बुद्धिका फल नहीं है, किन्तु पूर्वकृत पुण्यका उदय है। वर्तमानमें अनेक काले कृत्य करनेवाले भी अच्छी सम्पत्ति प्राप्त कर रहे हैं, और बड़ी बड़ी पदवियाँ भी पा लेते हैं, किन्तु यह सब पूर्वकृत पुण्यका परिणाम है। अभी जो कुकृत्य कर रहे हैं सो उसका फल आगामी भवमें बुरा मिलेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! यदि ऐसे शुभअवसरमें भी धर्म नहीं करोगे तो कब करोगे? तुझे अपनी तो खबर है नहीं और परके द्वारा अपना हित और धर्म करना चाहता है, सो यह कैसे होगा? यह तो अपने आत्मबलको हीन करनेकी, उसे नपुंसक बनानेकी बात है। संसारके तथाकथित स्याने और समझदार लोग भी आत्माको बलहीन बनानेकी बात करते हैं। उनको आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा क्या है समझो, और धर्म क्या है तथा हित क्या है सो [illegible]। अज्ञानी कहता है कि-कर्मोदयसे शुभाशुभ भावका जो रस [illegible] आता है, उसमें युक्त होना सो आत्मा है, उससे भिन्न गुणोंको प्रगट करना [illegible]

अज्ञानी कहता है कि हमारे [illegible] ... कि आत्माको पुण्य-पापके फलके अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव नहीं है, अथवा अन्य कुछ निराकुल सुख भोगना आता है। और वह (अज्ञानी) कहता है कि जो एक ओर सुख भोगते हैं वे ही दूसरी ओर कभी दुःख भी भोगते हैं; किन्तु इसके अतिरिक्त कोई आत्मिक वस्तु ही हो नहीं सकती। आत्म-प्रतीति होकर आत्माका स्वाद आये और आत्माके आनन्दका भोग करते हुए अनुभवका रस मिले यह बात भी नहीं जमती। हाँ, यह बात अवश्य जमती है कि अनुकूलताका सुख और प्रतिकूलताका दुःख-दोनों भोगना पड़ते हैं। जो सुख भोगता है, उसे दुःख भी भोगना पड़ता है; किन्तु आपकी यह निश्चय बात कुछ जचती नहीं है कि-साता-असाताके रसको नाश करके चैतन्य कोई अलग तत्व है। ऐसे अज्ञानीसे ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि-कितने ही जीव पुण्य-पापके फलके अतिरिक्त आत्मसंवेदनका स्वाद लेते हैं, इसलिये आत्माके स्वभावका उपभोग हो सकता है। किन्तु जिसे आत्माके सुखका विश्वास नहीं जमता और जो यह कहता है, कि-जो सुख भोगता है वह दुःख भी भोगता है, वह मूढ़-अज्ञानी है। उसे विकारकी रुचि है, किन्तु आत्माके सुखकी रुचि नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि श्रीखंडकी भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म-दोनोंका संयोग ही जीव है, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे मुक्त कोई जीव दिखाई नहीं देता।

कोई कहता है कि श्रीखंडकी भाँति आत्मा और कर्म दोनों एक होकर काम करते हैं। आत्माका गुण प्रगट होता है, उसमें कुछ तो

आत्माका, और कुछ कर्मका गुण मिला हुआ होता है।

जगतमें कुछ लोग यह कहते हैं कि आप आत्मा ही आत्मा की बात करते हैं सो ठीक, किन्तु क्या यह सच नहीं है कि–अधिकांश भाग आत्माका और कुछ भाग कर्मका होता है? ज्ञानी कहते हैं कि नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। कर्मका शत प्रतिशत भाग कर्ममें और आत्माका शत प्रतिशत भाग आत्मामें है; आत्माका कर्ममें और कर्मका आत्मामें किंचित् मात्र भी भाग नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि केवलज्ञानको प्रगट करनेमें मानव-शरीर और उसमें भी हड्डियोंकी सुदृढ़ता (वज्रवृषभनाराच संहनन) आवश्यक है। किन्तु ऐसा कहनेवाले उपरोक्त अज्ञानियों जैसे ही हैं, क्योंकि उन्होंने मानव शरीर और हड्डियोंकी सुदृढ़ता (जड़ पदार्थ) तथा आत्माको मिलाकर केवलज्ञान होना माना है। उन्हें यह खबर नहीं है कि हड्डियोंकी दृढ़ता उनके अपने कारणसे है और आत्माको केवलज्ञान होना आत्माके कारण है, दोनोंके स्वतंत्र कारण सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। आत्मा आकाशादि द्रव्यकी भांति स्वतंत्र, अखंड और पूर्ण वस्तु है; उसका गुण किसीकी सहायतासे किंचित मात्र भी प्रगट नहीं हो सकता।

इस मानव शरीरमें पहले बाल्यावस्था होती है, फिर युवावस्था और फिर वृद्धावस्था होती है, और उसके बाद दूसरे भवमें गमन हो जाता है। अनेक तो वृद्धावस्था होनेसे पहले ही चल बसते हैं। और इस मनुष्यभवमें धर्म और आत्महितको नहीं समझा तो फिर [illegible] और [illegible] करना कहां होगा? आत्मा गुणोंका मूर्त [illegible] है [illegible] आत्महितको नहीं समझ पाया और मिथ्यात्व मान्यता [illegible] है; इसलिये अज्ञानी जीवने सम्पूर्णतया कर्मोंको ही आत्मा मान लिया है और पर कर्मोंसे भिन्न आत्माको नहीं पहिचानता।

कोई अज्ञानी यह कहता है कि सर्व क्रियायें ([illegible]

समर्थ कर्मका संयोग ही जीव है, क्योंकि जैसे लकड़ी आठ टुकड़ोंके संयोगसे भिन्न अन्य पृथक् कोई पलंग नहीं होता, इसीप्रकार कर्म-संयोगसे पृथक् अन्य कोई जीव देखनेमें नहीं आता।

जैसे लकड़ीके आठ टुकड़ोंके संयोगसे पलंग वनता है, और उन आठ टुकड़ोंसे अलग कोई पृथक् पलंग नहीं होता। इसीप्रकार अष्टकर्मोंके रजकण एकत्रित होकर कर्म संयोग मिलकर आत्मा उत्पन्न होता है, इस प्रकार कई अज्ञानी जीव मानते हैं।

कुछ अज्ञानी जीव कुतर्कसे यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि जैसे महुआ, खजूर और अंगूर इत्यादिको एकत्रित करके–उन्हें सड़ाकर शराव उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अष्टकर्मके संयोगसे आत्मा उत्पन्न होता है, इसप्रकार मानने वाले तथा आठ लकड़ियोंके पलंगकी भाँति आत्म-स्वरूपको अष्टकर्मका पुतला माननेवाले चैतन्य भगवानको अलग नहीं मानते। वे अष्टकर्मोंके एकत्रित होनेसे चैतन्यकी क्रियाका होना मानते हैं, किन्तु उनको यह वात नहीं जमती कि चैतन्यको क्रिया अलग है। जैसे पलंग और पलंगमें सोनेवाला अलग है वैसे ही अष्ट कर्मका संयोग भी अलग और उसी स्थानमें रहनेवाला आत्मा भी अलग है।

ऐसा उत्तम मानव शरीर प्राप्त करके परमात्मस्वरूप आत्माका परिचय प्राप्त नहीं किया और श्रद्धा नहीं की तो फिर अव कहाँ जाकर पार लगेगा? किसकी शरणमें जायेगा? कहाँ जायेगा? तेरे अरण्य रोदनको कौन सुनेगा? जव घोर वनमें अकेले हिरन पर कोई सिंह आक्रमण कर देता है तव वहाँ कौन उस वेचारेकी पुकारको सुनता है, इसीप्रकार जव काल तुझे अपना ग्रास वनायेगा तव कौन तेरी पुकार सुनेगा? उस समय कुटुम्व कवीला और मित्र मंडल क्या कर सकता है? वड़े वड़े राजा महाराजा भी इसीप्रकार कालके ग्रास हो जाते हैं, उस समय उनके सव वैभव पड़े रह जाते हैं। इसलिये यह तो विचार कर कि तू मरकर कहाँ जानेवाला है?

सत् समागमके द्वारा श्रवण-मनन करके परसे आत्माको भिन्न करनेका विवेक न करे तो इससे क्या लाभ है? कोई पुण्यमें लग जाता है और कोई पापमें, कोई आशीर्वादसे अपना अच्छा होना मानता है तो कोई श्रापसे बुरा होना मानता है। किन्तु भाई तूने जो किसी पर करुणा आदिके शुभभाव किये या किसीको दुःखी करनेके अशुभ भाव किये सो उन्हींका फल तुझे मिलनेवाला है; इनके अतिरिक्त किसीके आशीर्वाद या श्रापसे लेशमात्र भी अच्छा बुरा नहीं हो सकता। तीनलोक और तीनकालमें भी किसीके आशीर्वाद या श्रापसे आत्माका हिताहित नहीं हो सकता। जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ है वह ऐसे विविध प्रकारके मिथ्यात्वोंमेंसे कहीं न कहीं शरण लेकर जा खड़ा होता है।

इसप्रकार आठ ही तरहके नहीं किन्तु अन्य भी अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि जीव परको आत्मा मान रहे हैं। उन्हें परमार्थवादी कभी भी सत्यार्थवादी नहीं मानते। सत्यार्थवादी तो वही है जो उपरोक्त आठ प्रकारोंसे भिन्न आत्माको माने, जाने और उसमें स्थिर हो, वही सत्यार्थवादी है, शेष कोई भी सत्यार्थवादी नहीं कहा जा सकता।

भगवान आत्मा अनन्त शक्तिवाला है। वह आत्मा और कर्म दोनों एक क्षेत्रमें अवगाहन प्राप्त करके रह रहे हैं, और अनादिकालसे पुद्गलके संयोगसे जीवकी अनेक विकारी अवस्थाएं हो रही हैं। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाये तो भगवान आत्मा स्वयं चैतन्यरूप जानना, देखना और निरुपाधिकताको कभी भी नहीं छोड़ता, और पुद्गल अपना जड़ताको कभी नहीं छोड़ता। जड़ पुद्गल अजीव है, मूर्त है, रूपी है। वह भी एक वस्तु है। परन्तु कभी अपनी जड़ता नहीं छोड़ती।

जड़ चेतनको भिन्न है, केवल प्रगट स्वभाव।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणेकाळ द्वयभाव॥

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जड़ और चेतन त्रिकाल भिन्न हैं। आत्मा कभी आत्मतत्वसे और अजीव–जड़ अजीवतत्वसे कभी नहीं छूटता। यदि वस्तु वस्तुत्वको छोड़ दे तो वह वस्तु ही नहीं कहलायेगी। इसलिये वस्तु अपने वस्तुत्वको त्रिकालमें कभी नहीं छोड़ती। किन्तु परमार्थको न जानने वाले पर संयोगसे होनेवाले भावोंको जीव कहते हैं। और वे पूजा, भक्ति, दया, दान इत्यादिके शुभ भावोंको तथा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिके अशुभ भावोंको ही अपना आत्मा मानते हैं। किन्तु सर्वज्ञ भगवानने अपने पूर्ण ज्ञानके द्वारा शरीर, मन, वाणी और पुण्य–पापके भावोंसे सर्वथा भिन्न परम पवित्र तत्व (आत्मा) देखा है। सर्वज्ञकी परम्पराके आगम द्वारा और स्वानुभवसे भी उस तत्वको जाना जा सकता है।

जिसके मतमें सर्वज्ञ नहीं है वह अपनी बुद्धिसे अनेक कल्पनायें किया करता है। कोई कहता है कि कहीं भी कभी कोई सर्वज्ञ न तो था, न है, और न हो सकता है; किन्तु ऐसा कहनेवाला तीनलोक और तीनकालको जाने बिना ऐसा कैसे कह सकता है? यदि वह तीनकाल और तीनलोककी बात जानता है तो वह स्वयं ही सर्वज्ञ हो गया; इसप्रकार सर्वज्ञत्व सिद्ध हो जाता है। तीन काल और तीन लोकको एकही समयमें हस्तामलकवत् जाननेका प्रत्येक आत्माका स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जिस आत्माके प्रगट हो गया वही सर्वज्ञ है। जो सर्वज्ञको नहीं मानते, और जिन्हें परम्परासे सर्वज्ञका कथन नहीं मिला वे अपनी कल्पनासे अनेक मिथ्या मनगढ़न्त बातें खड़ी करते हैं। तीन काल और तीन लोककी पर्यायें, अनन्त द्रव्य, एक एक द्रव्यके अनन्त गुण और एक एक गुणकी अनन्त पर्यायें उस ज्ञानगुणकी एक समयकी पर्यायमें ज्ञात होती हैं। आत्माकी ऐसी सामर्थ्य है। जिसको ऐसी सामर्थ्य प्रगट होती है वह सर्वज्ञ है। वैसे सर्वज्ञ यहाँ इस क्षेत्रमें भगवान महावीर स्वामी थे, और दूसरे भी अनेक सर्वज्ञ हो गये हैं। वर्तमानमें विदेह क्षेत्रमें श्री सीमंधर भगवान सर्वज्ञरूपमें विराजमान हैं, और दूसरे भी अनेक सर्वज्ञ विराज रहे हैं। जो सर्वज्ञको यथार्थतया

स्वीकार करता है वह सर्वज्ञता प्रगट करेगा और जो सर्वज्ञको स्वीकार नहीं करते वे बिना धनीके ढोर समान हैं। उनके भव-भ्रमणका कहीं अन्त नहीं आता।

'जानना' आत्माका स्वभाव है। उस जाननेके स्वभावमें 'न जानना' नहीं आ सकता। उस जाननेके स्वभावकी मर्यादा नहीं होती। जब कि जानना ही स्वभाव है तब उसमें कौनसी वस्तु ज्ञात न होगी। जो सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंको जानता है, ऐसा ज्ञानस्वभाव अमर्यादित है। जीव एक अखण्ड द्रव्य है, इसलिये उसकी ज्ञानशक्ति भी सम्पूर्ण है जो सम्पूर्ण वीतराग होता है वह सर्वज्ञ होता है। प्रत्येक आत्मामें ऐसी शक्ति विद्यमान है।

आत्मा परको जानने नहीं जाता, किन्तु जगतके अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्माके ज्ञानमें सहज रूपसे ही ज्ञात होते हैं, ज्ञानका ऐसा स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। आत्मामें पर ज्ञेय नहीं आते, पर ज्ञेयोंकी आत्मामें नास्ति है, किन्तु ज्ञान परको जानता है, अपनेको जानता है, ज्ञान ज्ञानको जानता है ज्ञान आत्मामें रहनेवाले अन्य अनन्त गुणोंको जानता है, और ज्ञान लोकालोकको भी जानता है, ज्ञानका ऐसा स्वपर प्रकाशक स्वभाव है।

यदि जगत अपनी कल्पनासे विविध प्रकारसे माने तो [illegible] ऐसी मान्यताके लिये स्वतन्त्र है।

आत्माका स्वभाव स्वपर प्रकाशक है इसलिये पर [illegible] सहज ही ज्ञात हो जाते हैं, परन्तु जानता हुआ आत्मा पर [illegible] नहीं होता, परको जानता हुआ आत्माका ज्ञान अन्य [illegible] नहीं होता, अर्थात् सर्वज्ञात्मक नहीं होता, [illegible] आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाते, आत्मा उनको [illegible] सहज ही जानता है।

[illegible] विपरीत होनेमें [illegible]
[illegible] भी [illegible]
[illegible] होता है किन्तु [illegible]

भावसे कर्मका कर्ता-भोक्ता है और ज्ञानभावसे स्वभावका कर्ता-भोक्ता है, मोक्ष है, और मोक्षका उपाय भी है। इस विषयको लेकर सम्पूर्ण आत्मसिद्धिकी सुन्दर रचना हुई है।

उसके उपरोक्त पदमें यह कहा है कि—स्वरूपको समझे बिना अनन्त दुःख प्राप्त किया है; वहाँ कहीं यह नहीं कहा कि—कोई क्रिया कर्म किये बिना अनन्त दुःख प्राप्त किया है, क्योंकि जीवने अनन्त कालमें मात्र यथार्थ ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, दूसरा सब कुछ किया है समवशरणमें विराजमान साक्षात् तीर्थंकरदेवकी रत्नोंसे भरे हुये थालोंसे अनन्तबार पूजा की किन्तु परसे भिन्न चैतन्य स्वभावको स्वयं नहीं जान सका, और जब स्वयं जागृत नहीं हुआ तब फिर दूसरा कौन जगायेगा? वहाँ भगवान कुछ दे नहीं देते क्योंकि अपना स्वरूप अपने पर ही निर्भर है, वह दूसरे पर अवलम्बित नहीं है, इसलिये दूसरा कोई कुछ दे ही नहीं सकता, और न दूसरेके आधार पर वस्तु स्वभाव प्रगट हो ही सकता है जो वस्तु दूसरे पर अवलम्बित हो वह वस्तु ही नहीं कहला सकती। वस्तु अर्थात् पदार्थ जड़ चैतन्य सभी अपने अपने आधारसे रहते हुये स्वतंत्र हैं। जगतमें दो वस्तु स्वरूप हैं, एक जड़-स्वरूप और दूसरा आत्मस्वरूप। यहाँ यह कहा है कि जीव अपना स्वरूपको समझे बिना अनन्तकालसे परिभ्रमण कर रहा है अनादिकालसे [illegible] आत्मस्वभावको नहीं जान पाया और उस ज्ञान बिना दूसरा सबकुछ धूम-धाम की है।

आत्मसिद्धिके उपरोक्त [illegible] पर [illegible] किया है, कि 'स्वरूपको समझे बिना' अनन्त दुःख प्राप्त किया है [illegible]
[illegible]

समझनेके बाद कहता है कि—पाया दुःख अनंत। अज्ञानदशामें ज्ञान और अज्ञानकी कुछ खबर नहीं थी, और ज्ञात होनेके बाद ज्ञात और अज्ञान दोनोंकी खबर है।

मेरी पात्रता थी इसलिये समझा हूँ, यों 'समझा' शब्द न कहकर 'समझाया' कहा है। इसका अर्थ यह है कि उस समयमें समझनेवाला और समझानेवाला दोनों विद्यमान थे। यहाँ समझाया पद कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि निमित्तके बिना नहीं समझा जा सकता। ज्ञानीके बिना यह अनादिकालसे नहीं समझा हुआ स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। किन्तु जो पात्र होता है उसे निमित्त मिले बिना नहीं रहता। सत् उपादान और सत् निमित्तका मेल है। सत् पात्रता तैयार हो तो समझानेवाला सत् निमित्त भी विद्यमान होता है। उपादान-निमित्तका ऐसा ही मेल है। शिष्य कहता है कि अभी तक मैं समझा नहीं था, किन्तु अब गुरुके प्रतापसे समझ गया हूँ श्रीगुरुने मुझ पर कृपा करके मुझे समझाया इसलिये मैं समझा हूँ। उसे यह आन्तरिक प्रतीति है कि मेरी पात्रता थी इसलिये मैं समझा हूँ, किन्तु सत्को समझनेवाला यह नहीं कहता कि मैं अपने आप समझा हूँ। यथार्थ समझ होने पर विनय और नम्रता भी बढ़ जाती है, इसलिये यहाँ गुरुके प्रति बहुविनय बताते हुए 'समझाया' पद कहा है।

यहाँ 'मैं समझा' ने यह सिद्ध किया है कि अभी तक [illegible] भ्रान्ति थी और अब मुझे [illegible] प्राप्त हुई है। [illegible] है किन्तु आपने मुझपर कृपा की इसलिये समझा हूँ। यद्यपि स्वयं समझा है किन्तु गुरुके प्रति बहुमान होनेसे कहता है कि 'समझाया' [illegible] । जब तक वह पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता तब तक [illegible] आता है और नम्रताका भाव बना रहता है। [illegible] होनेसे विनय पूर्वक गुरुसे कहता है कि आपने मेरा [illegible] [illegible]

किन्तु वास्तवमें अपने स्वभावको जो आत्मा नमता है सो उसकी ओर उन्मुख होता है—नमस्कार करता है।

'श्री सद्गुरु भगवान' कहकर गुरुके प्रति बहुमान होनेसे गुरुको भगवान कह दिया है। यद्यपि वीतराग देव ही भगवान कहलाते हैं; किन्तु बहुमान होनेसे गुरुको भी भगवान कहा जा सकता है। शिष्य समझ गया अर्थात् सच्चे देव गुरुको भी समझ लिया और अपने स्वरूपको भी पहिचान लिया। इस प्रकार निमित्तकी ओर लक्ष जाने पर गुरुके प्रति बहुमान होनेसे गुरुको नमस्कार करता है, और अपने गुणके प्रति बहुमान होनेसे गुणको भी नमस्कार करता है।

विनयका बहुत वर्णन होनेसे विपरीत दृष्टिवाले ऐसा विचित्र अर्थ कर लेते हैं कि श्रीमद् राजचन्द्रको विनय चाहिये थी, इसलिये विनयका बहुत वर्णन किया है। इस प्रकार स्वच्छन्दी जीवोंको स्वयं तो समझना नहीं है और स्वच्छन्दताकी पुष्टि करनी है, इसलिये समझानेवालेका दोष निकालते हैं।

आत्मसिद्धिमें अनेक स्थलों पर गुरुकी महिमा और शिष्यकी विचार क्रिया स्पष्ट दिखाई देती है। १४२ वें दोहेमें कहा है कि—

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
कितना कहिये दूसरा ? कर विचार तो पाम ॥

यदि तू स्वयं विचार करे तो ही सच्चा ज्ञान प्राप्त (पाम) कर सकेगा। तेरी समझ और पात्रताके विना गुरु कहीं कुछ दे नहीं देंगे। किसीकी कृपा या आशीर्वादसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती। और किसीके श्रापसे मुक्ति रुक नहीं जाती। तू ही स्वयं सुखरूप है, सुखका धाम है; यदि तू स्वयं विचार करे तो उसे प्राप्त कर लेगा, अन्यथा तेरी पात्रताके बिना त्रिकालमें कोई कुछ नहीं दे सकेगा। यदि विचार करे तो पायेगा। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों प्राप्त करेगा, यह बताया है। अन्य कोई शरीरकी क्रिया करनेसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रको प्राप्त करनेकी बात नहीं कही है, किन्तु यह कहा है कि-'कर विचार

तो पाय', अर्थात् विचार-क्रिया करेगा तो प्राप्त कर लेगा।

कितने ही अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि—बाह्य प्रतिकूलताको दूसरे लोग मिटा सकते हैं; कोई रोग मिटा सकता है, किसी महात्माकी कृपासे पुत्र मिल सकता है, रुपया पैसा मिल सकता है। किन्तु त्रिकालमें भी ऐसा नहीं हो सकता। अपने पुण्य या साताके उदयके बिना ही दूसरोंकी कृपा या आशीर्वादसे कुछ मिल जायेगा ऐसा मानने और मनवानेवाले महामूढ़ अज्ञानी हैं। सब अपने अपने पुण्य-पापके उदयानुसार होता है। कोई मंत्र तंत्र डोरा तावीज इत्यादिसे पुत्र और पैसेकी प्राप्ति मानते हैं, किन्तु सांसारिक मूढ़तामें फंसे हुए घोर अज्ञानी हैं, और ऐसे मंत्र-तंत्र करनेवाले भी घोर अज्ञानी हैं, जो सांसारिक कल्पित महाभ्रममें फंसे हुए हैं।

कोई कहता है कि अमुक महाराजके भक्त बहुत पैसेवाले हैं, इसका कारण यह है कि महाराज सबको चमत्कारपूर्ण आशीर्वाद देते हैं। किन्तु यह सब मिथ्या है। क्योंकि आत्माके अतिरिक्त [illegible] और पुण्यकी महिमा है ही कहां? यह सब तो कुपथ्य है। [illegible] पर वस्तु किसीके आधीन हो सकती है, या किसीको दी जा सकती है? चमत्कारसे किसी वस्तुको देने और लेनेकी बुद्धिवाले [illegible] सांसारिक मिठासमें फंसे महामिथ्यात्वी हैं।

आत्मसिद्धिमें जो स्वरूप बताया गया है, वैसा ही [illegible] का स्वरूप है, वही मूल स्वरूप है। [illegible]

विकारभाव चैतन्य स्वभावमय जीवद्रव्य होनेमें समर्थ नहीं है, कि—जो जीवद्रव्य चैतन्य भावसे शून्य पुद्गल भावसे अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिये जो इन अध्यवसानादिको जीव कहते हैं वे वास्तवमें परमार्थ वादी नहीं हैं।

आत्मामें जो शुभाशुभभाव होते हैं वे चैतन्य स्वभाव होनेके लिये समर्थ नहीं हैं। शरीरकी क्रिया मुझसे होती है ऐसा कर्तृत्वका भाव इत्यादि कुछ भी आत्मामें नहीं है। किसी भी प्रकारका विकारभाव आत्मामें नहीं है, ऐसा तीर्थंकर भगवानने कहा है। इसलिए जो अध्यवसान आदिको जीव कहते हैं वे वास्तवमें आत्माको नहीं मानते।

शुभाशुभ परिणामसे जो पुण्य–पापका बन्ध होता है उससे धूल मिट्टीके ढेरके अतिरिक्त और क्या मिलता है? उससे आत्मा नहीं मिल सकता। जो परपदार्थसे आत्माको लाभ होना मानते हैं वे इन उपरोक्त आठ मतवालोंकी भाँति ही परको आत्मा माननेवाले हैं। जो यह मानते हैं कि—यदि शरीर अच्छा हो तो धर्म करें अथवा शरीरके द्वारा धर्म होता है तो वे सब जड़को ही आत्मा माननेवाले हैं और वे आत्माकी हत्या करनेवाले हैं। इसलिये जो ऐसा मानते हैं वे वास्तवमें सत्यार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि उनका पक्ष आगम युक्ति और स्वानुभवसे वाधित है।

जो भी विकारभाव होता है वह जड़से उत्पन्न होनेवाला है, ऐसा शास्त्र भी कहते हैं, युक्ति-न्यायसे भी वह जड़ सिद्ध है और अनुभवसे भी वह जड़ है, इसलिये इन तीनोंसे उनका पक्ष वाधित है।

जो यह कहते हैं कि प्रवृत्तिके जितने भाव होते हैं वे हमें लाभदायक हैं वे झूठे हैं। सुख–दुःखकी वृत्ति हो, हर्ष-शोकका भाव हो सो वह जीव नहीं है, यह सर्वज्ञ भगवानका कथन है।

आत्मा शरीरादिसे ही नहीं किन्तु पुण्य–पापकी वृत्तिसे भी परे है, क्योंकि वे पुण्य–पापके भाव जड़ हैं, ऐसा आगममें कथन है।

किसीका यह मत है कि जैसे कोयलेकी कालिमा कोयलेसे

अलग नहीं है, इसीप्रकार अध्यवसानसे आत्मा अलग नहीं है, उसे आचार्यदेव स्वानुभव गर्भित युक्तिसे कहते हैं कि स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेषसे मलिन अध्यवसान जीव नहीं है।

यहाँ स्वयमेव पदसे यह कहा है कि तुझे भान नहीं है, इसलिये ऐसा लगता है कि सहज राग-द्वेष होता है। चैतन्यमूर्ति अखंडानन्द है इसकी खबर नहीं है इसलिये तुझे ऐसा लगता है कि मानों यह राग-द्वेष भाव सहज आत्माके घरके हों। इसे विशेष स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं।

अज्ञानी ने अभी यहाँ कोयलेका उदाहरण दिया था किन्तु यहाँ आचार्यदेव सोनेका उदाहरण देते हैं। जैसे सोना पीला है, किन्तु यदि उस सोनेको अग्निमें तपाया जाये तो उस समय जो कालिमा निकलती है, वह सोनेकी नहीं, किन्तु धुएँ की है। इसीप्रकार अध्यवसान चित्स्वरूप जीवके नहीं है। आत्मा चिदानन्द स्वरूप है। उसमें जो वृत्तियाँ होती हैं वह कालिमा है, वह आत्माके घरकी नहीं किन्तु पुद्गलके घरकी वस्तु है। जैसे धुएँसे सोना आच्छादित हो जाता है, अर्थात् दिखाई नहीं देता इसीप्रकार मलिन पुण्य-पापके भाव रूप [illegible] औपशमिक [illegible] आत्मा आच्छादित हो जाता है।

पुण्य-पापके मलिन भाव मैल हैं, ऐसे औपशमिक [illegible] जाता है। यह चित्स्वरूप आत्मा अर्थात् आत्मस्वरूप [illegible] औपशमिक [illegible] अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त [illegible] अनुभवमें आता है। [illegible] अनुभवमें आता है।

[illegible]

विकारभाव [illegible] कि—[illegible] कहा गया है, [illegible] वास्तवमें परमार्थ [illegible] नहीं है।

आत्मामें जो शुभाशुभभाव होते हैं वे चैतन्य स्वभाव होनेके लिये समर्थ नहीं है। शरीरको जैसा सुखमें होता है ऐसा [illegible] उन्मादि कुछ भी आत्मामें नहीं है। किसी भी प्रकारका विकारभाव आत्मामें नहीं है, ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है। इसलिए जो अध्यवसान आदिको जीव कहते हैं वे वास्तवमें आत्माको नहीं मानते।

शुभाशुभ परिणाममें जो पुण्य–पापका बन्ध होता है उससे धूल मिट्टीके ढेरके अतिरिक्त और क्या मिलता है? उससे आत्मा नहीं मिल सकता। जो परपदार्थमें आत्माको लाभ होना मानते हैं वे इन उपरोक्त आठ मतवालोंकी भांति ही परको आत्मा माननेवाले हैं। जो यह मानते हैं कि—यदि शरीर अच्छा हो तो धर्म करें अथवा शरीरके द्वारा धर्म होता है तो वे सब जड़को ही आत्मा माननेवाले हैं और वे आत्माकी हत्या करनेवाले है। इसलिये जो ऐसा मानते हैं वे वास्तवमें सत्यार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि उनका पक्ष आगम युक्ति और स्वानुभवसे वाधित है।

जो भी विकारभाव होता है वह जड़से उत्पन्न होनेवाला है, ऐसा शास्त्र भी कहते हैं, युक्ति-न्यायसे भी वह जड़ सिद्ध है और अनुभवसे भी वह जड़ है, इसलिये इन तीनोंसे उनका पक्ष वाधित है।

जो यह कहते हैं कि प्रवृत्तिके जितने भाव होते हैं वे हमें लाभदायक हैं वे झूठे हैं। सुख–दुःखकी वृत्ति हो, हर्ष-शोकका भाव हो सो वह जीव नहीं है, यह सर्वज्ञ भगवानका कथन है।

आत्मा शरीरादिसे ही नहीं किन्तु पुण्य–पापकी वृत्तिसे भी परे है, क्योंकि वे पुण्य–पापके भाव जड़ हैं, ऐसा आगममें कथन है।

किसीका यह मत है कि जैसे कोयलेकी कालिमा कोयलेसे

गुरुपरम्पराको और [illegible] वेदन करते हैं। [illegible] तो बात नहीं है, किन्तु [illegible] अनुभव करनेकी बात है। इस प्रकार आगम, गुरु और अनुभवको लेकर तीन प्रकारसे कहा है।

आत्मा देहसे भिन्न है। उस आत्माका जैसा स्वभाव है उसे जाने–उसकी श्रद्धा करे और उसमें एकाग्र हो तो स्वाधीनता रूप मोक्ष मिले बिना न रहे।

पर वस्तुमें सुख-दुःख नहीं है किन्तु सुख-दुःख मात्र भासित होता है। यह मात्र कल्पना कर रखी है कि अनुकूलतामें सुख और प्रतिकूलतामें दुःख है। न तो राजपाटका मिलना सुख है और न निर्धनता दुःख है; किन्तु अपनी कल्पनाके द्वारा पर पदार्थमें सुख-दुःख मानकर चोरासीका भ्रमण बना रखा है। पर पदार्थमें सुख नहीं है इसलिये मात्र 'भासित होना' कहा है, अर्थात् सुख है नहीं किन्तु सुख भासित होता है।

आत्मा सदा ध्रुव-अविचल ज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण है, उसे भूलकर ऐसा विपरीत अध्यवसान करता है कि—स्त्री, पुत्र, रुपया, पैसा इत्यादि सुख रूप हैं, अच्छे हैं लाभरूप हैं; और इस प्रकार विपरीत अध्यवसानको आत्मा मानकर वहाँ अटक रहा है। उस अध्यवसानको अलग नही करना चाहता किन्तु उसे रखना चाहता है, जिस वस्तुको अपने घरका मान रखा है उसे तो रखना ही चाहेगा, निकालना क्यों चाहेगा? किन्तु उस अध्यवसानसे भिन्न आत्मा धर्मात्माके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् धर्मात्मा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसके भविष्यका अवयव है ऐसी जो एक संसरण रूप क्रिया है उस रूप क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नही है, क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य चैतन्य स्वभाव रूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका

[illegible]

कर्म नहीं होते, किन्तु [illegible] कर्म वर्तमानमें होते हैं। अभव्यके पास भी [illegible] स्थितिके कर्म नहीं होते। लाखों गायोंको [illegible] के पास भी असंख्य अरब स्थितिवाले कर्म होते हैं, [illegible] पापोंके पास भी असंख्य अरब वर्षकी स्थितिवाले कर्म होते हैं, किसीके पास भी अनन्त अरब वर्षकी स्थितिवाले कर्म नहीं होते, कोई भी आत्मा कभी भी अनन्त अरब वर्षके कर्म न तो बांध सका है न बांधता है, न बांध सकेगा

आत्माकी प्रतीतिको और आत्माकी निर्मल मोक्ष पर्यायको प्रगट करे तो उसकी अनन्त कालकी स्थिति होती है, क्योंकि मोक्षकी स्थिति अनन्त कालकी होती है, आत्माकी मोक्षरूप निर्मल अवस्थामें ऐसा होता है, किन्तु तीनलोक और तीनकालमें भी अनन्तकालके कर्म बन्ध नहीं होते। कर्मोंके नाश करनेका आत्माका स्वभाव है। कर्मोंसे भिन्न आत्माका स्वभाव सम्यक्‌दृष्टि जीवोंको प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है।

कुछ अज्ञानीजन यह कहते हैं कि यदि कर्म मार्ग दे दें तो अपनी मुक्ति हो जाये, किन्तु ऐसा माननेवाले सर्वथा मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कर्म हैरान करते हैं, वे जैसा करें वैसा होता है, अपने हाथकी बात ही क्या? किन्तु विचार तो करो कि कहीं कर्म हैरान कर सकते हैं? वे बेचारे तो जड़–धूल हैं। उन्हें तो यह भी खबर नहीं है कि हम कौन हैं, और हम कर्मरूपमें परिणमित हुए हैं या क्या हैं? किन्तु कर्मका बहाना निकालनेवाले अज्ञानीको कर्मसे मुक्त

कि कर्म प्रवाह—परम्परासे अनादिके हैं, जैसे एक रूईकी पौनीसे दूसरी जुड़ जाती है और इसप्रकार उनकी परम्परा चलती रहती है, (यद्यपि पौनी अलग अलग दूसरी होती है) इसीप्रकार कर्म नये नये —दूसरे दूसरे बँधते रहते हैं ? पुराने दूर होते हैं और नये बँध जाते हैं, इसलिये वे कर्म अनादिके नहीं हैं, किन्तु वे प्रवाहरूपसे अनादि हैं; कहीं एकके एक ही कर्म अनादिकालके नहीं होते। राजासे लेकर रंक तक और हाथीसे लेकर चींटी तक किसीके पास भी अनन्त कालीन कर्म नहीं होते, किन्तु अधिकसे अधिक असंख्य वर्षोंके कर्म वर्तमानमें होते हैं। अभव्यके पास भी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरसे अधिक स्थितिके कर्म नहीं होते। लाखों गायोंको काटनेवाले कसाईके पास भी असंख्य अरब स्थितिवाले कर्म होते हैं, चाहे जैसे पानीके पास भी असंख्य अरब वर्षकी स्थितिवाले कर्म होते हैं, किसीके पास भी अनन्त अरब वर्षकी स्थितिवाले कर्म नहीं होते, कोई भी आत्मा कभी भी अनन्त अरब वर्षके कर्म न तो बाँध सका है न बाँधता है, न बाँध सकेगा।

आत्माकी प्रतीतिको और आत्माकी निर्मल मोक्ष पर्यायको प्रगट करे तो उसकी अनन्त कालकी स्थिति होती है, क्योंकि मोक्षकी स्थिति अनन्त कालकी होती है, आत्माकी मोक्षरूप निर्मल अवस्थामें ऐसा होता है, किन्तु तीनलोक और तीनकालमें भी अनन्तकालके कर्म बन्ध नहीं होते। कर्मोंके नाश करनेका आत्माका स्वभाव है। कर्मोंसे भिन्न आत्माका स्वभाव सम्यक्दृष्टि जीवोंको प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है।

कुछ अज्ञानीजन यह कहते हैं कि यदि कर्म मार्ग दे दें तो अपनी मुक्ति हो जाये, किन्तु ऐसा माननेवाले सर्वथा मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कर्म हैरान करते हैं, वे जैसा करें वैसा होता है, अपने हाथकी बात ही क्या ? किन्तु विचार तो करो कि कहीं कर्म हैरान कर सकते हैं ? वे बेचारे तो जड़–धूल हैं। उन्हें तो यह भी खबर नहीं है कि हम कौन हैं, और हम कर्मरूपमें परिणमित हुए हैं या क्या है ? किन्तु कर्मका बहाना निकालनेवाले अज्ञानीको कर्मसे मुक्त

तीव्र–मन्द अनुभवसे भेदरूप होनेसे दुरन्त राग रससे परिपूर्ण अध्यवसानोंकी संतति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस संततिसे अन्य पृथक् चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अज्ञानी कहता है कि तीव्र–मन्द रागसे पृथक् कोई जीव नहीं है। देव, गुरु, शास्त्र पर जो राग होता है सो मन्द राग है; और मकान, स्त्री, पुत्र इत्यादि पर जो राग होता है सो तीव्र राग है। ऐसा तीव्र मन्द राग ही जीव है; इत्यादि। किन्तु दया, भक्ति, व्रतादिका जो राग, है सो मन्द राग है और हिंसा–झूठ–चोरी–विषयादिका जो राग है सो पाप राग है। अज्ञानी कहता है कि ऐसा तीव्र–मन्द राग दुरन्त है, अर्थात् उससे पार उतरनेकी हमें जमती नहीं है।

संतति अर्थात् एकके बाद एक प्रवाहरूप रागके रससे मेरा चैतन्य-रस अलग है। उस राग-द्वेषके रसकी संततिको तोड़कर सम्यक्त्वीको आत्माके निजरसका अनुभव होता है।

जैसे संसारमें कमाई करे तो रुपया पैसा नकद दिखाई देता है, इसीप्रकार धर्म नकद है। रुपया पैसा तो पर पदार्थ है किन्तु धर्म तो आत्माका स्वभाव है, इसलिये वह सुखरूप है। यदि पुरुषार्थ करे तो वह नगद अनुभवमें आता है। वीतराग होनेसे पूर्व भी रागके रसकी तीव्रता और मन्दतासे आत्माका रस सर्वथा भिन्न है, इसप्रकार सम्यक्-ज्ञानियोंको प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है इसलिये धर्म नकदी है।

नई–पुरानी अवस्थादिके भेदसे प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियोंके स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

शरीरकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थाको अज्ञानी अपना मानता है, जब कि वह जड़ की है। आत्मा उसका तीनलोक और त्रिकालमें भी कर्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव अनादिकालसे परका कर्तृत्व

मान रहे हैं। जगतको यह वात समझमें नहीं आयी, और जव समझमें ही नहीं आयी तव श्रद्धा करना तो कहांसे हो सकता है? इतना ही क्यों; जगतके जीवोंके कानमें आज तक यह वात नहीं पड़ी।

शरीरके हलन-चलन और वोल-चालकी नई-पुरानी अनेक प्रकारकी अवस्था होती है वह सव तुझसे भिन्न है, उसका तू कर्ता नहीं है,—ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है। लोग यह समझते हैं कि हमारे द्वारा उंगली उँची करने पर उँची होती है, किन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि तू एक तिनकेके दो टुकड़े भी नहीं कर सकता।

शरीरका मोटा होना दुवला होना, खुराक मिलना या न मिलना। इत्यादि सव पुद्गलकी अवस्था है, वह जीवका स्वरूप नहीं है अर्थात् उसकी सत्ता जीवकी सत्तासे भिन्न है। वह पुद्गलकी स्वतंत्र सत्ता है। आत्मा शरीरसे भिन्न है। शरीरकी अवस्था शरीरमें और आत्माकी आत्मामें होती है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है इसलिये वह ज्ञानस्वरूप आत्मा शरीरकी अवस्थाको कैसे कर सकता है? हिलना डुलना इत्यादि सव शरीरकी अवस्था है। शरीरादिकी अवस्था सव भेदरूप है, वह एकरूप नहीं रह सकती तव ऐसे भेदको तू कैसे कर सकता है?

प्रश्नः—यह कहा जाता है कि-कायाके दोष आत्मा करता है; क्या यह ठीक नहीं है?

उत्तरः—नहीं, कायाके दोष आत्मा नहीं कर सकता। अपने भावोंमें जो दोष होते हैं उन्हें उपचारसे शरीरके दोष कह देते हैं।

प्रश्नः—तव योगके जो पन्द्रह भेद हैं, उनका क्या अर्थ होगा?

उत्तरः—शरीर मन वचनके जो भंग हैं सो सव निमित्तके भंग हैं, वह रागके निमित्तका कर्ता स्वयं नहीं है। रागको दूर करनेके लिये निमित्तसे वात कही है। जिस निमित्तकी ओर रागका झुकाव होता है, वह निमित्तके भंग कहलाते हैं। उस रागमें मनका निमित्त हो तो मनो योग, वचनका हो तो वचन योग, और कायका हो तो काय योग कहलाता है। योगके जो पन्द्रह भंग कहे हैं उनमें रागसे

भले ही ध्यान करता रहता हो तथापि वह मोक्षमार्ग पर नहीं है, किन्तु वन्धके मार्गपर है। आत्माके यथार्थ परिचयके विना यथार्थ ध्यान नहीं हो सकता। यदि पहले यथार्थ ज्ञान करे तो फिर यथार्थ ध्यान है। तत्त्वकी प्रतीतिके विना कहाँ स्थिर होगा। परमें स्थिर होगा।

भीतर ऐसे शुक्ल लेश्याके परिणाम होते हैं कि जिनसे मनमें रतिका वेदन होता है, किन्तु वह रतिका भाग है। उसका वेदन होने पर उसे आत्माका रस माने किन्तु उस रससे भिन्न आत्मरसको अलग करना न जाने तो वह भी असावधान–अज्ञानी है। संसारकी अनुकूलताको साताके वेदनने आत्मा मानने वाले और 'मणसुहया' नामक प्रकृतिकी सातामें आत्मा मानने वाले–दोनों एक ही प्रकारके हैं।

आज कल वहुतसे लोग यह कहा करते हैं कि हम नित्य ध्यान करते हैं किन्तु आत्माको जाने विना ध्यान कहाँसे होगा? कषाय कुछ मन्द हो, साता प्रकृतिका उदय हो, अर्थात् मनमें कुछ शान्तिसी प्रतीत हो तो यह मानने लगता हो कि मुझे आत्माका आनन्द आ रहा है, किन्तु यदि उससे आत्माकी वात पूछे तो एक भी सच न निकले। आत्मा अनन्तगुणका पिंड है; आत्मवस्तु उसके गुण और उसकी पर्यायसे परिपूर्ण है। एक रजकणका भी कर्ता नहीं है; रजकण अपने गुण और पर्यायसे परिपूर्ण हैं; आत्माका कार्य आत्मामें, और रजकणका कार्य रजकणमें होता है, दोनोंके कार्य भिन्न हैं, जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, किन्तु ध्यान कर रहा है, तो समझना चाहिये कि वह वहाँ अटक रहा है, और मार्ग पर नहीं आया।

जैसे समझदार मनुष्य शक्कर और मिश्रीके लड्डुओंको अलग अलग परख कर लेता है, उसीप्रकार सम्यक्ज्ञानी साता और आत्माके रसका अलग अलग भेद कर लेता है। आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्य-पापके रससे भिन्न आत्मा भेद ज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् सम्यक्ज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

वास्तविक अनेकान्त तत्त्वको माने बिना यथार्थ अनुभव नहीं हो सकता उसे आत्माका वेदन नहीं किन्तु विकारका वेदन होता है। आत्मा अपनी अपेक्षासे भी है और पर अपेक्षासे भी है, ऐसी दृष्टि एकान्त दृष्टि है। उसने दो द्रव्योंको एक माना इसलिये वही सच्ची एकान्त दृष्टि है। आत्माकी अपनी अपेक्षासे अस्ति है, और परकी अपेक्षासे नास्ति है, ऐसी दृष्टि ही सच्ची अनेकान्त दृष्टि है। इस अनेकान्त दृष्टिको माने बिना सच्चा अनुभव नहीं हो सकता।

श्रीखण्डकी भाँति उभयात्मक रूपसे मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं, क्योंकि संपूर्णतया कर्मसे भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

यहाँ अज्ञानी कहता है कि हम आत्मा और कर्म दोनोंको मानते हैं किन्तु दोनों मिलकर काम करते हैं ऐसा मानते हैं।

प्रश्न:—जब जीव सिद्ध हो जाता है तब दो द्रव्य अलग काम करते हैं या नहीं ?

उत्तर:—अरे ? त्रिकालमें अलग काम करते हैं।

एक परिनामके न करता दरव दोय।
दोय परिनाम एक दर्व न धरतु है॥ (नाटक समयसार)

अर्थात् एक अवस्थाको दो पदार्थ एक साथ नहीं करते, और दो अवस्थाओंको एक द्रव्य नहीं करता; यह तीर्थंकरदेवका निश्चित सिद्धांत है।

कर्मकी अवस्थाको आत्मा करे और कर्म करे अर्थात् एक अवस्थाको दो द्रव्य मिलकर करे यह नहीं हो सकता, इसीप्रकार आत्मा ज्ञान करे और शरीरादिकी अवस्था भी करे, इसप्रकार एक पदार्थ दो अवस्थाओं-को धारण नहीं करता। यदि इस सामान्य सिद्धान्तको भली भाँति समझ ले तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहे।

वस्तुकी भिन्नताकी प्रतीतिके बिना अज्ञानी जीव श्रीखंडकी भाँति जीवको जीव और कर्म दोनोंसे मिला हुआ एकरूप मानता है। किन्तु जीव

तो संपूर्णतया कर्मोंसे भिन्न है, और कर्मोंके [illegible] भिन्न है।

सम्यग्ज्ञानी, जो कर्मोंसे [illegible] भिन्न [illegible] स्वभावका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसलिये अनुमानसे भी सिद्ध होता है कि आत्मा कर्मसे भिन्न है।

अर्थक्रियामें समर्थ ऐसा कर्मका संयोग भी जीव नहीं है, क्योंकि लकड़ीके आठ टुकड़ोंके संयोगसे निर्मित पलंगसे भिन्न, उस पलंग पर सोनेवाले पुरुषकी भाँति कर्म संयोगसे भिन्न, अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

कर्मका संयोग कर्मकी क्रिया करनेमें समर्थ है, किन्तु वह आत्माकी क्रिया करनेमें समर्थ नहीं है इसलिये वह जीवसे भिन्न है, जीव स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव आठ कर्मकी क्रियाको ही जीव मानता है, और कर्मके संयोगसे होनेवाली अवस्थाको अपने आधीन मानता है। किन्तु वह कर्म और उसके निमित्तसे होनेवाली अवस्था–दोनोंसे तू अलग है, वह तेरे आत्माका स्वरूप नहीं है।

ज्ञानावरणीयकर्मने ज्ञान गुणको, दर्शनावरणीयने दर्शन गुणको. मोहनीयने प्रतीति और स्थिरता गुणको, तथा अंतराय कर्मने वीर्य गुणको रोक रखा है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु सच बात तो यह है कि जब स्वयं राग–द्वेषमें फँसकर अपनी ज्ञान अवस्थाको हीन करता है, तब ऐसा आरोप कथन होता है कि ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोक रखा है, इसीप्रकार दर्शन. चारित्र और वीर्य इत्यादिके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये। स्वयं ही अपने स्वभावमें परिणमित न होकर, उल्टा होकर राग-द्वेष और आकुलतारूप परिणमित होता है, अर्थात् अपने गुणकी अवस्थाको स्वयं ही हीन करता है। उसमें कर्म तो मात्र निमित्त अर्थात् उपस्थित मात्र हैं। स्वयं हीन अवस्थाको परिणमित होता है, किन्तु कर्म पर आरोप करके कहा जाता है कि इस कर्मने आवरण डाला है। अरे! यह कहते तुझे लज्जा नहीं आती कि तेरी प्रभुताको चुकानेवाला (भुलानेवाला) कोई अन्य कर्म है?

कुछ लोग कहते हैं कि कर्म अवगुण कराते हैं, किन्तु यह तो विचार कर कि कर्म अवगुण कराते हैं या तू अवगुण करता है, तब अवगुण होते हैं? अपने पुरुषार्थको तो प्रगट नहीं करता, तब तेरी इस भूलके लिये कर्म क्या करें? वे तो वेचारे जड़ हैं। वे जड़कर्म तेरे चैतन्यको कैसे अवगुण करा सकते हैं? तू जब भूल करता है तब वे मात्र उसमें निमित्तरूप होते हैं निमित्त तो मात्र वारदानके समान है। वारदान वारदानमें और माल मालमें है। वारदानकी क्या कीमत? वारदान वह माल नहीं है। जैसे पलंग और उस पर सोने वाला जीव दोनों भिन्न हैं, इसीप्रकार आठ कर्मोंसे आत्मा बिलकुल भिन्न है। भेदज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

आत्मामें कर्म अवगुण कराते हैं, और जब कर्म दूर हो जाते हैं, तब आत्मामें गुण प्रगट होते हैं, यह घोर अज्ञानीके घरकी बात है; वीतरागके घरकी नहीं।

यद्यपि यहाँ यह आठ प्रकार कहे गये हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी कोई विपरीत कथन करते हों तो उन्हें भी इसीप्रकार समझना चाहिये इस प्रकार भगवानका उपदेश है।

चैतन्य स्वभावरूप जीव सर्व पर भावोंसे भिन्न है, जो कि भेदज्ञानियोंको अनुभव गोचर है। इसलिये यदि अज्ञानी पूर्वोक्त आठ प्रकारोंमेंसे किसी प्रकारसे जीवको माने तो उस प्रकार जीवका स्वरूप है ही नहीं।

कर्म और आत्माकी एकत्वबुद्धिरूप जो अध्यवसान होता है, अज्ञानी उसीको जीव मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि—जैसे अनेक कल पुर्जे और लट्टू इत्यादि मिलकर घड़ी बनती है, उसी प्रकार शरीर और पुण्य-पापके भाव इत्यादि मिलकर आत्मा होता है, किन्तु यह निरा भ्रम है, यह बात उपरोक्त आठ बोलोंके आठ उत्तरोंमें भली भाँति कह दी गई है।

प्रश्नः—कहीं इस समय संसार दशामें कर्म और आत्मा अलग हैं? वे तो सिद्ध होने पर अलग होते हैं?

उत्तर:—ज्ञानी जन जाने अनुभवमें स्पष्ट जानते हैं कि—इस समय भी आत्मा और कर्म दोनों भिन्न हैं। जो इस समय कर्मसे आत्माको भिन्न नहीं मानता उसका आत्मा कभी भी कर्मसे भिन्न नहीं होगा, और उसे धर्म-लाभ नहीं होगा।

तिलोंमें रहने वाला तेल वर्तमानमें ही अलग है। जब वह वर्तमानमें अलग होता है, तभी तो अलग हो सकता है, इसी प्रकार वर्तमानमें कर्म और आत्मा अलग हैं अतः जब आत्मा भिन्न होता है, तब अलग हो सकता है। भेदज्ञानियोंको पृथक् आत्माकी प्रतीति केवलज्ञान होनेसे पूर्व, इसी समय हो रही है। शुभाशुभ भाव होने पर भी भेद ज्ञानियोंको इसी समय आत्माकी पृथक् प्रतीति हो रही है।

यदि इसी समय जड़से भिन्न आत्माकी प्रतीति न हो तो वह जड़से अलग नहीं हो सकता, और उसे पृथक् जाने विना सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्वके विना चारित्र नहीं होता, वीतरागता नहीं होती, केवलज्ञान नहीं होता, और मुक्ति नहीं होती।

यहाँ आठ कर्म और पुण्य-पापके परिणाम इत्यादिको जड़में ही गिन लिया है, उन सबको मिट्टी मान लिया है। शरीरादिक बाहरकी मिट्टी और कार्माण शरीरसे उत्पन्न होनेवाले मलिन भाव अन्दरकी मिट्टी हैं; भगवान आत्मा इन मिट्टियोंसे अलग है।

अब यहाँ पुद्गलसे भिन्न आत्माकी प्राप्तिके प्रति विरोध करनेवालोंसे, अर्थात् पुद्गलको ही आत्मा माननेवालोंसे, उनके आत्महितकी बात कहकर मधुरता और सम्भवसे उपदेश देते हुए कहते हैं कि–प्रभो! तुम्हारे द्वारा जड़-चेतनकी खिचड़ीमें आत्मा कैसे मान लिया गया। आचार्यदेव इसी प्रकार प्रेम पूर्वक उपदेश देते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं कि—

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥ ३४ ॥

अर्थः—हे भव्य ! व्यर्थका कोलाहल करनेसे तुझे क्या लाभ है ? तू इस कोलाहलसे विरक्त हो और एक चैतन्य मात्र वस्तुको स्वयं निश्चल-लीन होकर देख; ऐसा छह माह तक अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे तेरे हृदय सरोवरमें उस आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं, कि—जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गलसे भिन्न है।

हे भव्य आत्मा ! ठहर ! तू इस पुण्य-पापके भावको अपना मानकर उसमें क्यों अटक रहा है ? इस प्रकार तो तू कभी भी पार नहीं पा सकेगा। ऐसा उत्तम अवसर और सत् समागम प्राप्त हुआ, सर्वज्ञकी वाणी कानोंमें पड़ी फिर भी तू व्यर्थका कोलाहल क्यों कर रहा है ? भला, यह कैसी वात है कि—तुझे अपना स्वरूप समझमें नही आता और पर स्वरूप तू समझ लेता है ? यह मानव शरीर मिला और आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेका सुयोग मिला फिर भी तू कोलाहल कर रहा है कि हमारी समझमें नहीं आता यह तो कठिन मालूम होता है। अब यह व्यर्थका कोलाहल करना छोड़ दे।

हे भव्य जीव ! इस वृथाके कोलाहलसे क्या लाभ है ? इस शरीर मन्दिरमें काम क्रोधादि विकारोंसे रहित चैतन्य प्रभु विराजमान है, उसे देख, उसे ढूंढ़ और उसमें स्थिर हो जा। मैं ऐसा करूँ तो धर्म होगा और वैसा कर डालूँ तो धर्म होगा तथा परसे धर्म हो सकता है. इत्यादि व्यर्थका कोलाहल छोड़ दे और अब कुछ स्थिर हो, निवृत्त हो।

तेतीस गाथाएँ पूर्ण करते हुए आचार्यदेवने कहा था कि यह सुनकर किसे भेदज्ञान न होगा ? कोई दीर्घ संसारी हो तो उसकी यहाँ बात नहीं है। वहाँ तीन के दो अंकों पर (३३) जो कुछ कहा था वह यहाँ चारके दो अंकों (४४ वीं गाथा) में कहते हैं कि हम इतनी इतनी बातोंसे लेकर कहते आ रहे हैं, तब फिर यह सुनकर किसे आत्म प्रतीति न होगी ?

प्रभो ! पंचेन्द्रियके विषयोंको बन्द करके भीतर देख कि कैसी निर्मल चैतन्य धारा बह रही है, उसका शरीर, वाणी, पुण्य-पापके परिणामोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

पंचेन्द्रियोंका लक्ष्य बन्द करके आँखें बन्द कर ले तो भी भीतर अनेक वर्षोंकी स्मृतिको रख सकने लायक एक वस्तु विद्यमान है; जो

अनेक [illegible] और
[illegible] है, [illegible]
करने वाला शरीर और [illegible] भिन्न [illegible]
पदार्थ है, [illegible]।

एक परमाणु दूसरेका कुछ नहीं कर सकता, एक आत्मा दूसरेका कुछ नहीं कर सकता, इसलिये तू अपने ही आंगनमें खड़ा रह। कोई किसीका कुछ कर सकता है यह मानना त्रिकाल मिथ्या है। इसलिये यह जो कोलाहल है सो तेरे ही घरमें, तेरे ही आंगनमें हो रहा है। अब तूने अपने ही आंगनमें अर्थात् अपने ही भावोंमें रहकर अपनी कितनी हानि करनी है।

स्त्री, पुत्र इत्यादि तेरा कुछ नहीं कर सकते, देव-गुरु-शास्त्र भी तेरा कुछ नहीं कर सकते। कोई तेरा बिगाड़ने या सुधारनेमें समर्थ नहीं है और तू भी किसीका कुछ बिगाड़ने सुधारनेमें समर्थ नहीं है, सर्व द्रव्य असहाय हैं। इसलिये अब तुझे क्या करना शेष रह जाता है? तू केवल अपने भाव ही कर सकता है। उल्टे या सीधे भाव करना तेरे हाथकी बात है, क्यों कि दूसरेका तू कुछ नहीं कर सकता। जगतका प्रत्येक पदार्थ परसे असहाय है। तू यह माननेको समर्थ है कि जितने विकारी भाव होते हैं सो मैं हूं, किन्तु विकारी भाव करके तुझे क्या करना है? अब तुझे अपने ही आंगनमें कोलाहल करनेसे क्या लाभ है?

मनमें जो भाव होते हैं वे सब तेरे हाथमें हैं, किन्तु विकारी भावोंको अपना माननेसे तुझे क्या लाभ है? वस्तुका परम स्वतंत्र स्वभाव है, तब परभावको अपना मानकर तुझे कौनसा लाभ मिल जायेगा।

शरीरादि और स्त्री कुटुम्बादि तथा देव, गुरु, शास्त्र तेरा कुछ नहीं कर सकते और तू उनका कुछ नहीं कर सकता इसलिये सब ओरसे खदेड़कर तुझे एक ओर तेरे घरमें ले आये हैं, अब तू ही कह कि तुझे अपने ही आंगनमें, और अपने ही घरमें आकर कितनी हानी करनी है?

तू अपनी जाति और समाजका कुछ भी भला-बुरा करनेको समर्थ नहीं है, इसलिये अब अपने ही आंगनमें खड़ा रह। और पुण्य-पापकी वृत्तिसे अलग हो जा। तू भले ही अपने भीतर कोलाहल कर रहा है,

किन्तु पर पदार्थ तेरा कुछ भी नहीं कर सकते, त्रिलोकी नाथ तीर्थंकर भी तेरा कुछ नहीं कर सकते। वस्तुका यह परम सत्य स्वभाव है, इससे अन्य यदि कुछ हो तो वह मिथ्या है।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापके परिणाम और अहिंसा, सत्य, दया, दान आदिके पुण्य परिणाम हैं, इन दोनों अशुभ और शुभ परिणामोंमें फँसे रहकर तुझे अब कितना–क्या लाभ निकालना है? कोलाहलको बन्द कर! शान्त रह शान्त रह! और अब अपनी दया कर!

इस शरीरमें चैतन्य भगवान सर्वथा पृथक् तत्त्व विद्यमान है, उस चैतन्य मूर्तिमें स्थिर हो। स्वयं—स्वतः अनुभव कर, प्रत्यक्ष अनुभव कर। मन, राग और पर की अपेक्षासे रहित, तथा इस प्रकार परावलम्बनसे रहित स्वयं—स्वतः अनुभव कर, पराश्रयके बिना स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव कर। तेरा चैतन्यमूर्ति स्वभाव अलग है उसे पहिचान, उसीमें स्थिर हो, चैतन्यमूर्ति आत्माको स्वयं देख और निश्चल–लीन हो जा।

यहां इतना–इतना समझानेके बाद कहते हैं कि अब तू पृथक् हो जा अनुभव कर; यदि एकदम समझे बिना करना चाहे तो नहीं होगा। आचार्यदेव कहते हैं कि छह महिने तो अभ्यास कर निवृत्ति ले सारी बातें छोड़ दे और मात्र चैतन्यमूर्तिको ही भीतर अभ्यास करके परसे अलग कर।

आत्मा ध्रुव चैतन्यमूर्ति परसे निराला अखंडानन्द है। जैसे ठंडके दिनोंमें घी जम कर घन हो जाता है–कठोर हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा कठिन–कठोर है। जैसे उस कठिन घीमें उँगली नहीं जा सकती उसी प्रकार सुदृढ़ आत्मामें अन्य वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती।

जैसे घी अग्निके संयोगसे गर्म होकर ढीला हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा कर्मके संयोगसे राग-द्वेषमें युक्त हो तो अवस्थामें उष्ण होकर ढीला हो जाता है किन्तु द्रव्य तो सुदृढ़ ही है, अखंडानन्द ही है। वह खंडखंड नहीं हो सकता। ऐसे भगवान आत्माका छह महीने अभ्यास कर।

परदेशमें रुपया पैसा कमाने जाता है तो वहां कितने वर्ष लगा देता है? रुपये पैसेको अपना मानकर उसका स्वामी बनता है, किन्तु

रुपया पैसा तो जड़ पदार्थ हैं। तब यह तो विचार कर कि जड़का स्वामी जड़ होता है या चेतन? जड़का स्वामी जड़ ही होता है, जो जड़ शरीर और रुपया पैसा इत्यादिको अपना मानता है, वह जड़ ही है, उसे आत्माकी प्रतीति नहीं है। हे मूर्ख! तुझे तारनेवाला रुपया पैसा नहीं है, यदि तेरे लाखों करोड़ों रुपयोंको गलाकर तुझे पिला दें तो भी तेरी दुर्गति नहीं रुक सकती; और यदि अपने माने हुए लाखों करोड़ों रुपये किसीको दान दे दें तो भी धर्म नहीं हो सकता।

धर्म आत्माका स्वभाव है, उस स्वभावको कुछ कोलाहल बन्द करके देख। भगवान चैतन्य आत्मा जो कि निजधनसे भरपूर है, और जो धन कभी घट नहीं सकता, उसकी बात तुझसे कर रहे हैं, उसे एक बार अभ्यास करके देख ऐसा करनेसे अपने हृदय सरोवरमें जिसका तेज और प्रताप पुद्गलसे भिन्न है उस आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं?

जो लोग कहते हैं कि यह सूक्ष्म बात हमारी समझमें नहीं आती, उनसे आचार्यदेव कहते हैं कि अपने हृदय सरोवरमें कुछ खोज करके देख तो सही?

ऐसा समझे बिना अनन्तबार कुत्ता बिल्ली और गिजाई इत्यादि की भांति जन्म-मरण किये किन्तु ऐसे जन्म-मरणका क्या मूल्य है। जब मरने वाला मरता है तब घरके लोग एकत्रित होकर रोते हैं, और मरनेवालेके गुणगान कर चलते हैं कि वह बड़े पुण्यशाली थे? दुनियाके लोग ऐसे ही पागल होते हैं। कहीं पागलोंके सींग थोड़े ही उगते हैं? मेरी स्त्री मेरे पुत्र मेरा पैसा और सब कुछ मेरा-मेरा कहते हुए अज्ञानी जीव मूढ़ता पूर्वक मर गया, और मरकर न जाने कहां गया होगा, फिर भी लोग कहते हैं कि वह बड़ा पुण्यशाली था, भला वह पुण्यशाली कैसा? पुण्यशाली तो वह है, जो स्वरूपको पहिचान कर उसमें लीन होकर देहको छोड़ता है। यहां स्वरूपकी पहिचान करनेवालेको पुण्यशाली कहा है, उसमें पुण्यका अर्थ आत्माकी पवित्रता समझना चाहिये।

तू अपने तत्त्वकी पहिचानके बिना कहां जायेगा? तू अनन्तों

पहिचानके विना ही मानता हो कि मुझे लाभ होगा और धर्म होगा, तो
यह वात वृथा है। अपने आत्मस्वभावकी खवरके विना तू कहाँ जाकर
टिकेगा ? लोग जीवनकी वाजी लगाकर भी मोती निकालनेके लिये
समुद्रके नीचे जाते हैं, और इतना घोर परिश्रम करते है किंतु जव
आत्माका अभ्यास करनेकी वात आती है तो उसके लिये परिश्रम
करनेको जी नहीं करता।

लोग वड़े वड़े वेतन पाते हैं और मानते हैं कि यह हमारे परिश्रम
और चतुराईका फल है, किन्तु यह मिथ्या है, वह तो पूर्वकृत पुण्यका फल
है। इसीप्रकार उच्च पढ़ाई करके वड़ी वड़ी पदवियाँ पा लेना भी
वर्तमान पुरुपार्थका फल नहीं है। पहले ज्ञानावरणीयकर्मका अल्प वन्ध
किया होगा इसलिये ज्ञानका विकास वना रहा इसीसे वर्तमानमें वुद्धि
और कला दिखाई देती है, और पहले कुछ कपाय मन्द की होगी,
इसलिये वर्तमानमें पुण्यका उदय दिखाई देता है। तथापि यदि आत्माका
परिचय करे तो यह वर्तमान पुरुपार्थका फल है, धर्म पूर्वकृत पुण्यसे
नहीं होता किन्तु वह वर्तमान पुरुपार्थसे ही होता है, इसलिये उसके
लिये परिश्रम करना कठिन मालूम होता है। जो पुरुषार्थसे नहीं होता
उसमें परिश्रम मानता है चेष्टा करता है और जो पुरुपार्थसे होता है
उसके लिये परिश्रम नहीं करता। वड़ेसे वड़े अधिकारीका पद पा लेना
वर्तमान पुरुपार्थका फल नहीं है। रुपया पैसा प्राप्त करनेका राग है,
तव तक जिस किसी व्यापार या नौकरी इत्यादिसे पैसा मिलना हो
उस प्रकारका विकल्प आये विना नहीं रहता। वुद्धिका विकास होना
दूसरी वात है। यदि आत्म प्रतीतिके लिये पुरुपार्थ नहीं किया, तो
सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। इसलिये कहते हैं कि यदि अपने स्वरूपका
अभ्यास करे तो आत्म स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य हो।

एक भंगीका वालक भी वुद्धिशाली हो सकता है, और एक वणिक
पुत्र भी वज्र मूर्ख हो सकता है। ऐसा भी देखा जाता है कि–कोई
वणिक पुत्र दस वर्पमें भी जो कुछ नहीं लिख पाता उससे कई गुना
अधिक, और अल्प समयमें कोई भंगीका पुत्र पढ़ लेता है। इससे यह
सिद्ध हुआ कि वुद्धिका विकास होना वर्तमान पुरुपार्थका फल नहीं है।
यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो तत्काल ही आत्माका लाभ

पुरुषार्थसे हो जाता है; यदि परवस्तु हो तो तत्काल प्राप्ति नहीं हो सकती।

अपना स्वरूप तो विद्यमान है किन्तु उसे भूल रहा है। यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने पास ही है, अथवा यह कहना चाहिये कि वह तू ही है। चैतन्य भगवान ज्ञान-आनन्दसे भरपूर है। शरीर मन वाणी इत्यादि सब धूल समान हैं। मैं करूँ, धरूँ यह भाव और हिंसा-अहिंसाका भाव सब विकार हैं। और भीतर जो चैतन्यमूर्ति भगवान है वह तो निराला निर्विकार है; उसे तू देख तो सही! उसकी प्राप्तिके लिये एकबार छह महीने तक उसीके पीछे लगकर अभ्यास कर और फिर देख कि आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं। धर्म आत्माका स्वभाव है, उस स्वभावको निश्चल होकर एक बार तो देख। जिसका तेज-प्रताप अखण्ड है, उसका एकबार छह महीना अभ्यास कर और देख कि आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं। अवश्य प्राप्ति होगी।

यदि सावधान होकर देखे तो राग-द्वेष और शरीर रहित जैसा सिद्ध भगवानका स्वरूप है वैसा ही आत्मा भीतर विराजमान है, वैसा ही तुझे अनुभव होगा।

यहाँ जो छह महीनेके अभ्यासकी बात कही है, इसका यह अर्थ नहीं है कि इतना ही समय लगेगा, क्योंकि उसके लिये तो मुहूर्त मात्र ही पर्याप्त है। तू यदि आत्मस्वरूपको प्रगट करनेके लिये अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनटमें ही हो सकती है, किन्तु शिष्यको यह बहुत कठिन प्रतीत होता है, इसलिये यहाँ छह महीनेका समय कह दिया है। यहाँ कोई यह कह सकता है कि यदि छह महीनेमें आत्मस्वरूप प्रगट हो सकता हो तब तो यह बहुत सरल है; आचार्यदेव कहते हैं कि-वह सरल तो है ही, अपने स्वभावको जान ले तो वह तुझमें ही है, जो कि सरल ही है। कोई यह भी कह सकता है कि यह अभ्यास तो बहुत कठिन मालूम होता है। हम तो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दानमें दे सकते हैं, और उससे यदि धर्म लाभ होता हो तो ऐसा करनेको तैयार हैं। किन्तु यह तो विचार कर कि-यह रुपया पैसा तेरी वस्तु कहाँ है? वह तो पर वस्तु है, इसलिये उससे धर्म कैसे हो सकता है? धर्म तो तुझे अपना करना है, तब वह तेरा धर्म तेरी वस्तुसे प्रगट होगा या परवस्तुसे? तेरी वस्तु तेरे पास है, उसीसे धर्म होगा।

आत्माने अपने स्वभावको भूलकर पर लक्ष किया है, इसलिये उसे यह सब दुर्लभ प्रतीत होता है।

'अनुभव प्रकाश' में चाँपा नामक एक ग्वालेकी कहानी है, कि—एक चाँपा नामक ग्वाला था जो सबकी गायें चराने जाता था। लोग उसके यहाँ पूछने आया करते कि चाँपा! मेरी गाय आ गई? एक बार चाँपा शराब पीकर घर आया, और जिस प्रकार दूसरे लोग पूछा करते थे उसी प्रकार वह भी (अपनेको भूलकर) अपने द्वार पर खड़ा होकर पूछने लगा कि भाई चाँपा! क्या मेरी गाय आ गई? उसकी स्त्रीने आकर देखा कि यह तो चाँपा ही बोल रहा है, तो उसने कहा कि तुम ही तो चाँपा हो जरा होश संभालो, यह क्या कह रहे हो? तब उसे होश आया और वह समझ गया कि मैं ही चाँपा हूँ।

इसी प्रकार आत्मारूपी चाँपा ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह अज्ञानके कारण अपनेको भूला हुआ है; शरीरादिक और रागादिको अपना माननेसे उसे यह हो गया है कि वही मैं हूँ; क्योंकि उसे अनादि कालसे यही अभ्यास है। जब उसे समझाने वाले श्रीगुरु मिले तो उन्होंने कहा कि तेरा स्वरूप तो परम निर्मल सिद्ध समान है, तूने जो मान रखा है सो वह तेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जब वह गुरु वचन सुनकर सावधान हो जाता है, तो उसे मालूम होता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अपनेको भूला हुआ था।

जीवोंको इस कालमें यथार्थको समझना दुर्लभ हो गया है। इस पंचमकालमें अनेक स्थलों पर उल्टी प्ररूपणा हो रही है, और स्वयं समझ नहीं पाते, इसलिये लोगोंको यथार्थका समझना कठिन हो गया है। जब आत्माकी बात होती है तब कहते हैं कि सुबह-शाम आत्माकी ही बात क्यों होती है? किन्तु यह तो विचार कर कि आत्माके अतिरिक्त दूसरी कौनसी बात करनी है?

सत् समागमके द्वारा आत्मस्वरूपका श्रवण करके समझनेका प्रयत्न करे तो समझमें आये, किन्तु चैतन्य मूर्तिको भूलकर राग-द्वेष

पुण्य-पापमें फँसा है इसलिये वह कठिन होता है। किन्तु यह अनभ्यासके कारण और विपरीत माननेके कारण कठिन मालूम होता है। शास्त्रोंमें बोधिबीजदुर्लभकी बात आती है, किन्तु अपने स्वभावकी अपेक्षा वह सुलभ ही है। यदि उसके लिये एक बार परिपूर्ण अभ्यास करे तो छह महीनेसे अधिक समय नहीं लगेगा।

आजकल तो लोगोंने बाह्य अभ्यासको ही सब कुछ मान रखा है।

श्री देवचन्द्रजीने कहा है कि:—

द्रव्य क्रिया रुची जीवको रे, भाव धरम रुचि हीन;
उपदेशक वैसे मिले, तो—क्या करे जीव नवीन, रे।

आजकल जीवोंकी भाव भासन पूर्वक भावधर्मकी रुचि कम हो गई है। आत्मा क्या है? धर्म क्या है? मोक्ष क्या है? और मोक्षमार्ग क्या है? इसके यथार्थ स्वरूपको समझनेकी रुचि कम हो गई है; और बाह्य जड़की क्रियामें ही जीव रचपच रहे हैं, किन्तु क्या जड़की क्रियासे चैतन्यका धर्म हो सकता है? इतना भी विचारनेका अवकाश नहीं है। क्या किया जावे उपदेश देनेवाले भी ऐसे ही मिलते हैं, इसलिये विचारे जीव क्या नवीन कर सकते हैं?

आजकल जीव जड़ क्रियामें ही धर्म मान बैठे हैं। धर्म क्या है, इसकी उन्हें कोई खबर नहीं है। वे तो जिस तरफका उपदेश सुनते हैं उसी ओर हाँ जी हाँ कहने लगते हैं। जैसे ध्वजपुच्छ जिधरकी हवा होती है, उधर ही हिलता है इसी प्रकार स्वयं कुछ निर्णय न करके जहाँका उपदेश सुनता है वहीं कहने लगता है कि—'सत्य वचन महाराज'? इस प्रकार सत्य-असत्यकी परीक्षा न करके जो सरल होता है उसीको मान लेता है और जहाँ आत्माकी बात होती है वहाँ कहता है कि—यह तो सारे दिन आत्मा ही आत्माकी बात करते रहते हैं; इस प्रकार उस बातमें अरुचि प्रगट करता है। किन्तु यदि कोई रुपया पैसा क्रिया-कांड या शुभ परिणामसे

धर्म होना बताये तो वह रुचिकर मालूम होता है और कहता है कि आप जो कहते हैं सो वही ठीक है, इससे शीघ्र ही मनुष्यभवसे छुटकारा हो जायेगा? किन्तु वह भी मिथ्या नहीं है, इससे भवका छुटकारा नहीं तो मनुष्यभवका छुटकारा अवश्य हो जायेगा, अर्थात् मनुष्यभवको हारकर दुर्गतिमें जायेगा, और अनन्तकालमें भी पुनः यह मनुष्यभव मिलना कठिन हो जायेगा।

जिस भावसे बंध होता है, उस भावसे मोक्ष नहीं होता, जिस भावसे मोक्ष होता है उस भावसे बंध नहीं होता, जिस भावसे मनुष्यत्व मिलता है उस भावसे मोक्ष नहीं होता जिस भावसे तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है उस भावसे मोक्ष नहीं होता, और जिस भावसे मोक्ष मिलता है उस भावसे तीर्थंकर प्रकृति या मनुष्यत्व इत्यादि कुछ नहीं मिलता। आचार्य देव कहते हैं कि जिस विधि और पद्धतिसे कहा जा रहा है उसे भली भांति समझ ले तो जन्म-मरण न रहे अवतार न रहे, बंधन न रहे।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जिसमें तेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उसमें व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहा है, किन्तु जो हम कहते हैं उसमें एक वार तू छह मास तो अभ्यास कर; चैतन्य स्वरूपको समझकर उसमें लीन होनेका एक वार सततरूपसे उसके पीछे लगकर छह मास अभ्यास कर यदि सचमुच ही एक वार छह महीने अभ्यास कर लेगा तो आत्माकी प्राप्ति हुये विना न रहेगी।

यहाँ शिष्य पूछता है कि भगवन्? आत्मामें जो पुण्य, पाप, दया, हिंसा और भक्ति, पूजा या व्रतादिके भाव होते हैं उन्हें आपने जीव नहीं कहा, किन्तु उससे भिन्न आत्माका जो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है उसे जीव कहा है, किन्तु यह पुण्य-पापादिके भाव तो कथंचित् चैतन्यके साथ सम्बन्ध रखते हैं, किसी प्रकारसे चैतन्यकी अवस्थामें प्रतिभासित होते हैं, वे चैतन्यके अतिरिक्त लकड़ी आदि जड़ पदार्थोंमें होते हुए दिखाई नहीं देते। यहाँ शिष्यको जिज्ञासा हुई इसलिये अपने परिणामको देखना सीखा है। उसके कहनेका तात्पर्य यह कि—हर्ष-शोक, सुख-दुःख और उसका वेदन आत्माके साथ सम्बद्ध प्रतिभासित होता है, किन्तु वे भाव

मात्र चेतन होनेके स्वभावको ही जीव कहा है, किन्तु भीतर जो क्रोधादि भाव होते हैं वे कहीं लकड़ी इत्यादिमें नहीं होते, किन्तु चैतन्यमें दिखाई देते हैं, वे किसी अपेक्षासे चैतन्यमें होते हों ऐसा मालूम होता है, वे चैतन्यके साथ सम्बन्ध रखते हुए दिखाई देते हैं। लकड़ी आदिमें काम-क्रोध होता हो ऐसा कभी न तो सुना है और न देखा है, वह तो पुद्गल है, जड़ है, उसमें कहीं भी आत्मा नहीं है।

जड़में कहीं क्रोध दिखाई नहीं देता। कहीं मुर्दा भी क्रोध करता है? दया, सत्य आदिके पुण्य परिणाम और हिंसा असत्य आदिके पाप परिणाम-सब आत्माके साथ सम्बन्ध रखते हों ऐसा मालूम होता है। किन्तु प्रभो! आपने तो उन्हें निरा जड़ कहा है। इन समस्त विकारी परिणामोंको तो जड़ कहा ही है, किन्तु यदि उन्हें अपना मानूँ तो मुझे भी जड़ कहा है; किन्तु प्रभो! वे सब विकारी भाव मुझमें होते हुए प्रतीत होते हैं, सत्य बोलूँ या असत्य बोलूँ वह सब मेरे परिणाममें होता हुआ मालूम होता है। इसलिये मेरा समाधान करनेकी कृपा कीजिये।

उसके समाधानार्थ गाथा कहते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अर्थ:—आठ तरहके कर्म हैं, वे सब पुद्गल स्वरूप हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञ देवने कहा है, और कहा है कि—पक्व होकर उदयमें आनेवाले उन कर्मोंका फल प्रसिद्ध दुःख है।

यहाँ शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई धैर्य रख! आत्मा तो निराला तत्त्व है वह अनन्त ज्ञान, सुख इत्यादिसे परिपूर्ण है, और जो विकार है सो दुःख स्वरूप है, तथा दुःख अपना स्वभाव नहीं है, इसलिये वह पुद्गलमय है। अनादिकालीन भूलके कारण विकारी परिणामको अपना मान रखा है, विकारी परिणाममें अटक रहा है और यह मान बैठा है कि—मैं शुभाशुभ परिणाम जितना ही हूँ। इसलिये तेरी भूलके कारण तेरा हित नहीं

होता, अव तू अपनी भूलको छोड़ और आत्मामें स्थिर हो जा। धर्म कहाँ होता है वह आचार्यदेव वतलाते हैं। "वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तुका स्वभाव ही धर्म है। आत्मा एक वस्तु है, इसलिये आत्माका स्वभाव ही धर्म है। वह धर्म कहीं वाहर नहीं किन्तु आत्मामें ही है। पुण्य-पाप आदि अपना मूल स्वरूप नहीं है इसलिये वह पुद्गलमय है; वह आकुल स्वरूप है, आत्मा अनाकुल स्वरूप है इसलिये विकारी भाव पुद्गल कर्मका फल है, अतः वह पुद्गलमय है।

अध्यवसान आदि समस्त भावोंको उत्पन्न करनेवाले आठों प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्म-सव पुद्गलमय हैं, ऐसा सर्वज्ञ देवका वचन है।

यद्यपि सभी आत्मा समान हैं, किन्तु उनमेंसे किसीके ज्ञानका विकास कम और किसीका अधिक दिखाई देता है, सो इसका कारण स्वयंकी गई अनादिकालीन भूल है। अपने ज्ञानके विकासमें न रहकर स्वयं ही ज्ञानकी हीन अवस्था कर डाली है। स्वयं ज्ञानके विकासमें नहीं रहा तव ज्ञानावरणीय कर्मको निमित्त कहा जाता है कि, ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोक रखा है।

स्वयं अपनी दर्शनशक्तिके विकासमें न रहकर परमें दृष्टि करके स्वयं अटक रहा है, तव दर्शनावरणीयकर्मको निमित्त कहा जाता है कि, दर्शनावरणीयने दर्शनगुणको रोक रखा है।

मोहनीय अर्थात् स्वयं अपनी आनन्दशक्तिको भूलकर अपनेको राग-द्वेषरूप माने और विकारी भावोंमें अटक जाये तव मोहनीय कर्मकी उपस्थिति होती है।

अन्तराय अर्थात् मैं अनन्तवीर्यवान हूँ, ऐसा न मानकर मैं शक्तिहीन हूँ, यों अपने वलको हीन मानता है, इसलिये उसका वल रुक जाता है। और जव इस प्रकार रुक जाता है तव वीर्यान्तराय कर्मको निमित्त कहा जाता है कि वीर्यान्तराय कर्मने वीर्य-वलको रोक रखा है; किन्तु पर द्रव्य आत्माको नहीं रोक सकता, किन्तु जव स्वयं अटक जाता है तव ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंको निमित्त कहा जाता है।

शेप चार अघातिया कर्म बाह्य संयोगोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं, और वे चारों कर्म बाह्य फल देते हैं।

साता-असाताका होना सो वेदनीय कर्म है। शरीरमें सुख-दुःखका होना वेदनीय कर्मके कारण है।

शरीरका टिकना या न टिकना आयुकर्मके कारण है। यदि कोई कहे कि मैं शरीरको अधिक समय तक टिकाये रखूँ तो वह नहीं टिक सकता जितनी आयु होती है, उतना ही टिकता है। इसका कारण आयुकर्म है।

शरीरका सुन्दर या असुन्दर होना सुस्वर या दुस्वर होना अथवा शरीरकी अच्छी-बुरी आकृतिका होना इत्यादि सबका कारण नामकर्म है।

उच्च-नीच जातिमें अवतार होनेका कारण गोत्रकर्म है।

जैसे इस शरीरादिकी स्थूल मिट्टी है, उसी प्रकार भीतर कार्मण-शरीरकी सूक्ष्म मिट्टी है, जो कि पुद्गल ही है। आचार्यदेव कहते हैं कि—आठों कर्मकी मिट्टी पुद्गलमय है, ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है।

यदि सामने निमित्तरूप कोई दूसरी वस्तु न हो और मात्र आत्मा ही भूल करे तो भूल आत्माका स्वभाव हो जाये, और यदि भूल स्वभाव हो जाये तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। ज्ञानस्वरूप—आनन्द स्वरूप अकेला हो और साथमें कोई दूसरी वस्तु न हो तो फिर भूल होनेका कारण ही क्या हो सकता है? इसलिये दूसरी वस्तु भूलमें निमित्त है, और उस दूसरी वस्तुका उपाधिभाव अपनेमें कल्पित किया जाता है। जब यह समझा जाता है कि वह अपनेमें है, तब वह दूसरी वस्तु कर्म, उस भूलमें निमित्त होती है। दूसरा निमित्त सामने है, इसलिये उसके उपाधिभावको अपना मानता है, और स्वयं भूलता है। दूसरी वस्तु हो तो भूल होती है, मात्र अपना शुद्ध स्वरूप हो तो उसे भूलनेका कारण क्या है? साथमें दूसरी वस्तु हो, और वह यदि अपनी मान ली जाये तो अपने आनन्द-स्वरूपसे विचलित होता है। इसलिये दूसरी वस्तु कर्म है और भूल होनेमें उसकी उपस्थिति होती है। यद्यपि स्वयं ही भूल करता है, किन्तु भूल होनेमें पुद्गल कर्मकी उपस्थिति है।

बात नहीं है, वहाँ तो अपना सारा सयान लगाता है, और परिश्रम करता है, मानता है। किन्तु जो अपने हाथकी वात है, जिसे स्वयं कर सकता है, ऐसे आत्माके हितकी वात होती हो तो कहता है कि यह हमारी समझमें नहीं आती ! इस प्रकार जीवोंने अनन्तकालसे अपनेको समझनेकी चिंता ही नहीं की।

यह आत्मा एक वस्तु है, पदार्थ है, ध्रुव-अविनाशी वस्तु है, ज्ञान और आनन्दकी मूर्ति है; ऐसे आत्मामें अच्छे-बुरेका विकल्प नहीं हो सकता। किन्तु जो अच्छे-बुरेके भाव होते हुए दिखाई देते हैं वह कर्मजनित उपाधि है। उस कर्मजनित उपाधिको निश्चयसे अपना मानना ही विपरीत अध्यवसान है। विपरीत अध्यवसान-विपरीत रुचि-विपरीत मान्यता, यह सब कर्मजनित उपाधि है इसलिये पुद्गल है; ऐसा सर्वज्ञ भगवानका वचन है।

अनाकुलता है लक्षण जिसका-ऐसा सुख नामक आत्मस्वभाव है उससे सर्वथा विलक्षण होनेसे जो विपाकको प्राप्त वे कर्मफल दुःखरूप हैं।

विपाककी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए कर्मफलका अर्थ यह है कि जैसे कच्चे चावल पक जाते हैं तब वह उनका पाक कहलाता है, अथवा चिरायतेको उबालनेसे जो कड़वा अर्क उतर आता है, वह चिरायतेका पाक कहलाता है; इसी प्रकार कर्मोंने जो शुभाशुभ रूप फल दिया सो वह कर्मोंका पाक है, वह आत्मस्वभावसे विपरीत लक्षणवाला होनेसे दुःखरूप है। आत्मा आनन्द मूर्ति सुखका सागर है उसमें जो राग-द्वेष और पुण्य-पापके भावका स्वाद आता है वह कर्मका स्वाद है।

लोग कहते हैं कि आम खानेसे हमें आमके रसका स्वाद आ गया, किन्तु यह तो विचार करो कि आम जड़ है या चेतन ? सभी कहेंगे कि वह जड़ रजकणोंका समूह है, किन्तु क्या जड़ रजकणोंको चेतन खा सकता है ? वास्तवमें बात तो यह है कि यह आम मीठा है, इसे आत्मा मात्र जानता है, किन्तु अनादिकालसे मूढ़ आत्माने कभी विचार नहीं किया कि यह रसास्वाद कहाँसे आता है, वह तो यही मानता है कि-मुझे पर पदार्थसे रस आता है—स्वाद मिलता है।

इसी प्रकार पुण्य-पापके रसका स्वाद कर्ममेंसे आता है, किन्तु आत्मा अपने निराकुल आनन्दको भूलकर शुभाशुभ भावके रसको अपना

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानकी जो बात आत्माश्रित कही जाती है, वह सब परमार्थ दृष्टि अर्थात् निश्चय दृष्टि की है।

शुभाशुभभाव आत्माकी अवस्थामें होते हैं, उस बातको यहाँ गौण कर दिया है, और स्वाश्रयभावको ही मुख्य रखा है। आत्मोन्मुख होते हुए जो भाव होते हैं उन्हीं पर यहाँ भार दिया गया है।

अध्यवसानादि भाव जीवके हैं और नहीं भी हैं—ऐसा आगममें कहा है। पहले ४४ वीं गाथामें कहा था कि अध्यवसानादि भाव सब जीव नहीं हैं—ऐसा सर्वज्ञका वचन है, और वह आगम है। यहाँ भी शिष्य कहता है कि जो अध्यवसानादिभाव हैं वे पुद्गल स्वभाव हैं; तो सर्वज्ञके आगममें उन्हें जीवरूप कैसे कहा गया है? इस प्रकार दोनों जगह सर्वज्ञके आगमकी बात कही है।

शास्त्रमें दो नयोंसे कथन है। एक आत्माश्रित होने वाले जो भाव हैं सो निश्चयकी बात है, और दूसरे कर्माश्रित होने वाले जो भाव हैं सो व्यवहारकी बात है; ऐसे दो प्रकारसे बात होती है।

आत्माश्रित होनेवाले भाव मोक्षमार्ग है और कर्माश्रित होनेवाले भाव बन्धमार्ग है।

शिष्य परमार्थकी बात सुनकर पूछता है कि सर्वज्ञके आगममें अध्यवसानादिको जीव क्यों कहा है? प्रभो! आपने यह पुकार पुकार कर कहा है कि अध्यवसानादिक जीव नहीं हैं, किन्तु दूसरे शास्त्रोंमें यह लिखा है कि अध्यवसानादिके साथ जीवका सम्बन्ध है, शरीरके साथ जीवका सम्बन्ध है। दोनोंमेंसे ठीक क्या है? इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि:—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

अर्थः—यह सब अध्यवसानादिक भाव हैं सो जीव हैं ऐसा जिनेन्द्र देवने जो उपदेश दिया है सो वह व्यवहारनय दर्शाया है।

पराश्रयकी—निमित्तकी ओरकी जो वात है सो वह 'है' यह जाननेके लिये है, ग्रहण करनेके लिये नहीं।

यह सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं, ऐसा जो भगवान सर्वज्ञ देवने कहा है सो वह व्यवहारनयके अभूतार्थ होते हुऐ भी व्यवहारनयको वतानेके लिये कहा है।

पराश्रयसे आत्मामें जो भाव होता है, वह त्रिकाल रहनेवाला भाव नहीं है, वह अभूतार्थ है। आत्मामें जो राग-द्वेपादि भाव होते हैं सो व्यवहार है। राग-द्वेपकी अवस्था आत्मामें एक समय मात्रकी होती है। राग-द्वेष और शुभाशुभ भाव आत्माका वास्तविक स्वभाव नहीं है, किन्तु उसका और आत्माका एक क्षणमात्रका सम्बन्ध है।

शरीर और आत्माका भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ सम्बन्ध है यह वताया है, किन्तु उसे आदरणीय या ग्राह्य नहीं कहा।

आत्माका स्वभाव ही ग्राह है। एक क्षण मात्रकी राग-द्वेष आदिकी जो अवस्था होती है, उसका आत्माके साथ एक क्षणका ही सम्बन्ध है, किन्तु वह आत्मभान द्वारा, दूर करने योग्य है। मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, निर्मल हूँ ऐसा जो लक्ष करना पड़ता है, सो वह यह वतलाता है कि अवस्थामें मलिनता है। यदि अवस्थामें मलिनता न हो तो आत्माकी ओर उन्मुख होना कहाँ रहा ?

यदि कोई कहे कि आत्मामें क्षण मात्रके लिये भी राग-द्वेप नहीं होता और शरीरके साथ आत्माका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है, उससे इस सम्बन्धकी वात कही जाती है कि—शरीर मेरा है ऐसा विपरीत माननेमें शरीर निमित्त है, उतना व्यवहार सम्बन्ध है, शरीरके साथ जो एकत्वबुद्धि है सो शरीरके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। शरीरकी ओरका जो राग है, सो भी शरीरके साथ सम्बन्ध रखता है, वह व्यवहार है।

जैसे म्लेच्छ भापा म्लेच्छोंको वस्तु स्वरूप वतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंके लिये परमार्थका कहनेवाला है; इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिये व्यवहारनयका दर्शाना न्यायसंगत ही है।

व्यवहारनयका विषय असद्भूत है, अतः वह आदरणीय नहीं है; आदरणीय तो निश्चयनयका विषय अखंड आत्मा ही है। तथापि वर्तमान दशामें जानना चाहिये कि मन्द पुरुषार्थकी अशक्तिको लेकर यह राग-द्वेषकी अवस्था होती है, यदि ऐसा ज्ञान हो तो उस अवस्थाको दूर करनेका पुरुषार्थ करना होता है। किन्तु व्यवहारदृष्टि तो भंग दृष्टि है, खंड दृष्टि है, पराश्रित है, इसलिये वह आदरणीय नहीं है, वह छोड़ने योग्य नहीं है। मेरा ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। मैं त्रिकाल ज्ञाता अखंड हूँ, वही एक आदरणीय है, ऐसी दृष्टि निश्चयदृष्टि है, वह सम्यग्दृष्टि है। निश्चयदृष्टि आत्मामें शुभाशुभ भावको स्वीकार नहीं करती किन्तु निषेध करती है। किन्तु जब तक अपने पूर्ण पवित्र स्वभावमें पूर्णतया स्थिर न हो जाये, पूरी पर्याय न हो जाये तब तक जो जो अवस्था होती है, उसे ज्ञानी भली भाँति जान लेता है। जो जो अवस्था होती है उसे ध्यानसे बाहर नहीं जाने देता, किन्तु उन्हें जान लेता है सो व्यवहारनय है। मैं कर्मस्वभाव नहीं हूँ मैं रागभाव नहीं हूँ, ऐसी दृष्टि विद्यमान है, किन्तु जब तक पूर्ण स्वभाव प्रगट नहीं हुआ तब तक हीन पुरुषार्थकी अवस्थाको भी जान लेना व्यवहारनय है। जहाँ यह कहा कि आत्मा रागयुक्त नहीं है, वहाँ यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पहले रागयुक्त था। जहाँ एक अपेक्षासे कथन होता है वहाँ दूसरी अपेक्षा आ जाती है, इसलिये

व्यवहार है।

व्यवहारी जीवोंको व्यवहारकी भाषासे समझाते हैं कि आत्मा रागयुक्त है, द्वेषयुक्त है, और वह विकार है। विकार अवस्थामें होता है, स्वभावमें नहीं, ऐसा कहा कि वहाँ भेद हो गया। भेद किये विना कैसे समझाया जाये? यद्यपि भेदसे अभेद नहीं समझा जा सकता, किन्तु अभेदको समझते हुए वीचमें भेद आ जाता है। व्यवहारनय परमार्थको कहनेवाला है, किन्तु परमार्थरूप नहीं है। परमार्थको समझते हुए वीचमें व्यवहार आ जाता है, इसलिये उसके आरोपसे ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारसे समझा है, किन्तु वास्तवमें व्यवहारसे नहीं समझा, लेकिन यथार्थको समझते हुए वीचमें व्यवहार आ जाता है।

व्यवहारका अर्थ है विकल्प। विकल्पसे समझा नहीं जाता, किन्तु अभेद निर्विकल्प स्वरूप होनेमें वीचमें विकल्प आ जाता है, वह व्यवहारनय पराश्रित है। व्यवहारनय परमार्थको भी कहता है। व्यवहारनय अपरमार्थभूत है, फिर भी उसे धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए वताना न्यायसंगत है।

व्यवहार परमार्थको कहनेवाला है किन्तु वह लाभदायक नहीं है। यदि अज्ञानीसे कहा जाये कि तू आत्मा है, तो मात्र आत्मा शब्द कहनेसे वह नहीं समझेगा इसलिये उसे समझानेके लिये यह कहा जाता है कि—देख जो यह जानता है सो आत्मा है, या जो प्रतीति करता है सो आत्मा है, इत्यादि। इसीप्रकार धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिके लिये व्यवहारनय कहा जाता है, वह व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थ वतानेवाला है किन्तु परमार्थको प्रगट करनेवाला नहीं है।

आत्मा अनन्तगुणका पिंड है, उसमेंसे एक गुणको भेद करके समझाना व्यवहार है। मुनि, आर्यिका, श्रावक, और श्राविकाको समझानेके लिये कहे कि देखो यह आत्मा है सो जीव कहलाता है. यह शरीरादिक अजीव कहलाते हैं, जो शुभाशुभ भाव होते हैं सो आस्रव हैं, वह विकारी भाव हैं और आत्माके अखण्ड स्वभावको लक्षमें लेने पर निर्मल पर्याय प्रगट हो और मलिन अवस्था दूर हो सो संवर है, आत्मस्वभावमें गाढ़ स्थिरता होना सो निर्जरा है, कर्मका खिर

जाना द्रव्य निर्जरा है; संवर और निर्जरा मोक्षमार्ग है, और सम्पूर्ण निर्मल पर्यायका प्रगट होना सो मोक्ष है। ऐसे नव तत्त्वके विकल्प राग मिश्रित हैं, तथापि ऐसे भेद करके, व्यवहार धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिके लिये समझाया जाता है। स्वरूपको समझते हुए और उसमें स्थिर होते हुए बीचमें शुभविकल्पका व्यवहार आता है, सो वह व्यवहार धर्मतीर्थ है; इतना ही नहीं, किन्तु समझकर स्वरूपमें स्थिर होना भी व्यवहार धर्मतीर्थ है। किन्तु वह व्यवहार परिपूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होनेसे पूर्व बीचमें आता अवश्य है, इसलिये व्यवहार समझाया जाता है। परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य दृष्टिके विषयमें ऐसे भेद नहीं होते।

व्यवहार है तो अवश्य, यदि वह न हो तो उपदेश देना ही व्यर्थ सिद्ध होगा। आत्मामें मलिन अवस्था होती है, उसे दूर किया जा सकता है। साधक अवस्था है, बाधक अवस्था है, और अपूर्ण अवस्था है उसे पूर्ण किया जा सकता है। अशुभ परिणामको दूर करनेके लिये निम्न भूमिकामें शुभ परिणाम आते हैं, किन्तु शुद्धदृष्टिके बलसे स्वरूपमें स्थिर होने पर शुभ परिणाम भी दूर हो जाते हैं। पुरुषार्थके द्वारा मोक्षमार्गमें ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी अवस्था साधी जाती है; इत्यादि भेदोंको व्यवहारनय बताता है, इसलिये व्यवहारनयका बताना न्याय संगत है। व्यवहार है अवश्य, किन्तु वह वर्तमान मात्रके लिये है, त्रिकाल नहीं है। अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण आत्मा त्रिकाल है, त्रिकाली अर्थात् समस्त नय एकत्रित करके त्रिकाली अखण्ड हो ऐसा नहीं है वह जैसे वर्तमानमें परिपूर्ण अखण्ड है वैसा ही त्रिकाल परिपूर्ण अखण्ड है, इसलिये आत्मा त्रिकाल है, आत्मा वर्तमानमें ही परिपूर्ण अखण्ड है, ऐसा विषय करने वाली दृष्टि परमार्थदृष्टि है। जो व्यवहार है सो वर्तमान एक समय पर्यन्त ही है, वह बदल जाता है, इसलिये अभूतार्थ है इसलिये व्यवहारनय आदरणीय नहीं है। व्यवहारनय, व्यवहारनयसे आदरणीय है, किन्तु वह आत्मामें त्रिकाल स्थायी भाव नहीं है। वह व्यवहारनय परमार्थ दृष्टिसे आदरणीय नहीं है। मलिन अवस्था और निर्मल अवस्था तथा अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्थाका परिपूर्ण दृष्टिमें स्वीकार नहीं है; वह दृष्टि उसे स्वीकार नहीं करती, उसका

दर नहीं करती। व्यवहार है वैसा ज्ञानमें जानना सो व्यवहारनय है।
निम्न भूमिकामें बीचमें निमित्त आये विना नहीं रहते, अशुभ
रिणामोंको दूर करनेके लिये शुभ परिणाम आये विना नहीं रहते,
पूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्थाका भेद हुए विना नहीं रहता; इसलिये
यवहार है, अवश्य।

अनादिमिथ्यादृष्टिको सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेके लिये साक्षात्
चैतन्यमूर्ति देव-गुरुके अपूर्व वचन एकवार कानमें पडना चाहिये, ऐसा
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जहाँ सत्को समझनेकी जिज्ञासा जागृत
होती है, वहाँ ऐसे निमित्त मिल जाते हैं। जो निमित्त मिलते हैं सो
निमित्तके कारण मिलते हैं, और जो समझता है सो अपने कारणसे
समझता है। निमित्तके विना समझा नहीं जाता, किन्तु वह भी सच है कि
निमित्तसे समझा नहीं जाता। एकवार सत् वचन कानमें पड़ना चाहिये।

सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेके वाद भी जब तक अपूर्ण अवस्था है, तब
क साधक जीवोंके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं इसलिये उनके
उदय भी भिन्न प्रकारके होते हैं। राग भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है
और रागके निमित्त भी भिन्न प्रकारके होते हैं। रागके अनुसार निमित्त-
का संयोग हो तो रागके निमित्त भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं,
जैसे प्रतिमा, दर्शन, स्वाध्याय, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि।

चतुर्थ पंचम और छट्ठे गुणस्थानके अनुसार अमुक मर्यादा तक
ाका उदय होता है। उसमें चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती समस्त साधक
वोंके रागका उदय एकसा नहीं होता, किन्तु अनेक प्रकारका होता
और निमित्त भी अनेक प्रकारके होते हैं। तथा छठे गुणस्थानवर्ती
मस्त साधक मुनियोंके रागका उदय एकसा नहीं होता किन्तु अनेक
कारका होता है और उनके निमित्त भी अनेक प्रकारके होते हैं;
से स्वाध्याय, उपदेश, शास्त्र रचना, भगवानका दर्शन, स्तुति, अभिग्रह
वृत्तिपरिसंख्या) इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकारके शुभभाव होते हैं और
दनुसार उसके उदयके अनुकूल वाह्य निमित्त भी भिन्न-भिन्न प्रकार-
होते हैं। चैतन्यकी अवस्थामें शुभरागका उदय आता है किन्तु उस

है; इसलिये वह राजकाजमें विद्यमान है। वह वीतराग हो गया है; और कोई राग-द्वेप नहीं रहा है, फिर भी संसारमें-राजकाजमें लगा हुआ है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जितना राग विद्यमान है उतना शरीर, राज्य और स्त्री इत्यादिके साथ सम्बन्ध विद्यमान है। रागके कारण गृहस्थाश्रममें विद्यमान है यदि राग छूट जाये तो मुनि हो जाये। रागका और गृहस्थाश्रमका सम्बन्ध है। यदि राग छूट जाये तो गृहस्थाश्रम छूट जाये ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। चारित्रदशा प्रगट नहीं हुई इसलिये गृहस्थाश्रममें विद्यमान है।

राग है, निमित्त है, उसे ज्ञानमें स्वीकार करना सो व्यवहारनय है; यदि उसे स्वीकार कर ले तो पुरुपार्थ करना होता है। व्यवहार है, यह जानना सो व्यवहारनय है। इससे अतिरिक्त व्यवहारनयका दूसरा अर्थ नहीं है।

जो निमित्तको रखने योग्य माने और लाभदायक माने, तथा रागको रखने योग्य या लाभदायक माने वह मिथ्यादृष्टि है। जो निमित्त और रागका कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

यह समयसार शास्त्र परमार्थकी बात कहनेवाला है, उसमें व्यवहार गौण है। व्यवहारकी मुख्यतावाले अन्य अनेक शास्त्र हैं। किन्तु इस शास्त्रमें कथित परमार्थको समझे बिना तीन काल और तीन लोकमें सिद्धि नहीं हो सकती। परमार्थ प्रगट होते हुए बीचमें व्यवहार आ जाता है। उस व्यवहारको बताने वाले व्यवहारशास्त्र हैं, किन्तु जो मात्र व्यवहारको पकड़ रखता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जब स्वयं राग-द्वेष करता है तब कर्म निमित्तरूप होते हैं, किन्तु यदि यह माने कि कर्मने राग-द्वेष कराया है तो वह व्यवहार ही निश्चय हो गया, और यदि राग-द्वेषको अपना माने तो व्यवहार ही परमार्थ हो गया।

त्रिकालदृष्टि-परमार्थदृष्टि भूलका नाश करती है। निमित्त और रागके सम्बन्धमें व्यवहार बीचमें आता है, उसे जानना सो व्यवहारनय है, किन्तु उसे आदरणीय मानना सो व्यवहारनय नहीं है।

राग-द्वेप तथा शरीरका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; यदि वह न हो तो कैसे समझाया जायेगा? शरीर तेरा नहीं है और राग-द्वेप

तेरे नहीं हैं, ऐसा मान, ऐसे उपदेशके द्वारा उस अज्ञानीको समझाया जाता है कि जो शरीरको और राग-द्वेषको अपना मानता है।

शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं, इस परमार्थतत्त्वको समझ लेने पर मारनेके भाव नहीं होते। जो अस्थिरता होती है उसे यहाँ नहीं लिया है।

परमार्थके द्वारा जीव राग-द्वेष-मोहसे भिन्न वताया जाता है, इसलिये 'रागी-द्वेपी-मोही जीव कर्मोसे वंधते हैं उन्हें छुड़ाना चाहिये' —इस प्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव होगा, और इसलिये मोक्षका ही अभाव हो जायेगा।

वास्तवमें तो आत्मा राग-द्वेपसे भिन्न है, किन्तु विपरीत दृष्टिके कारण राग-द्वेपको अपना मान रहा है। उस विकारी अवस्थाके साथ आत्माका वर्तमान पर्याय जितना सम्बन्ध है, उतना व्यवहार सम्बन्ध न हो तो यह उपदेश नहीं हो सकता कि तू विकारको छोड़ दे और मुक्तिको प्राप्त कर।

परमार्थदृष्टि तो आत्माको परसे भिन्न ही वतलाती है, किन्तु व्यवहार सम्बन्धसे कहा जाता है कि तू पुण्य-पापसे वँधा हुआ है। यदि परकी अपेक्षा न हो तो उसे छुड़ानेका उपाय—मोक्षका उपाय जो निर्मल श्रद्धा, निर्मल ज्ञान, और निर्मल चारित्र है, उसका उपदेश भी नहीं दिया जा सकेगा, और यह नहीं कहा जा सकेगा कि—मोक्षके उपायको ग्रहण कर।

यदि मात्र ध्रौव्यको ही माना जाये तो राग-द्वेपके व्यय और मुक्तिके उत्पाद करनेका पुरुपार्थ ही न हो सकेगा।

यद्यपि मोक्षका उपाय ध्रुव दृष्टिसे ही होता है, किन्तु उस ध्रुव दृष्टिके द्वारा मोक्ष पर्यायका उत्पाद और वन्ध पर्यायका व्यय होता है; यदि उत्पाद-व्ययको स्वीकार न करे तो पर्यायमें भी मलिनता सिद्ध नहीं होगी, और तव मलिनता दूर करनेका उपदेश भी नहीं दिया जा सकेगा।

यहाँ जिस प्रकार नाप तौलकर कहा जा रहा है, उसी प्रकार समझना चाहिये। यदि त्रैकालिक स्वभावमें विकारकी नास्ति माने और

उस स्वभावको निर्मल माने तो ही मोक्षका उपाय होता है, परन्तु मोक्षमार्गकी पर्याय और मोक्षकी पर्याय दोनों व्यवहार हैं। यदि व्यवहारको न माने तो मलिनताको दूर करनेका उपदेश नहीं दिया जा सकता। ध्रुवदृष्टिके बलसे मोक्षमार्गकी अवस्था और मोक्षकी अवस्था प्रगट होती है, उसे ज्ञानमें स्वीकार करना सो व्यवहारनय है। बन्धकी अवस्था, मोक्ष और मोक्षमार्गकी अवस्था है, इसलिये व्यवहारको बताना न्यायसंगत है।

यह आत्मा देहसे निराला अनन्तगुणस्वरूप तत्त्व है। यह शरीररूपी रजकणोंका एक पुतला है, उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं; यह अनन्त रूपी परमाणुओंका पुतला है। जहाँ शरीर है, उसी क्षेत्रमें आत्मा है। वह आत्मा भी शरीराकार अरूपी एक पुतला है। जहाँ आत्मा है, उसी स्थान पर कार्माण शरीरका भी एक पुतला है। जो विकारी भाव है वह जड़ कर्मके आश्रय करनेसे होता है, किन्तु परमार्थ दृष्टिसे आत्मामें विकारकी नास्ति है। आत्मा देहसे पृथक् तत्त्व है, अनन्तगुणोंकी पिंडरूप एक वस्तु है; यह बात अनन्तकालमें जीवोंने कभी नहीं सुनी और उसके प्रति रुचि नहीं जमी, तब फिर एकाग्र होना कहाँसे हो सकता है?

पहले आत्माको समझे बिना यथार्थ वर्तन नहीं हो सकता, इसलिये आत्मस्वरूप समझनेके लिये सच्चे देव-गुरुकी वाणीका श्रवण और उनका संग करना चाहिये। व्यवहारमेंसे रुचि हटकर आत्मस्वभावकी रुचि जागृत हुए बिना यथार्थ नहीं समझा जा सकता। आत्मस्वभावकी रुचि जागृत होने पर वह स्वभाव जिसे प्रगट हुआ है, उसे यथार्थ देव-गुरु पर बहुमान और भक्ति हुए बिना नहीं रहती। पहले आत्माको समझनेकी सत् जिज्ञासा सहित देव-गुरु-शास्त्रका बहुमान पूर्वक समागम, सत् श्रवण, सत् पठन और सत् विचार आयेगा। सत्को समझनेकी आकांक्षासे यथार्थ ज्ञान और श्रद्धा होती है उसके बाद यथार्थ प्रवृत्ति (चारित्र) होती है। आत्माका चारित्र आत्मामें होता है, जड़में नहीं। समझनेके बाद स्वरूपमें स्थिर होना सो अन्तरंगकी अरूपी क्रिया है,

वह यथार्थ प्रवृत्ति है, वह सच्चे व्रत हैं। स्वभावदृष्टिके वलसे अशुभ-
रागको दूर करते करते राग रह जाता है, उसमें व्रत तपके शुभ भाव
सहज होते हैं। स्वरूप स्थिरतामें टिकने पर जितना रागका नाश
होता है, उतना चारित्र है।

सम्यक्दर्शनके विना व्रत और चारित्र सच्चे नहीं हो सकते।
पहले सम्यक्दर्शन होता है. अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान होता है, तत्पश्चात्
आगे वढ़ने पर पाँचवाँ गुणस्थान आता है, जहाँ आंशिक स्वरूपस्थिरता
वढ़कर अव्रतके परिणाम दूर हो जाते हैं, और शुभ परिणामरूप व्रत
होते हैं, जो कि व्यवहार व्रत हैं; और जो स्वरूपमें स्थिरता वढ़ी सो
निश्चय व्रत हैं। इसके वाद छट्ठा गुणस्थान होता है, तव मुनित्व प्राप्त
होता है, वहाँ स्वरूपरमणता विशेष वढ़ जाती है। पहले सच्ची श्रद्धा
होती है, और फिर व्रत होते हैं, यह मोक्षमार्गका क्रम है।

आजकल लोग उपरोक्त समझनेके मार्गका क्रम छोड़कर वाह्य
व्रत-तप इत्यादिमें धर्म मान रहे हैं, जिसमें मात्र शुभ परिणाम हो तो
पुण्य वंध हो सकता है, किन्तु भवका अभाव नहीं हो सकता। लोगोंने
ऐसे वाह्य व्रत तप इत्यादिमें सर्वस्व मान रखा है, और उन्हीसे धर्म
मोक्षका होना मान लिया हैं, किन्तु ऐसी मान्यता मात्र मिथ्यादर्शन
शल्य है। ऐसी मान्यतासे एक भी भव कम होनेवाला नहीं है। पहले
सच्ची श्रद्धा कर, उसके वाद यथार्थ चारित्र वन सकेगा। सत् श्रवण,
मनन और वहुमानके शुभ परिणामके साथ सत् रुचि और सत्को
समझनेका शोधन यदि यथार्थ हो तो अवश्य सत् समझमें आवे और
सम्यक् श्रद्धा प्रगट हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि विषय-कषायका
अशुभ राग दूर न किया जाये। विषय-कषायकी तीव्र आसक्तिको दूर
करनेके लिये शुभराग होगा, किन्तु वह धर्म नहीं है, इसलिये पहले
यथार्थको समझनेका प्रयास करना चाहिये और उस ओर उन्मुख रहना
चाहिये, यह सच्चे मार्गको प्राप्त करनेका क्रम है।

सम्यक्दर्शनके साथ निःशंकादि अष्ट अंग होते हैं। व्रतका प्रकार
तो पंचम गुणस्थानमें होता है, इसलिये सत् समागमसे पहले सच्ची
समझ प्राप्त करनी चाहिये। जीवने अनन्तकालसे धर्म श्रवण नहीं

किया। उपवासादि करके यदि कषायको कृश करे तो पुण्य बंध होता है, किन्तु उससे भवका अभाव नहीं होता।

जो शुभाशुभभाव होते हैं सो विकारी भाव हैं। कर्मके निमित्तसे जितने भाव होते हैं वे सब विकारी भाव हैं। वे आत्माका स्वभाव धर्म या हितरूप नहीं हैं। विकार सदा स्थायी नहीं है और आत्मा सदा स्थायी वस्तु है। उसे पहिचान तो तेरा हित हो, धर्म हो।

शिष्यने दूसरी ओरका तर्क उपस्थित करते हुए कहा था कि प्रभो! आपने तो आत्माके मात्र शुद्ध स्वरूपकी ही बात कही है, और उसीको जानने-देखने और स्थिर होनेको कहा है किन्तु अन्य शास्त्रोंमें तो ऐसा कथन है कि—आत्मा राग-द्वेष और देहयुक्त है; तब इन दोनों बातोंका मेल कैसे बैठ सकता है।

इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि-भगवान सर्वज्ञदेवने यह कहा है कि-यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं, सो यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तथापि व्यवहारनयको भी बताया है।

आत्मामें पराश्रय भाव होता है, उसे आत्मामें होता है, ऐसा जानना सो व्यवहारनय है। कर्माश्रित भाव एक समय मात्रके लिये होते हैं सो अभूतार्थ हैं। जो कर्माश्रित—पराश्रित भाव होते हैं सो सत्य नहीं हैं, क्योंकि वह त्रिकालस्थायी वस्तु नहीं है। सत्य नहीं है, अर्थात् जड़में होती है, यह बात नहीं है। यद्यपि वह आत्माकी अवस्थामें होती है तथापि वह आत्माका वास्तविक स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे अभूतार्थ कहा है।

पानी अग्निके निमित्तसे उष्ण होता है किन्तु पानीका स्वभाव शीतल है, उसका त्रिकाल स्वभाव उष्ण नहीं है। पानीका स्वभाव शीतल है; ऐसा जानना सत्यार्थ है, किन्तु अग्निके निमित्तसे वर्तमानमें उष्णता आ गई है, सो इस आरोपका आना व्यवहार है। जो आरोप है सो आरोपकी दृष्टिसे सत्य है, किन्तु वह पानीके मूल स्वभावकी दृष्टिसे सत्य नहीं है।

इसीप्रकार जिसे आत्माका शीतल स्वभाव प्रगट करना है, उसे आत्माकी ज्ञान और शांति आदिकी शीतलता तथा राग-द्वेष-अज्ञानरूप

उष्णता—इन दोनों भावोंका स्वरूप जानना होगा। आत्माकी पर्यायमें कर्मके निमित्तसे राग-द्वेष और अज्ञानरूप उष्णता होती है, परन्तु आत्माका स्वभाव सम्पूर्ण निर्मल और अविकारी है। उसका त्रिकाल स्वभाव राग-द्वेष और अज्ञानरूपसे मलिन नहीं है, परन्तु शुद्ध और निर्मल है। आत्मा स्वभावसे शुद्ध और निर्मल है, ऐसा जानना सो सत्यार्थ है, किन्तु स्वयं कर्मके निमित्ताधीन होने पर राग-द्वेष और अज्ञान-रूप मलिन अवस्था वर्तमानमें हुई है, इतना आरोप आया सो व्यवहार है। आरोपको आरोपकी दृष्टिसे देखा जाये तो वह सत्य है, किन्तु वह आत्माके मूल स्वभावकी दृष्टिसे देखने पर सत्य नहीं है।

आत्मस्वभावरूप शीतलताकी दृष्टिके बलसे राग-द्वेपरूप अस्थिरता दूर हो जाती है। पर्याय पर दृष्टि नहीं जमती, क्योंकि पर्याय पलट जाती है। पर्याय टिकती नहीं है, इसलिये जो टिकनेवाला द्रव्य है, उस पर दृष्टि डाले तो वहाँ दृष्टि टिक जाती है, और दृष्टिके स्तम्भित होनेसे स्थिरता होती है, राग-द्वेषका अभाव होता है, और स्वभाव पर्याय प्रगट हो जाती है।

यद्यपि बन्ध मोक्षकी पर्याय है अवश्य वह सर्वथा अभूतार्थ नहीं है; यदि सर्वथा अभूतार्थ हो तो कोई पुरुषार्थ करनेकी आवश्यक्ता न रहे, किन्तु वह क्षणके लिये होती है। मोक्षकी अवस्था प्रतिक्षण नई नई होकर अनन्तकाल तक रहती है, किन्तु वह एक एक पर्याय वर्तमान समय तक ही रहती है, इसलिये वह अभूतार्थ है। उस पर्याय पर लक्ष करनेसे राग होता है, परन्तु राग टूटता नहीं है, द्रव्य पर दृष्टि रखनेसे राग टूटता है। मोक्षपर्याय शुद्ध पर्याय है, और बन्धपर्याय मलिन पर्याय है। एकमें निमित्तके अस्तित्वकी अपेक्षा है, और दूसरेमें अभावकी। दोनों निमित्तके आश्रयकी अपेक्षा रखनेवाले प्रकार हैं, इसलिये दोनों पर लक्ष जानेसे राग होता है। मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ, ऐसे विकल्प साधक अवस्थामें आते हैं, किन्तु मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ, इसप्रकार गुणके भेद करके लक्ष करके पर राग होता है। उस रागके आश्रयसे स्वभावकी शरणमें नहीं पहुँचा जाता; किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि डालनेसे राग टूट जाता है, स्वभावकी शरणमें पहुँचा

विषयमें द्रव्य ही है, शुद्ध परिपूर्ण ज्ञानमें दोनों पहलू ज्ञात होते हैं। ज्ञान जब द्रव्यके शुद्ध स्वभावकी ओर मुख्यतया उन्मुख होता है तब पर्यायका वजन हलका (गौण) हो जाता है; सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु ज्ञानमें पर्यायका लक्ष गौण होता है, और ज्ञान जब पर्यायका मुख्यतया लक्ष करता है, तब दूसरे पहलूका लक्ष गौण होता है। जब ज्ञानका पहलू मुख्यतया एक ओर जाता है तब उसके साथ राग लगा हुआ होता है। ज्ञानमें वस्तुका एक पहलू मुख्य और दूसरा गौण हो तो उसे नय कहते हैं। दृष्टिके विषयमें द्रव्यका अभेद स्वभाव ही रहा करता है। जितने अंशमें रागको तोड़कर निर्मल पर्याय बढ़ाता हुआ सामान्यके साथ ज्ञान अखण्ड होता है, सामान्य विशेष दोनों एक होते हैं वह ज्ञानकी प्रमाणता है। द्रव्य और पर्याय दोनों प्रमाण ज्ञानमें एक ही साथ ज्ञात होते हैं। जहाँ वस्तु दृष्टि होती है, वहीं नय, प्रमाण इत्यादि सच्चे होते हैं।

चन्दनकी लकड़ी सुगन्ध युक्त, भारी और चिकनी तथा कोमल इत्यादि अनेक गुण युक्त एक ही साथ है, किन्तु उनमेंसे एक सुगन्ध गुणको मुख्य करके दूसरेको समझानेके लिये कहा जाता है कि चन्दनकी लकड़ी सुगन्धमय है, यह व्यवहारनय है। इसीप्रकार आत्मामें अनन्त गुण एक ही साथ अभेदरूपसे विद्यमान हैं, उस अभेद पहलूको लक्षमें लेना सो निश्चयनय है, और गुण–पर्यायके भेद करके लक्षमें लेना या दूसरोंको समझाना सो व्यवहारनय है।

जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही अनन्त गुणोंका पिंड यह भगवान आत्मा है, किन्तु उसमेंसे ज्ञान गुणको मुख्य करके समझानेके लिये कहना कि, जो यह ज्ञान है सो आत्मा है यह दर्शन या चारित्र आत्मा है, सो व्यवहारनय है। आत्माके पूर्ण अखंड स्वभावकी प्रतीति होनेके बाद भी मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, इत्यादि भेद होते हैं, किन्तु गुण तो द्रव्यके साथ अभेद है। जैसे द्रव्य त्रिकाल है वैसे ही गुण भी त्रिकाल है, द्रव्यसे गुणोंका भेद नहीं होता, तथापि ज्ञान ज्ञानरूपसे, दर्शन दर्शनरूपसे, चारित्र चारित्र रूपसे और वीर्य वीर्यरूपसे त्रिकाल हैं; सभी गुण लक्षणसे भिन्न हैं किन्तु वस्तुसे अभिन्न हैं। कोई भी गुण-द्रव्यसे अलग

नहीं होता, द्रव्यसे उसका पृथक्त्व नहीं हो सकता, तथापि अपूर्ण अवस्थामें मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, इत्यादि विकल्प हुये बिना नहीं रहते, भेद हुए विना नहीं रहते। बीचमें व्यवहार आता है, इसलिये वीतराग देवने बताया है; अथवा व्यवहार बीचमें आता है इसलिये समझाया है।

स्वभाव तो निर्मल अविकारी वीतरागस्वरूप है, किन्तु कर्मका आश्रय लेनेसे जो भाव होते हैं वे व्यवहारसे तुझमें हैं—ऐसा वीतराग देवने कहा है। स्मरण रहे कि विकारी भाव तेरी अवस्थामें होते हैं; कहीं सर्वथा जड़में नहीं होते। इस प्रकार प्रयोजनवश किसी नयको मुख्य करके कहना या समझना सो नय है। प्रमाणज्ञान द्रव्य, पर्याय दोनोंको एक ही साथ जानता है।

कर्माश्रित भाव तुझमें होते हैं ऐसा वीतराग देवने कहा है। अखंड स्वभाव पर दृष्टि होने पर भी निर्बलतासे अवस्थामें राग-द्वेष होता है, उसे जानना चाहिये। मैं चौथे पांचवें या छठ्ठे गुणस्थानमें हूँ, इत्यादि गुणस्थान भेदको जानना चाहिये। मेरी अवस्था श्रावककी है या मुनिकी, इत्यादि उस उस समयकी अवस्थाको जान लेना सो व्यवहारनय है। स्वयं वीतराग नहीं हुआ इसलिये जो जो अपूर्ण अवस्था हो उसका ज्ञान भली भाँति होना चाहिये। ज्ञान ठीक हो तो पुरुषार्थको लेकर पूर्ण हो जाता है।

श्रद्धाके विषयमें पूर्ण होनेपर भी अवस्थामें अपूर्ण होनेसे अपूर्णको अपूर्ण जाने तो पुरुषार्थ बढ़ाए, और पर्यायको पूर्ण करे। दृष्टि सम्पूर्ण द्रव्य पर विद्यमान है, उस समय अपूर्ण-अधूरी पर्यायके जो भेद होते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहारनय है।

रागी और वीतरागी तथा शुद्ध और अशुद्ध इत्यादि प्रकारसे भगवानने वस्तुका स्वरूप बताया है। जैसे म्लेच्छ भाषासे म्लेच्छको समझाया जाता है, उसी प्रकार परके आश्रयसे भेद करके व्यवहारी जीवोंको समझाया जाता है।

यद्यपि व्यवहारसे वास्तवमें परमार्थ समझमें नहीं आता, किन्तु जब स्वयं समझे तब समझाने वालेको निमित्त कहा जाता है।

सच्ची श्रद्धा हो तो; समझते हुये बीचमें जो गुण-भेद करके समझा

या उस भेदको व्यवहार या निमित्त कहते हैं; यदि न समझे तो निमित्त कैसा ? मेरा वीतराग स्वरूप राग-द्वेष रहित है, यदि वह समझे तो भेदको निमित्त कहा जाता है।

भेदका व्यवहार, समझनेमें और समझानेमें बीचमें आता है। व्यवहार है अवश्य, यदि आत्मा पर्यायसे भी सम्पूर्ण पवित्र ही हो तो फिर किसे समझाना है ? जिसे ऐसा लगता है कि शरीर मेरा है, उसे समझानेके लिये कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही क्षेत्रमें रहते हैं, किन्तु शरीरसे आत्मा अलग है। जिसने यह मान रखा है कि घीका घड़ा है उसे समझाते हैं कि-घी का घड़ा वास्तवमें घीका नहीं किन्तु मिट्टीका है; उसमें घी भरा हुआ है, किन्तु वह घड़ा घीमय नहीं लेकिन मिट्टीमय है।

जैसे किसी बालकने लकड़ीके घोड़ेको सच्चा घोड़ा मान रखा है, इसलिये उससे उसीकी भाषामें यही कहा जाता है कि तू अपने घोड़ेको बाहर ले जा, अथवा तू अपने घोड़ेको इधर ले आ; यदि उससे कहा जाये कि उस लकड़ीको बाहर ले जा या यहाँ ले आ तो वह नहीं समझ सकेगा, इसलिये उसीकी भाषामें लकड़ीको घोड़ा कह दिया जाता है।

इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान तीन काल और तीन लोकको जानते हैं। जगतके जो जीव घरमें प्रवेश नहीं करते, और घरके आँगनमें ही खड़े हैं उनसे कहते हैं कि जो ज्ञान है सो तू है, जो दर्शन है सो तू है; और इस प्रकार भेद करके समझाते हैं। यद्यपि आत्मा वस्तु अनन्त गुण-स्वरूपसे अभिन्न है, किन्तु बालकवत् अज्ञानी जीव अभेदमें नहीं समझता इसलिये उसे भेद करके समझाते हैं।

जिन जीवोंने यह मान रखा है, कि-शरीर, मन, वाणी और कर्म हमारे हैं, उन जीवोंको श्री तीर्थंकर देव समझाते हैं कि आत्मा स्वतन्त्र, निरुपाधिक ज्ञाता-दृष्टा सबका साक्षी और आनन्दका पिंड है, वह स्वभाव भाव तेरा है, उसे अपना न मानकर कर्मके भावको और शरीरादिके भावको अपना निजका मान रहा है, सो यह तुझे शोभा नहीं देता। हे भाई ! राग-द्वेषके आश्रित रहनेमें तेरे स्वभावकी हीनता होती है। तेरे

वर्तमान समयमें भी परिपूर्ण तत्त्व है, ऐसी दृष्टिके बलसे व्यवहार छूटता है। अज्ञानीको व्यवहारसे बताया है, कि व्यवहारसे अवस्था मलिन हुई है उसे जान, किन्तु निश्चयसे तू संपूर्ण-परिपूर्ण तत्त्व है, ऐसी दृष्टि कर, ऐसा कहनेसे यदि वह समझ जाये तो व्यवहारके उपदेशसे समझा है, ऐसा आरोप करके कहा जायेगा।

आत्माका स्वरूप ऐसा है, इसप्रकार उपदेश देते ही व्यवहार आ जाता है। निश्चयसे तू अखण्ड, अभेद और परसे निराला तत्त्व है, ऐसा समझाते ही व्यवहार आ जाता है। क्योंकि तत्त्वका स्वरूप ऐसा है, यह कहने पर यह स्पष्ट होता है कि उसे तू समझा नहीं है, यही व्यवहार है, अथवा वस्तुको समझाते हुये गुण-गुणीका भेद करके समझाना पड़ता है सो यही व्यवहार है।

निश्चय पूर्वक व्यवहार समझमें आये तो वह यथार्थ समझ है। यदि भेद करके समझाया जाये कि यह पुरुषका आत्मा है, यह स्त्रीका आत्मा है, यह पशु पक्षीका आत्मा है, तब प्रस्तुत जीव समझ जाता है कि यह आत्मा भिन्न भिन्न हैं किन्तु सभी आत्माओंका स्वरूप भिन्न भिन्न नहीं है; स्वरूप तो सबका एक ही प्रकारका है। जो ज्ञान है सो आत्मा है, जो दर्शन है सो आत्मा है और चारित्र है सो आत्मा है, इसप्रकार गुरुके द्वारा समझाये जाने पर स्वयं अभेद आत्माका स्वरूप समझ जाये तो वह व्यवहारके भेद बतानेसे समझा है, यह कहलायेगा। गुरु उपदेश देते हैं उसीमें व्यवहार आ जाता है। यदि उपदेशसे स्वयं वास्तविक स्वरूपको समझ ले तो गुरुके उपकारका निमित्त कहलाता है। समझ तो स्वसे है, किन्तु उपचारसे यह कहा जाता है कि-व्यवहारसे समझा है।

यदि हिंसादिका भाव न बताया जाये तो उसे दूर करनेका प्रयत्न भी नहीं करेगा। निश्चयपूर्वक व्यवहारके लक्षमें आये बिना बंधका व्यवहार दूर नहीं होगा। वास्तवमें तो हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिके भाव निश्चय दृष्टिके लक्षमें आये बिना दूर होते ही नहीं। मेरे स्वरूपमें वे भाव हैं ही नहीं, ऐसी दृष्टिके बिना वे भाव दूर नहीं हो सकते। 'अस्ति स्वरूप मैं कौन हूँ' इसकी श्रद्धाके बिना विकारकी नास्ति

होती ही नहीं। ऐसी श्रद्धा होनेके वाद भी अल्प हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिके भाव रहते हैं, किन्तु वे क्रमशः दूर हो जाते हैं; प्रतीति होनेके पश्चात् तत्काल ही वीतराग हो जाये ऐसा नहीं होता। स्वरूपकी श्रद्धा होनेके वाद अस्थिरता दूर होकर क्रमशः स्थिरतारूप चारित्र होता है ऐसा ही वस्तु स्वभाव है। यदि कोई जीव आत्म-प्रतीति होनेके वाद अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो उसमें भी अन्तर्मुहूर्तका क्रम तो पड़ता ही है। प्रतीति होनेके पश्चात् एक समयमें किसीको केवलज्ञान नहीं होता। प्रतीति होनेके वाद जो अल्प शुभाशुभ भाव रहते हैं, उसे आचार्य देवने वताया है कि—तू जरा ठहर, अभी पूर्ण नहीं हो गया, अभी अस्थिरता शेष है, अवस्थामें अधूरापन है, उसे समझ और जान। जब तक वीतराग न हो तब तक उस उस कालमें उस अवस्थाको यथावत् जानना सो व्यवहारनय है।

विकारी पर्यायके होने पर भी निर्विकार स्वभावकी प्रतीति हो सकती है। चारित्रगुणमें विकार होने पर भी समस्त परिपूर्ण तत्त्वकी श्रद्धा और ज्ञान हो सकता है। वह यह वतलाता है कि गुणोंमें कथंचित् भेद है, समस्त गुणोंके कार्य अलग हैं, गुणोंमें यदि कथंचित् भेद न हो तो सम्यक् दर्शनके होते ही तत्काल वीतराग हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। अखण्ड द्रव्यकी प्रतीति होने पर भी चारित्रगुणमें विकार वना रहता है, इसलिये गुणोंमें कथंचित् भेद है और इसलिये गुणस्थानके भी भेद होते हैं। गुणोंमें कथंचित् भेद होनेसे स्वभाव दृष्टि होनेके वाद तत्काल ही वीतरागता नहीं हो जाती, इसलिये गुणस्थानके भेद होते हैं।

द्रव्य अखण्ड है वह अनन्त गुणोंका पिण्डरूप वस्तु है, उस द्रव्यके गुणोंकी शक्ति भिन्न भिन्न है, लक्षणकी अपेक्षासे गुणोंमें कथंचित् भेद है। प्रत्येक गुणका कार्य भिन्न भिन्न है, ज्ञानगुण जाननेका, दर्शनगुण [illegible] और चारित्रगुण स्थिरताका कार्य करता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न गुण भिन्न भिन्न कार्य करते हैं। और इस प्रकार [illegible] है [illegible] गुणभेद होनेसे पर्यायभेद भी है।

जैसे सोना पीला, चिकना और भारी आदि गुणोंसे अखण्ड है, परन्तु कथंचित् गुणभेद है। पीलापन, चिकनापन, भारीपन आदि गुणोंके लक्षण भिन्न हैं, उनके प्रकार अलग हैं, और कार्य अलग हैं इसलिये कथंचित् गुण भेद हैं।

सम्यक्दर्शन होने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जाते हैं; फिर भी अबुद्धिपूर्वक विकल्प रह जाते हैं, इसलिये गुण भेद भी रह जाता है, अतः सम्यक्दर्शनके होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता। कोई जीव तत्काल ही केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो भी बीचमें अन्तर्मुहूर्तका अन्तर तो होता ही है। इसका कारण यह है कि गुणोंमें कथंचित् भेद रह जाता है, इसलिये वस्तु और पर्यायका भेद होता है, सम्यक्दर्शन और केवलज्ञान होनेमें बीचमें अन्तर पड़ता है।

छट्ठे गुणस्थानमें मुनिके बुद्धिपूर्वक विकल्प हों और आर्तध्यानके परिणाम विद्यमान हों तो भी वहाँ निर्जरा विशेष है, क्योंकि वहाँ तीन कषायोंका अभाव है. और चारित्रगुणकी पर्याय विशेष है। चौथे गुणस्थानमें बुद्धिपूर्वक विकल्प न हों निर्विकल्प स्वरूपमें स्थिर हो गया हो तो भी वहाँ तीन कषाय विद्यमान हैं, इसलिये निर्जरा कम है, अतः गुण-भेद है, चारित्र आदि गुणोंका परिणमन कम है, इसलिये व्यवहारनय अनेक प्रकारका है।

सम्यक्दर्शनके होने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जायें तो भी गुणोंका परिणमन कम-बढ़ अर्थात् तारतम्यरूपसे रहता है। यदि ऐसा न हो तो एक गुणरूप वस्तु हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता, वस्तु तो अनन्त गुणोंकी पिंडरूप होती है।

वस्तुमें अनन्त गुणोंका परिणमन कम-बढ़ तारतम्यरूपसे होता है। गुणोंके परिणमनमें अनेक प्रकारकी विचित्रता है, इसलिये व्यवहारनय भी अनेक प्रकारका है। सम्यक्दर्शन होनेके बाद तत्काल ही वीतराग नहीं हो जाता। सम्यक्दृष्टिसे एक समयका परिणमन नहीं पकड़ा जाता, यदि पकड़ा जाये तो केवलज्ञान हो जायें। सम्यक्दर्शन प्राप्त होनेके बाद चारित्रगुणकी पर्याय अपूर्ण रहती है, इसलिये केवलज्ञान तत्काल नहीं होता। इस प्रकार गुणोंके परिणमनमें भेद रहता है। सम्यक्दर्शन प्राप्त

होनेके बाद तत्काल ही केवलज्ञान नहीं होता, क्योंकि चारित्र, ज्ञान और दर्शनगुणकी पर्याय अपूर्ण है। यद्यपि दर्शनगुणकी (उपशम और क्षायोपशमिक) पर्याय अपूर्ण है परन्तु दर्शनगुणकी सम्यक्त्व पर्यायका विषय पूर्ण है, दृष्टिका विषय अपूर्ण नहीं है। चारित्रगुणमें विकार होने पर भी दर्शनगुणकी पर्याय वस्तुका पूरा विषय कर सकती है। दृष्टिकी पर्याय अपूर्ण है परन्तु दृष्टिका विषय पूर्ण है।

अनन्त गुणोंकी पिंडरूप अभेद वस्तु न हो तो अभेद दृष्टि नहीं हो सकती। द्रव्यदृष्टिसे गुण अभेद हैं, इसलिये एक गुणके प्रगट होने पर सभी गुणोंका अंश सम्यक्‌रूपमें प्रगट होता है। यदि वस्तु अभेद न हो तो एक गुणके प्रगट होने पर समस्त गुणोंका अंश प्रगट न हो। यदि कथंचित् गुण भेद न हो तो साधक स्वभाव न रहे, तत्काल ही केवलज्ञान हो जाना चाहिये। इसलिये कथंचित् गुणभेद भी है, और द्रव्यदृष्टिसे वस्तु अभेद है।

दृष्टिका विषय ध्रुव है, अपनेमें होनेवाली मलिन अवस्था पर दृष्टिमें भेदका स्वीकार नही है। दृष्टिके साथ रहने वाला ज्ञान, दृष्टिको जाननेवाला ज्ञान प्रलम्बित होता है कि मैं इस अवस्था तक सीमित नहीं हूँ; मैं तो परिपूर्ण हूँ; इस प्रकार अपनी होनेवाली मलिन अवस्थाका वह ज्ञान स्वामी नही होता। अपनेमें होनेवाली अवस्था पर दृष्टिका लक्ष नहीं है, और बाहर होने वाली पर पदार्थोंकी अवस्था पर भी उसका लक्ष नहीं है। अपना सामान्य द्रव्य ही दृष्टिका विषय है। अपनेमें होनेवाली मलिन या निर्मल पर्यायको दृष्टि स्वीकार नहीं करती, इसलिये वह दूसरे द्रव्यकी मलिन या निर्मल पर्यायको भी स्वीकार नहीं करती। अपनेमें होनेवाली मलिन अवस्था क्षणभरके लिये है, इसलिये वह अपने द्रव्यको द्रव्यदृष्टिसे हानि या लाभ नहीं करती। जो अवस्था अपना हानि-लाभ नहीं करती, वह दूसरे जीवोंकी अवस्थाको भी हानि-लाभ नहीं करती, और अन्य जीवोंकी अवस्था अपनी अवस्थाको हानि-लाभ या सहायता नहीं करती। इस प्रकार दृष्टि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको स्वीकार नहीं करती। दृष्टिका विषय मात्र ध्रुव ही है। अन्य द्रव्यका अस्तित्व अपनेमें नास्तिरूप है और स्वयं अपने अपनेमें अस्ति रूप है। इस प्रकार दृष्टिका विषय

अकेला ध्रुव है, परन्तु ज्ञान ध्रुवको, मलिन-निर्मल पर्यायको और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको जानता है। दृष्टिका विषय पूर्ण है। पहले दर्शनगुणकी पर्याय प्रगट होती है, और फिर चारित्रगुणकी पर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार सभी गुण एक ही साथ एकसे कार्य नहीं करते तथा एक साथ पूर्ण नहीं होते इसलिये वस्तुमें कथंचित् गुण भेद है।

यह शरीर और आत्मा दोनों भिन्न वस्तु हैं, वे दोनों वस्तुएँ एक नहीं हैं। आत्मा और शरीर दोनों एक ही स्थान पर रहे हैं सो अपनी अपनी अवस्था और योग्यताके कारण रह रहे हैं। दोनों एक ही स्थान पर रह रहे हैं, ऐसा कहना सो व्यवहार है। आत्मा आत्माके क्षेत्रमें है और शरीर शरीरके क्षेत्रमें-जैसे दूध और पानी एक ही लोटेमें एकत्रित हैं अर्थात् दोनों एक ही क्षेत्रमें एक साथ विद्यमान हैं, यह व्यवहार है, *किन्तु दोनों एक स्थान पर एकत्रित रहते हुये भी दूध पानीरूप* या पानी दूधरूप नहीं हो जाता; दूध दूधमें, और पानी पानीमें।

जैसे आत्मा और शरीर दोनों एक ही आकाश क्षेत्रमें एकत्रित होकर रहे हैं, तथापि आत्मा आत्माके क्षेत्रमें है और शरीर शरीरके क्षेत्रमें। आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त गुणोंका पिंड है; और शरीर वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणोंसे परिपूर्ण रजकणोंका पिंड है। वे अपनी अपनी अवस्थाकी योग्यताके कारणसे रह रहे हैं।

आत्माकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थामें रजकणकी अवस्था नहीं है, और रजकणकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थामें आत्माकी अवस्था नहीं है।

आत्माके अनन्त गुणोंमें रजकणके कोई भी गुण नहीं आ जाते, और रजकणके अनन्त गुणोंमें आत्माके कोई भी गुण नही पहुँचते। प्रत्येक वस्तु अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है; पर-वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें नहीं है, अपने अपने स्वचतुष्टतया अपने अपनेमें हैं।

परमार्थनय जीवको शरीर तथा राग, द्वेष, मोहसे भिन्न कहता है। यदि उसका एकान्त पक्ष ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग, द्वेष,

मोह, पुद्गलमय कहलायेंगे; और ऐसा होनेसे पुद्गलका घात करनेसे हिंसा नहीं होगी, तथा राग, द्वेष, मोहसे बन्ध नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थसे जो संसार और मोक्ष दोनोंका अभाव कहा है, वही एकान्तसे सिद्ध होंगे, किन्तु ऐसा एकान्त रूप वस्तुका स्वरूप नहीं है।

काम, क्रोध, हिंसा, झूठ, दया, दान इत्यादि भाव आत्मामें स्वभावदृष्टिसे नहीं हैं; आत्मा तो पवित्र ज्ञानमूर्ति, शुद्धतासे परिपूर्ण तत्त्व है। उस दृष्टिको परमार्थदृष्टि, सत्यदृष्टि या अपना सत्यस्वरूप इत्यादि कुछ भी कहा जा सकता है। उस दृष्टिको एकान्त रूपसे लिया जाये, और जितना व्यवहार सम्बन्ध है उतना पक्ष न लिया जाये तो तो व्यवहार सम्बन्धको माने विना वह परमार्थसे भिन्न है, ऐसा भी नहीं वताया जा सकेगा।

रागीको शरीरमें अनुकूलताके समय राग और प्रतिकूलताके समय द्वेष होता है। उस राग-द्वेषमें शरीर निमित्त है। स्वयं विकारमें युक्त होता है, इसलिये राग-द्वेष होता है, किन्तु उसमें शरीरकी उपस्थिति है, इतना सम्बन्ध है।

व्यवहारसे सचेत शरीर और अचेत शरीर कहलाता है। यहाँ सचेत अर्थात् जीव वाला शरीर मात्र अर्थ होता है, किन्तु यदि शरीरको एकान्ततः सचेतन मान लिया जाये तो भूल होगी जब तक जीव रहता है, तब तक शरीरमें जीवका आरोप किया जाता है, इसलिये शरीरको सचेत कहा जाता है, जो कि व्यवहार है। किन्तु वास्तवमें देखा जाये तो शरीर सचेत नहीं है।

परमार्थ दृष्टिमें दूसरे जीवोंको मारनेका भाव भी आत्मामें नहीं होता। किसीके शरीर और आत्माका सम्बन्ध है और अपने शरीर और आत्माका सम्बन्ध है, उसे भी परमार्थ दृष्टि स्वीकार नहीं करती, क्योंकि शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं।

किन्तु यदि व्यवहारसे भी आत्मामें बन्ध न हो तो बन्धको दूर करके मुक्त होनेका उपदेश न दिया जाये, और यदि हिंसाका भाव आत्माकी पर्याय में होता ही न हो, तो उस भवको दूर करनेका उपदेश न दिया जाये। यदि शरीर और आत्माका कोई भी सम्बन्ध स्वीकार न करे तो किसी

जीवको मारनेका भाव ही न हो। किसी जीवको मारनेका भाव होता है, इससे यह स्पष्ट है कि शरीर और आत्माका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। शरीर और आत्माका एक ही स्थान पर रहनेका अपनी अपनी पर्यायकी योग्यताके कारण सम्बन्ध है। शरीर और आत्माका सम्बन्ध है, ऐसा लक्षमें आने पर ही दूसरे जीवको मारनेका भाव होता है।

आत्माके साथ ही एक ही स्थान पर शरीरकी उपस्थिति है; इसलिये शरीर और आत्माका सम्बन्ध है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु आत्माका स्वभाव तो शुद्ध ज्ञायक है, और हिंसा, दया, राग, द्वेष आदि भावोंका वर्तमान अवस्था तक ही सम्बन्ध है। उस विकारी अवस्थाका ज्ञातव्य है, किन्तु रखने योग्य नहीं है। इसी प्रकार शरीर और आत्माका एक ही स्थान पर रहनेका सम्बन्ध ज्ञातव्य है, किन्तु रखने योग्य नहीं है। 'सम्बन्ध है' यह ज्ञातव्य है, किन्तु अंगीकार करने योग्य नहीं है।

जैसे छाछ विलोनेकी मथानीके रस्सीके दो छोरोमेसे यदि दोनोंको एक ही साथ खीचे तो मक्खन नहीं निकलेगा, दोनोके छोड़ देनेसे भी मक्खन नहीं निकलेगा, एकको पकड़ रखे और दूसरेको छोड़ दे तो भी मक्खन नहीं निकलेगा, किन्तु यदि एक छोरको खीचे और दूसरेको ढील दे तो मक्खन निकलेगा। इसीप्रकार वस्तु स्वरूपको समझनेके लिये दो नय होते हैं, एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। उन दोनों नयोंको न समझे तो आत्महितरूप मक्खन प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों नयोंको एकान्त रूपसे पकड़ रखनेसे भी आत्महित नहीं होगा, व्यवहारनयको एकान्तरूपसे पकड़ रखे और निश्चयनयका निषेध करे, तो भी हित न होगा, यदि निश्चयनयको एकान्त रूपसे पकड़ रखे और व्यवहारनयका स्वरूप यथावत् न जाने, तथा यह कहे कि किसी भी अपेक्षासे आत्मामें व्यवहार है ही नहीं तो भी आत्माका हित न होगा, धर्म नहीं होगा, किन्तु जब निश्चयकी बात समझायी जाये तब व्यवहारनयकी अपेक्षा लक्षमें रखे, और जब व्यवहारकी बात समझायी जाये तब निश्चयनयकी अपेक्षा लक्षमें रखे; इस प्रकार दोनों नय जो स्वरूप बतलाते हैं, उस स्वरूप भली भांति यथावत् समझे तो आत्माका हित हो, सुख प्रगट हो और मुक्ति प्राप्त

कितने ही लोग निश्चयका एकान्त पकड़ रखते हैं, किन्तु मात्र निश्चयनयकी अपेक्षा की जाय तो धर्म [illegible] नहीं हो सकता। एक मत ऐसा है कि आत्मामें जो राग द्वेष आदि दिखाई देता है, और जो शरीरादि बाह्य वस्तुएं दिखाई देती हैं वह सब भ्रम है, किन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। बाह्य वस्तु जगतमें है, किन्तु तेरे आत्मामें नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु जगतमें नहीं है। राग-द्वेष और मोह आत्माकी अवस्थामें होते हैं, किन्तु वे आत्माके स्वभावमें नहीं हैं; इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्माकी अवस्थामें विकार होता ही नहीं। जड़कर्म रूप अन्य वस्तु है, वह जब आत्मा भूल करता है तब विकारमें निमित्त होती है। राग-द्वेष तेरे स्वरूपमें नहीं हैं, इसलिये अभूतार्थ हैं किन्तु राग-द्वेष अवस्थामें भी नहीं हैं ऐसा मानना मिथ्या है; व्यवहारमें अवस्थासे बन्ध है इतना स्वीकार न करे तो वह एकान्त दृष्टि है। आत्माकी पर्यायमें शुभाशुभभाव होते हैं, इसलिये वे आदरणीय हों सो बात नहीं है; किन्तु 'होते हैं' इतना स्वीकार करनेकी बात है। यदि सर्वथा अवस्थासे भी अबन्ध माना जाये तो हिंसा विषय इत्यादिके अशुभ भाव छोड़कर दया, दान, ब्रह्मचर्य इत्यादिके शुभभाव करनेका और शुभ भाव दूर करके शुद्धताको प्रगट करनेका भी अवकाश नहीं रहता।

कुछ लोग एकान्त व्यवहारको पकड़ लेते हैं, और मानते हैं कि मात्र शुभपरिणाम करते रहनेसे धर्म हो जायेगा, और मोक्ष मिल जायेगा, किन्तु ऐसा मानना मिथ्या दृष्टि है; क्योंकि त्रिकालमें भी शुभसे शुद्धकी प्राप्ति नहीं हो सकती; आस्रव तत्त्वको जीव तत्त्व माने किन्तु दोनों एक नहीं होगा विकार करते करते त्रिकालमें भी अविकार भाव प्रगट नहीं हो सकता। यथार्थ स्वरूपको समझे विना निश्चयनय और व्यवहारनय नय नहीं किन्तु नयाभास हैं, उन्हें निश्चयभास और व्यवहाराभास

कहा जाता है।

यथार्थतया निश्चय और व्यवहारका स्वरूप समझनेसे मुक्ति होती है। यथार्थ निश्चय दृष्टि पराश्रयरूप व्यवहारका नाश करनेवाली है। मैं आत्मा एक समयमें परिपूर्ण तत्त्व हूँ ऐसी दृष्टिका नाम निश्चय-दृष्टि है; ऐसी प्रतीति होनेके बाद स्वभाव दृष्टिके बलसे राग, द्वेष, हिंसा, झूठ इत्यादि शुभाशुभ भाव क्रमशः कम होते जाते हैं, और निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है; वह जो जो होता है उसे जानना व्यवहारनय है। साध्य-साधक भावका जो भेद होता है, वह भी स्वभावदृष्टिके बलसे पूर्ण स्थिरता होने पर उस भेदका व्यवहार भी छूट जाता है। निश्चयदृष्टिका बल उस व्यवहारका नाश करनेवाला है। जिस जिस भूमिकासे जो जो अवस्था होती है, उसे जानना सो व्यवहारनय है। अमुक अंशमें आत्माकी शुद्ध भूमिकामें पहुँचने पर भी अभी अपूर्ण है, इसलिये अशुभभावको दूर करके व्रतादिके जो जो शुभ परिणाम आते हैं, उन्हें जानना व्यवहारनय है। यदि व्यवहारको न माने तो सम्पूर्ण उपदेश व्यर्थ जायेगा। कई लोग कहा करते हैं कि स्याद्वाद अर्थात् ऐसा भी हो सकता है, और वैसा भी हो सकता है, किन्तु वास्तवमें स्याद्वाद ऐसे चकरीवाद (संशयवाद) के समान नहीं है।

आत्मा जिस अपेक्षासे शुद्ध है, उस अपेक्षासे अशुद्ध नहीं है, और जिस अपेक्षासे अशुद्ध है, उस अपेक्षासे शुद्ध नहीं है; दोनोंकी अपेक्षा अलग अलग है, यह स्याद्वाद है। और जिस अपेक्षासे शुद्ध है उसी अपेक्षासे अशुद्ध माना जाये तो वह चकरीवाद है। और शुद्धभावसे भी मुक्ति हो सकती है, तथा शुभभावसे भी मुक्ति हो सकती है, ऐसा मानना सो चकरीवाद है। शुद्धभावसे मुक्ति होती किन्तु शुभ-भावसे मुक्ति नहीं होती, ऐसा मानना सो स्याद्वाद है। दोनों नय ज्ञातव्य हैं, किन्तु आदरणीय नहीं हैं। आत्माकी अवस्थामें राग-द्वेष होता है, उसे दूर करके वीतराग हुआ जाता है, किन्तु स्वभावमें पुण्य-पापादि कुछ नहीं है, तथा दोनोंका ज्ञान करनेसे वीतराग स्वरूप प्रगट होता है। ज्ञान तो दोनोंका करना चाहिये। किन्तु आदरणीय दोनों नहीं हो सकते। निश्चय और व्यवहार दोनोंका ज्ञान करना चाहिये, किन्तु दोनोंको ग्रहण करनेसे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होगी।

निश्चय और व्यवहार दोनों आदरणीय नहीं हो सकते। जब

विकारको आदरणीय माना जायेगा तब अंतरंगमें जो निर्विकार स्वभाव भरा हुआ है, उसका आदर (ग्रहण) नहीं होगा। आत्मा अनन्त गुणोंका पिंड परिपूर्ण तत्त्व है, ऐसी निश्चय दृष्टिको आदरणीय मानने पर पर्याय निर्मल हुये बिना नहीं रहती। पर्यायका निर्मल होना व्यवहार है, और उसे जानना व्यवहारनय है।

आत्मा परमार्थतः परसे निराला है। निराला, निर्विकल्प स्वरूपसे है उसका ज्ञान कर और वर्तमानमें अवस्था मलिन है, उसका भी ज्ञान कर। 'होता है' उससे इन्कार करे तो ज्ञान मिथ्या कहलायेगा, और उससे लाभ माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी।

दृष्टि निमित्तको स्वीकार नहीं करती। दृष्टिकी अपेक्षासे व्यवहार हेय है। दृष्टि विकारी पर्यायको स्वीकार नहीं करती, अपूर्ण-पूर्ण अवस्थाको भी स्वीकार नहीं करती; इतना ही नहीं, किन्तु भीतर जो जो निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है, उसे भी स्वीकार नहीं करती। दृष्टिका विषय एक परिपूर्ण तत्त्व ही है। ज्ञानीकी अपेक्षासे व्यवहार ज्ञेय (जानने योग्य) है, और चारित्रकी अपेक्षासे शुभाशुभ भावरूप व्यवहार विष है।

यथार्थ दृष्टि होनेके बाद देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिका व्यवहार बीचमें आता है, इसलिये यदि मात्र परमार्थको माने तो सबका अभाव हो जायेगा। देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिका जो शुभभाव होता है, उसका ज्ञान करे, किन्तु यदि उसे आदरणीय माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी। जब तक अपूर्ण है, तब तक बीचमें शुभभाव आ जाता है, किन्तु उसका खेद है, अशुभ भावको दूर करके शुभभावमें युक्त होता है, और वह युक्त हुआ इतने मात्रसे व्यवहार है। व्यवहार व्यवहारसे आदरणीय है, किन्तु वह श्रद्धामें किंचित् मात्र भी आदरणीय नहीं है; यदि उसे आदरणीय माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी, किन्तु इससे देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिके परिणाम बीचमें नहीं आते, ऐसा माने तो ज्ञान मिथ्या होगा। शुद्धमें विशेष स्थिर नहीं हुआ जाता और शुभभावमें युक्त न हो तो अशुभ परिणाम होते हैं, इसलिये शुभभावमें युक्त होता है। चतुर्थ गुणस्थानमें देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिके शुभ परिणाम होते हैं, तत्पश्चात् पंचम गुणस्थानमें अव्रतके परिणाम

दूर करके स्वरूपमें विशेष स्थिरता होती है, वे सच्चे व्रत हैं, और अशुभ परिणामोंको दूर करके शुभ परिणामरूप व्रत भी बीचमें आते हैं। व्रतके शुभ परिणाम और देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिके शुभ परिणामको जानना सो व्यवहारनय है। परमार्थदृष्टिके बलसे पूर्ण स्थिरता होने पर, शुभाशुभ विकल्पका व्यवहार और साध्य-साधक भावके विकल्पके भेदका व्यवहार भी छूट जाता है, किन्तु अपूर्ण अवस्था है, तब तक विकल्पके भेद आये बिना नहीं रहते। वे आते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहारनय है।

मैं विकल्प रहित हूँ, निर्विकल्प स्वरूप हूँ, उसे स्वीकार करनेसे ही लाभ है; ऐसा जाने और वर्तमान पर्यायमें मलिन अवस्था होती है, उसे जाने किन्तु उससे लाभ न माने। देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि निमित्त बीचमें आते हैं, उसे न माने तो ज्ञान मिथ्या है, और उससे लाभ होता है, ऐसा माने तो श्रद्धा मिथ्या है। विकारी पर्यायका वर्तमान अवस्था मात्रका भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा माने तो उसे वस्तुका वास्तविक श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं हुआ है।

अवस्तुका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है, इसलिये व्यवहारका उपदेश न्याय प्राप्त। इस प्रकार स्याद्वादसे दोनों नयोंका विरोध मिटाकर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

आत्माकी पर्यायमें राग-द्वेष और भ्रांति होती है, उसे न जाने तो अवस्तुका ज्ञान किया; और वस्तुका जैसा स्वरूप है, वैसा न जाने तो अवस्तुका ज्ञान किया कहलायेगा। जिसकी श्रद्धा यथार्थ होती है, उसका ज्ञान यथार्थतया ही जाननेका कार्य करता है, किन्तु जिसका ज्ञान मिथ्या है, उसकी श्रद्धा भी अवस्तुकी ही कहलायेगी। अवस्थामें राग-द्वेष होता है, ऐसा नहीं माना, इसलिये राग-द्वेषको दूर करके स्वरूपमें स्थिर होनेका आचरण नहीं रहा, इसलिये आचरण भी अवस्तुका ही हुआ। वस्तुका जैसा स्वरूप है, वैसा आचरण नहीं हुआ इसलिये अवस्तुका ही आचरण हुआ कहलायेगा।

आत्माकी पर्यायमें वर्तमान अवस्था पर्यन्त राग-द्वेष होते हैं, इसे स्वीकार न करे तो उसके श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र तीनों अवस्तुके हुए; और इसलिये वे तीनों मिथ्या कहलायेंगे।

यदि ऐसा माने कि राग-द्वेष आत्माके स्वभावमें हैं तो भी अवस्तुकी श्रद्धा, ज्ञान और अवस्तुका आचरण हुआ। और इसप्रकार उसके श्रद्धा ज्ञान और चारित्र तीनों मिथ्या हुए। जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है उसका ज्ञान और आचरण भी सम्यक् होता है। जैसे—पानीका त्रिकाल अखण्ड स्वभाव शीतल है, किन्तु उसकी योग्यता वर्तमान अवस्थामें अग्निके कारण उष्ण होती है। अब यदि कोई उस उष्ण अवस्थाको पानीके सम्पूर्ण त्रिकाल स्वभावमें माने तो यह कहा जायेगा कि—उसने अवस्तुकी श्रद्धा की, अवस्तुका ज्ञान किया और अवस्तुका आचरण किया है। किन्तु जिसे तृषा मिटानी है उसे यह ज्ञान करना होगा कि पानीका स्वभाव तो त्रिकाल शीतल है, किन्तु वर्तमानमें उसमें उष्णता है। यदि शीतलताका उपादेयरूप ज्ञान न करे तो वह यह मानेगा कि गर्म पानी ही पेय है, और इससे उसकी प्यास नहीं बुझेगी। यदि यह न माने कि—वर्तमान अवस्थामें उष्णता आ गई है तो वह पानीको ठंडा करनेका प्रयत्न ही नहीं करेगा, और इसलिये उसकी प्यास भी नहीं बुझेगी। इसलिये पानीके नित्य शीतल स्वभावको और वर्तमान उष्ण पर्यायको-दोनोंको स्वीकार करे तो वह पानीको ठंडा करेगा और उसे पीकर अपनी प्यास बुझायेगा। तात्पर्य यह है-कि प्यासको बुझानेके लिये ज्ञान तो दोनोंका करना होगा, किन्तु उनमेंसे आदरणीय मात्र शीतलता ही है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द ज्ञान जलसे भरा हुआ सिद्ध परमात्माके समान है। सभी आत्माओंका स्वरूप वैसा ही है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें कर्मके अवलम्बनसे राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक इत्यादि होते हैं। यदि कोई उस वर्तमान अवस्था पर्यंत ही सम्पूर्ण द्रव्यका स्वरूप मान ले तो यह कहलायेगा कि उसने अवस्तुकी श्रद्धा की, अवस्तुका ज्ञान किया, और अवस्तुका आचरण किया है। जो संसार-दावानलको बुझाना चाहता हो उसे यह ज्ञान करना होगा कि आत्माका स्वभाव शुद्ध पवित्र और आनन्दस्वरूप त्रिकाल है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें राग-द्वेष और भ्रान्तिरूप मलिनता है। आत्माका स्वभाव त्रिकाल ज्ञान जलसे भरा हुआ है, यदि यह ज्ञान न करे तो मलिन अवस्थाको ही आत्मा मानेगा, और ऐसा होनेसे उसका दुःख दूर होकर उसे आत्मशांति नहीं मिलेगी; और यदि यह मानेगा कि वर्तमान

अवस्थामें राग-द्वेष तथा भ्रान्ति है ही नहीं, तथा आत्मा अवस्थादृष्टिसे भी बिल्कुल निर्मल है तो भी वह मलिन अवस्थाको दूर करके निर्मल अवस्था प्रगट करनेका प्रयत्न नहीं करेगा, और इसलिये उसे दुःख दूर होकर शांति नहीं मिलेगी, इसलिये आत्माका त्रिकाल शुद्धस्वभाव और वर्तमान अवस्थाकी मलिनता दोनोंको स्वीकार करे तब निर्मल अवस्थाको प्रगट करनेका प्रयत्न करता है, और इससे आत्माके अनुपम सुखकी प्राप्ति होती है। इससे यह निश्चित हुआ कि दुःखको दूर करनेके लिये दोनोंका ज्ञान करना होगा, किन्तु आदरणीय तो एक शुद्धस्वभाव ही है।

यदि यह माने कि राग-द्वेषका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं और आत्मा मात्र शुद्ध ही है, तो भी उसने सम्पूर्ण वस्तुको नहीं जाना इसलिये उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है, और यदि वर्तमान मलिन अवस्था पर्यन्त ही आत्माको जाने तथा त्रिकाल अखंड पवित्र स्वभावको न जाने तो भी सम्पूर्ण वस्तुको न जाननेसे उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है, इसलिये जब दोनों ओरका ज्ञान एकत्रित होता है तब सम्पूर्ण प्रमाण ज्ञान होता है, और सम्पूर्ण प्रमाण ज्ञान वीतरागी स्वभावको प्रगट करता है

यदि यह स्वीकार न किया जाये कि वर्तमान अवस्था पर्यन्त निमित-नैमित्तिक सम्बन्ध है तो सम्पूर्ण वस्तु लक्षमे नहीं आयेगी। आत्मामें मलिन अवस्था मात्र वर्तमान एक समय है, त्रिकाल स्वभावमें नहीं। यदि वह त्रिकाल स्वभावमें हो तो कभी भी दूर नहीं हो सकती किन्तु यदि दूसरे ही क्षण निर्मल अवस्था प्रगट करना चाहे तो की जा सकती है। आत्मा द्रव्यदृष्टिसे त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु पर्यायदृष्टिसे वर्तमान अवस्थामें मलिनता होती है। इसलिये उन दोनोंको दिखाना न्यायसंगत है। किन्तु उसमें भेद आदरणीय नहीं है, आदरणीय तो मात्र अभेद स्वरूप ही है। इस प्रकार स्याद्वादसे दोनों नयोंका विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्‌दर्शन है।

दोनों नयोंका विरोध मिटा हुआ तब कहला सकता है जब यह जाने कि—आत्मा स्वभावसे त्रिकाल शुद्ध है, और अवस्थामें मलिनता मात्र वर्तमानमें ही होती है, तथा अवस्थाने शरीरादिके साथ सम्बन्ध है।

यदि आत्माके मात्र शुद्ध निर्मल स्वभावको माने और वर्तमान

मलिन अवस्थाको न माने तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा, तथा मात्र राग-द्वेषकी अवस्थाको माने और शरीरके सम्बन्धको माने किन्तु यह न माने कि आत्माका निर्मिकल्प शुद्ध स्वभाव त्रिकाल राग-द्वेष रहित है तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा; क्योंकि-मात्र द्रव्य या मात्र पर्यायके माननेमें विरोध आता है, इसलिये उनमेंसे मात्र एक एकको माननेसे विरोध मिटाया गया नहीं कहला सकता।

और फिर निश्चय भी आदरणीय है और व्यवहार भी आदरणीय है, इस प्रकार दोनोंको आदरणीय माने तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा; परन्तु यदि द्रव्य और पर्याय दोनोंका ज्ञान करे और उसमें मात्र शुद्ध स्वभावको आदरणीय माने तो दोनों नयोंका विरोध मिटाया गया कहलायेगा।

यह समझने योग्य बात है। त्रिकालके तीर्थंकर देवोंने जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा ही कहा है ॥ ४६ ॥

अब शिष्य पूछता है कि—वर्तमान जितनी अवस्थाको जानने वाला व्यवहारनय किस दृष्टांतसे वर्तता है? उसका उत्तर कहते हैं:-

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ४७ ॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥ ४८ ॥

अर्थः—जैसे कोई राजा सेना सहित निकला, वहाँ जो सेनाके समूहको ऐसा कहा जाता है कि यह राजा निकला है, सो वह व्यवहारनयसे कहा जाता है। उस सेनामें वास्तवमें तो एक ही राजा निकला है; इसीप्रकार इन अध्यवसानादि अन्य भावोंको परमागम 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहारनयसे कहा है, निश्चयसे विचारा जाये तो उन भावोंमें जीव तो एक ही है।

यह व्यवहार-निश्चयरूप वस्तुस्वभाव जीवोंने कभी आज तक नहीं जाना था। इसे जाननेके अतिरिक्त दूसरा सब कुछ करनेमें जीवने कहीं

कोई कसर नहीं रखी। किसीने कहा है कि:—

'अहो कष्टं महा कष्टं, लाभः किंचिन्न विद्यते'।

घोरातिघोर तपस्या करके शरीरको सुखा डाला किन्तु उससे किंचित् मात्र भी लाभ नहीं हुआ। आत्माका स्वभाव सदा स्थायी है, उससे लाभ नहीं माना किन्तु शुभ परिणामसे पुण्य बन्ध हुआ और राज्य मिला—धूल मिली उससे सुख माना, परन्तु भव-भ्रमण नहीं मिटा।

जब तक दोनों नयोंको अविरोध रूपसे नहीं जाने तब तक मुक्ति नहीं होती। वर्तमान अवस्थामें शुभ परिणाम होते हैं, उन्हें आदरणीय माने किन्तु वस्तुका मूल स्वभाव निर्विकार है, इसे न जाने तो वह क्रिया जड़ है, और आत्मा मात्र शुद्ध ही है, उसकी वर्तमान अवस्थामें अशुद्धता नहीं होती, ऐसा माने तो मलिन अवस्थाको दूर करके, पुरुषार्थ करना नहीं रहा, और इसलिये शुष्क हो गया।

शिष्य पूछता है कि—भगवन् इस एक आत्मामें यह सब इतना बड़ा विस्तार क्या है? आठ कर्म, उनके निमित्तसे होने वाले राग-द्वेष और राग-द्वेषके फल पुण्य-पाप तथा राग-द्वेषके निमित्तभूत शारीरिक रोग, घर, स्त्री, पुत्र इत्यादि एक ही आत्मामें कैसे होते हैं?

जैसे लाखों सैनिकोंके साथ कोई राजा निकले तब उस सेनाके समुदायको यह कहा जाता है कि यह अमुक राजा जा रहा है। यद्यपि राजा तो एक हाथी पर बैठा होता है, किन्तु मीलों तक फैली हुई सेनाको यह कहा जाता है कि राजा जा रहा है। इसप्रकार सेनाके समुदायको राजा कहना व्यवहार है। राजा सेना सहित निकला और आगे जाकर युद्धमें सारी सेना मर गई और राजा अकेला अपने राज्यमें वापिस आ गया तो यह स्पष्ट सिद्ध है कि राजा और सेना एक नहीं है, किन्तु सेनाके निमित्तके सम्बन्धसे मात्र राजा सेना सहित कहा जा सकता है. किन्तु वास्तवमें जो सेना है, सो राजा नहीं है।

इसीप्रकार क्रोध, मान, दया, दान, सत्य, झूठ इत्यादिके भाव सेनाके समान हैं, वे सभी भाव जीव हैं ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है। वर्तमान क्षण मात्रके लिये, उसमें अटका होनेसे, वे भाव व्यवहारसे आत्माके कहे जाते हैं।

आत्मा ध्रुव त्रिकाल, निर्विकार, अखण्ड है, और अवस्था क्षण मात्र की खण्डवाली और विकारी है, ऐसा परमागममें कहा है। अवस्था क्षणिक है, और आत्मा त्रिकाल स्थायी है, इसलिये दोनोंके काल भिन्न हुए। आत्मा निर्विकार और अखण्ड है, तथा पर्याय विकारी और खण्डवाली है। इसलिये दोनोंके भाव भिन्न हुए।

वास्तवमें देखा जाये तो आत्मा अध्यवसानके समूहको नाश करने वाला उसी अवस्था तक ही नहीं, किन्तु ज्ञायकरूप ध्रुव है। उस ध्रुव स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण किया जाये तो वह आत्मा एक ही ज्ञात होता है। परसंयोग और राग-द्वेष आदिका जो झुण्ड मालूम होता है, सो कर्मके सम्बन्धकी दृष्टिसे दिखाई देता है।

भगवान आत्मा देहसे भिन्न तत्त्व है, वह शरीर, मन, वाणीसे पृथक् तत्त्व है, उसका क्षणिक अवस्था तक ही राग-द्वेष और भ्रान्तिके साथ व्यवहारसे सम्बन्ध कहा है, किन्तु परमार्थत: जीव एकरूप ही है। व्यवहारकी सेना आत्माकी पर्यायमें होती अवश्य है, किन्तु वास्तवमें वह आत्माका स्वभाव नहीं है, वास्तवमें तो आत्मा एक ही स्वरूप है।

जिसे आत्माका हित अर्थात् आत्माका धर्म करना हो उसके लिये आत्मा एक अलग वस्तु है, तथा शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि बाह्य संयोगी वस्तु और पुण्य, पाप, हर्ष, शोक इत्यादि अंतरंग संयोगी वस्तु सब पर हैं, अपना स्वरूप नहीं हैं, ऐसा जानना पड़ेगा। उनसे आत्माका हित या धर्म नहीं होता, इसलिये बाह्य संयोगसे और अंतरंग संयोगसे चैतन्य स्वभावको निराला जानना, मानना और उसमें एकाग्र होना सो मोक्षका मार्ग है।

शिष्यने पूछा था कि प्रभो! आत्मामें जो राग-द्वेषके भाव प्रवर्तमान है, वे व्यवहारसे प्रवर्तमान हैं, तो वह कौनसे दृष्टान्तसे व्यवहार प्रवृत्त हुआ है?

उत्तर:—जैसे मीलों तक विस्तृत सेनाको राजा कह दिया जाता है; यद्यपि राजाका मीलों तक फैलना अशक्य है, किन्तु व्यवहारी लोगोंका

सेना समुदायको राजा कहनेका व्यवहार है; परमार्थसे तो राजा एक ही है।

राजा तो एक ही है, किन्तु उसकी सेना मीलों तक फैली हुई है, इसलिये ऐसा कहते हैं कि राजाने इतने मीलकी जमीन रोक रखी है, किन्तु एक राजा मीलों तक नहीं फैल सकता, फिर भी यह कह दिया जाता है कि राजाने इतनी जमीन रोक रखी है। यद्यपि मीलोंकी जमीन राजाने रोक रखी है, किन्तु वास्तवमें राजाने नहीं रोकी है; स्थूल दृष्टिवालेका और वर्तमान देखनेवालेका ऐसा व्यवहार है। व्यवहारी लोगोंका सेना समुदायको राजा कहनेका व्यवहार है।

इसीप्रकार यह जीव समग्र राग ग्राममें (रागके स्थानोंमें) व्याप्त होकर प्रवर्त रहा है, ऐसा कहना सो, एक जीवका समस्त राग ग्राममें व्याप्त होना अशक्य होनेसे, व्यवहारी लोगोंका अध्यवसानादिक भावोंमें जीव कहने रूप व्यवहार है, वैसे परमार्थसे तो जीव एक है।

भगवान आत्मा तो एक ही है; उसका हिंसा, दया, दान, पूजा, भक्ति, झूठ, कंजूसीमें और ऐसे ही अन्य भावोंमें फैलना अशक्य है। चिदानन्दमूर्ति आत्मा एक ही है, उसका इतने सारे विकारोंके विस्तारमें फैलना अशक्य है। राग-द्वेषका विकार तो लक्ष भरका है, उसमें भगवान आत्मा फैल नहीं गया है, यदि फैल गया हो तो उससे अलग करके धर्म कैसे कर सकेगा?

घर, कुटुम्ब और लक्ष्मीका जो फैलाव होता है, सो वह फैलाव भगवान आत्माका नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु हिंसा, दया, कंजूसी, उदारता, विनय, अविनय, पूजा, भक्ति इत्यादि भावोंका जो विस्तार होता है, सो वह भी भगवान आत्माका नहीं है। जो शुभाशुभ वृत्तियाँ हैं सो क्षणभरके लिये हैं। संपूर्ण भगवान आत्मा उसमें फैल नहीं जाता। आत्मा तो एक है, वह अनेक रूप नहीं होता।

जैसे एक राजा मीलों तक नहीं फैल सकता उसीप्रकार आत्मा एक है, वीतराग स्वभाव है, उस एक आत्माका पुण्य-पापके भावोंके समूहमें व्याप्त होना अशक्य है, अर्थात् वैसा हो ही नहीं सकता। यहाँ अशक्य कहा है किन्तु दुर्लभ नहीं कहा है। अशक्य अर्थात् जो बन ही

नहीं सकता, और दुर्लभ अर्थात् बन तो सकता है, किन्तु दुर्लभतासे (भारी कठिनाईसे) बन सकता है। इसप्रकार दोनोंके अर्थमें अंतर है।

घर, कुटुम्ब, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र इत्यादिके विस्तारकी तो यहाँ बात ही नहीं है, क्योंकि उनका विस्तार तो आत्मासे भिन्न ही है, किन्तु शरीर–मन–वाणीके विस्तारकी भी यहाँ बात नहीं है, क्योंकि–इन सबका विस्तार आत्मासे भिन्न ही है परंतु दया–दान आदिकी जो वृत्ति हो उसमें भी आत्माको फैला हुआ माना जाये, तो वह सर्वथा अज्ञान है।

वर्तमानमें पानीमें जो उष्णता दिखाई देती है, वह पानीके मूल स्वभावमें नहीं है. इसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मासे देव–गुरु–शास्त्रकी भक्तिको या अविनयकी, दानकी या कंजूसीकी, और निर्दयताकी या दयाकी, समस्त वृत्तियाँ संयोगी वस्तु हैं, क्षणिक हैं; वे आत्माका मूल स्वभाव नहीं हैं, वह विकारी और क्षणिक अवस्थाका विस्तार है, वह विस्तार आत्माका नहीं है। जो यह मानता है कि उस विस्तारसे आत्माका हित होता है, या धर्म होता है वह अज्ञानी है। आत्मा चिदानन्द शुद्धस्वभाव है, उसे राग–द्वेषमें फैला हुआ मानना सो मूढ़ जीवोंका अज्ञान है।

आत्मा चिदानन्द प्रभु है। कर्म संयोगके निमित्तसे जो वृत्ति होती है. वह आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि वह आत्माका स्वभाव नहीं है, भगवान तीर्थंकर देव और अनन्त ज्ञानी सन्तोंने यह कहा है कि यह विकारी भाव आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो गये हैं।

कुत्ते बिल्ली इत्यादिके भव धारण करके सत्यकी शरण प्राप्त किये विना अनंतवार संसारमें परिभ्रमण किया, उसमें मनुष्यका भव अनन्तकालमें जैसे तैसे मिला, उसमें भी यदि सत्यकी शरण प्राप्त न की तो फिर चौरासीके चक्करमें जा गिरेगा। असत्यकी शरणमें किसी भी क्षेत्र या किसी भी कालमें सुख नहीं हो सकता।

जैसे-सेनाके समुदायमें राजा कथन मात्रसे व्यवहार है, इसीप्रकार व्यवहारी लोगोंका अध्यवसानादिक भावोंमें जीव कहनेका व्यवहार होता है। व्यवहारीजन यह कहा करते हैं कि अध्यवसानादि जीव हैं, इसलिये

उनकी भाषामें समझाया है कि अध्यवसानादि जीव हैं, परन्तु आत्म-स्वभावमें वे अध्यवसानादि भाव नहीं हैं। उनसे आत्माको कोई लाभ या हित नहीं है। देव-गुरु-शास्त्रकी ओरका राग, और व्रत, दया, दानादिके परिणाम तो पुण्य बन्धके कारण हैं ही, किन्तु स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये प्रथम विकल्प आये कि मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं चारित्र हूँ, तो वह भी पुण्य बन्धका कारण है, क्योंकि उसमें राग है। इसलिये वह पुण्य बन्धका कारण है, और वह व्यवहार है। यदि निर्विकल्प स्वरूपमें स्थिर हो जाये तो बीचमें आया हुआ विकल्प व्यवहार कहलाता है, अन्यथा वह व्यवहार भी नहीं है, किन्तु मात्र पापानुबंधि पुण्य बन्ध है। यदि स्वभाव पर्याय प्रगट हो तो बीचमें आये हुए विकल्पको व्यवहार कहा जाता है। स्वरूपको समझते समय और स्वरूपमें स्थिर होते समय बीचमें व्यवहार आये बिना नहीं रहता। परिपूर्ण स्वरूपकी दृष्टि करके स्वरूपका अनुभव करना सम्यक्‌दर्शन है, और विशेष रमणता बढ़ने पर सम्यक्‌चारित्र प्रगट होता है। साधकदशामें जितने जितने राग मिश्रित परिणाम आते हैं, वे सब पुण्य बन्धका कारण हैं, और स्वभावदृष्टिके द्वारा स्वभावमेंसे जो स्वभाव पर्याय प्रगट होती है, वह निर्जराका कारण है। आत्मा अनन्त गुणोंका पिंड है, उसमेंसे अनन्त पर्याय प्रगट होती है—सामान्यमेंसे विशेष आता है, विशेषमेंसे विशेष नहीं आता। जड़की अवस्थाको आत्मा करता है, ऐसी मिथ्या मान्यता अज्ञानी जीवोंके द्वारा माना हुआ व्यवहार है, और मलिन अवस्था आत्मामें प्रविष्ट हो गई है वह भी अज्ञानी जीवोंके द्वारा माना हुआ व्यवहार है, यह व्यवहार ज्ञानीका नहीं है, ज्ञानी तो मलिन अवस्थाको मात्र जानता है, और उसका व्यवहार अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूपमें एकाग्र होना और अस्थिरताको दूर करना है।

आत्माकी वर्तमान अवस्थामें शुभाशुभ परिणाम होते हैं उसको हेयरूप जानना सो व्यवहार है। स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ ऐसे विकल्पोंका आना भी व्यवहार है। स्वरूपमें स्थिर होनेका प्रयत्न व्यवहार है, और स्वरूपमें स्थिर हुआ सो वह भी व्यवहार है, क्योंकि उसमें अपूर्ण अवस्था है, और पूर्ण अवस्था करनी चाहिये

ऐसे भंग होते हैं। जब तक पूर्णदशा नहीं होती तब तक बीचमें व्यवहार आता है। अपूर्ण अवस्था है और उसे पूर्ण किया जाये, ऐसा व्यवहार यदि न हो तो उपदेश देना व्यर्थ सिद्ध हो। ज्ञाता-दृष्टा रहकर स्वरूपमें एकाग्र होना धर्मीका व्यवहार है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव जिसके परम गुरु हैं.—उनका दास, उनका भक्त, ऐसा धर्मात्मा ज्ञानी परमार्थतः जीव एक है, ऐसा कहते हैं। वह अध्यवसानादि भावोंमें अनेक नहीं हो गया, उन विकारी भावोंसे आत्माका धर्म नहीं है, सुख नहीं है, हित नहीं है, इसप्रकार सर्वज्ञका दास धर्मात्मा कहता है। स्वभावदृष्टि और परसे पृथक्त्वका ज्ञान उस धर्मात्माके प्रवर्तमान ही रहता है, इसलिये वह पर द्रव्यके भावरूपमें परिणमित नहीं होता, परमें कर्तृत्व नहीं मानता। ऐसी प्रतीतिके साथ जो स्वरूपका अनुभव करता है.—ऐसा भगवानका भक्त कहता है कि अध्यवसानादि जीव नहीं है, परमार्थसे जीव तो एक है, वह अध्यवसानादि भावोंसे भिन्न है।

आचार्यदेव नियमसारमें कहते हैं कि मार्गकी श्रद्धा बराबर करो, उसे उल्टा सीधा मत मानो, यदि हो सके तो श्रद्धा पूर्वक स्थिरता भी करो, यदि स्थिरताका प्रयत्न न हो तो श्रद्धा भली-भांति करना, यदि तुझसे स्थिरता न हो सके तो मार्गकी श्रद्धाको विपरीत मत करना।

हे प्रभु! जब कि तूने अनन्तकालमें कभी भी आत्मस्वभावकी बात नहीं सुनी तब तुझे यह खबर कहांसे हो सकती है कि श्रद्धाकी, मुनित्वकी और केवलीकी बात कैसी होती है? जहाँ यथार्थ परिचय नहीं, और यह खबर नहीं है, कि-किस मार्ग पर जाना है, तो वहाँ मार्गपर कैसे चलेगा?

हे भाई! यह बहुत उच्चकोटिकी नहीं किन्तु यह तो प्रथम इकाई की बात है, पहले यथार्थ ज्ञान श्रद्धा करनेकी बात है। विशेष स्थिरता प्रगट करके मुनित्वको प्रगट करना. और फिर केवलज्ञान प्रगट करना उच्चातिउच्च कक्षाकी बात है।

अनीतिमय आचरण कर रहा हो, तथापि दुनियांमें बड़ा होनेके लिये नीतिकी आड़में रहना चाहे, और दूसरोंसे कहे कि-क्या मैं अनीति कर सकता हूँ? अनाचार कर सकता हूँ? क्या मैं असत्य बोल सकता हूँ?

छिः छिः! इनका तो नाम ही मत लो! इसप्रकार वह नीतिकी आड़ लेकर भला बनना चाहता है, और इसप्रकार वह यह मानता है कि अनीति अच्छी नहीं किन्तु नीति अच्छी है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि शुभाशुभ विकारोंसे रहित सत्स्वरूप शुद्ध आत्मा ही आदरणीय है।

लोग संसारिक बातोंमें अपना सयान बतलाते हैं, उत्साह दिखाते हैं और उन्हींमें तन्मय रहते हैं, किन्तु यहाँ धर्मकी बातोंमें कोई उमंग नहीं है; तो क्या यह धर्म कोई मुफ्तकी चीज है? धर्मकी बातमें लोग यह मानते हैं कि यह हमारी समझमें नहीं आयेगी, अपनी ऐसी शक्ति ही नहीं है। किन्तु हे भाई! तुझमें शक्ति तो अनन्त है। तेरे स्वभावकी अनन्त शक्ति प्रतिसमय ऐसी परिपूर्ण है कि-अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रगट कर सकता है; तब फिर यह कहना कि मेरी समझमें नहीं आ सकता या मुझे मत समझाइये,-घोर कलंककी बात है। यदि किसी कोई मनुष्यसे बातचीतमें गधा कह दे तो वह लड़नेको तैयार हो जाता है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है, कि जहाँ तेरा अनन्त संसारमें परिभ्रमण करनेका भाव विद्यमान है, वहाँ गधे आदिके अनन्त भव भी धारण करने होंगे!

हे भाई! ऐसा उत्तम सुयोग मिला है, दुर्लभ मनुष्यभव मिला है, और सत्समागम भी मिला है, ऐसे समयमें भी यदि न समझे तो फिर कब समझेगा? विकारकी अनेकतासे रहित एक ही चैतन्यस्वरूप है, उसकी श्रद्धा करने और उसका ज्ञान करनेमें ही तेरा हित है। चैतन्य-प्रभु एक है, ज्ञाता-दृष्टा है, वीतराग स्वरूप है। पुण्य-पापके परिणामकी जो अनेकता है, सो आत्मा नहीं है; उस परिणाममें आत्मा फैलता नहीं है या उसमें अटककर नहीं फैलता ॥ ४८ ॥

अब शिष्य पूछता है कि-यदि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो बताइये कि एक टंकोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप जीव कैसा है? उसका लक्षण क्या है?

यहाँ शिष्यके मनमें प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जिज्ञासा हुई है, जानने की तीव्र आकांक्षा हुई है, और वह जाननेके लिये पुलकित हो उठा है कि प्रभो! यह क्या है? आपने जो भगवान आत्माको राग रहित कहा है सो कैसा है? टंकोत्कीर्ण और कभी नष्ट न होनेवाली आत्मा

कैसा है? जिस आत्माकी श्रद्धा करनेसे मोक्ष होता है, उसका सत्य-स्वरूप क्या है? आपने तो यहाँ तक कह दिया है कि पुण्यादिके शुभ भावोंसे भी लाभ नहीं होता, तो फिर सत्यस्वरूप क्या है, सो समझाइये। यहाँ बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवकी बात नहीं है, किन्तु शिष्यको जिज्ञासा हुई है, और वह स्वरूपका इच्छुक होता पूछता है कि भगवान! जिस आत्माका नाश नहीं होता वह वस्तु क्या है; जिसे जानकर श्रद्धा करके स्थिर हों तो इस संसारका अन्त हो जाये?

शिष्य पूछता है कि भगवान! शुभाशुभभावकी जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे आत्माका स्वरूप नहीं हैं, और उनके आश्रयसे आत्माको लाभ नहीं होता, तो अब हम किसकी शरण ग्रहण करें? किस पर दृष्टि लगायें? आत्मा कैसा है? उसका परमार्थ स्वरूप क्या है, कि जिस पर दृष्टि रखकर उसमें स्थिर होनेसे भवभ्रमणका अन्त आये? इसप्रकार विनय पूर्वक शिष्यके पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देते हुये निम्नलिखित गाथामें कहा है कि—

अरसमरूमगंधं अव्वत्तं चेदणा गुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ४९ ॥

अर्थः—हे भव्य! तू जीवको रूप, रस और गंधसे रहित, अव्यक्त और इन्द्रिय अगोचर, तथा चेतना जिसका गुण है, शब्द रहित, जिसका किसी भी चिह्नसे ग्रहण नहीं होता, तथा जिसका कोई आकार नहीं कहा जा सकता ऐसा जान।

यह गाथा बड़ी अलौकिक है। यह गाथा श्रीकुंदकुंदाचार्यरचित सभी ग्रंथोंमें पाई जाती है। नियमसारमें ४६वीं, अष्टपाहुड़के भाव पाहुड़में ६४वीं, प्रवचनसारमें ८०वीं और पंचास्तिकायमें १२७वीं गाथा है। तथा धवल ग्रंथके तीसरे भागमें यह पहली गाथा है। पद्मनंदी-पंचविंशतिका लघु द्रव्य संग्रहादिमें भी है। इसप्रकार यह गाथा इन सभी शास्त्रोंमें है। इस गाथामें आत्माका वास्तविक स्वरूप अचिंत्य और अलौकिक ढङ्गसे किया गया है।

सर्वज्ञ भगवानके भावोंको कुन्दकुन्दाचार्यने अपने अनुभवमें उतार-कर इस शास्त्रमें स्पष्टतया लिखा है।

हे सुयोग्य भव्य ! तू भगवान आत्माको रस रहित जान। गाथामें सबसे पहले रस रहित कहा है, इसका कारण यह है कि जीव पर-पदार्थोंमें रस मान रहे हैं, वे खाने-पीने, चलने-फिरने, और रहन-सहन इत्यादिमें रस मान रहे हैं, तथा इसीमें सुख मान रहे हैं; और इस गाथामें आत्माके अतीन्द्रिय अनुभवरसकी बात करनी है, आत्माका आनन्द बताना है, इसलिये यहाँ रसकी बात पहले कही है। अन्य सभी शास्त्रोंमें पंचवर्णादिका वर्णन करते हुये पहले स्पर्शकी बात आती है, किन्तु यहाँ तो आत्माका अनुभव रस बताना है; इसलिये रसकी बात पहले कही है।

आत्मा अनन्त कालसे पर वस्तुमें रस मान रहा है। प्रतिष्ठामें, कीर्तिमें, लक्ष्मीमें, खानेमें, पीनेमें, उठनेमें, बैठनेमें, सोनेमें जो रस मान रहा है वह विकारी रस है। उस विकारी रसका नाश करनेवाला अतीन्द्रिय आनन्द रस आत्मामें सम्पूर्णतया भरा हुआ है, वह रस सम्यक् दर्शन होनेपर प्रगट होता है। वह रस ही आत्माका है. शेष अन्य रस आत्माके नहीं हैं।

जैसे भगवान आत्मामें रस नहीं है, उसी प्रकार रूप भी नहीं है। आत्मा सफेद, काला, हरा, पीला, और लाल नहीं है। इन पांच वर्णोंमेंसे कोई भी वर्ण आत्मामें नहीं है। आत्मा स्वयं अपने अनन्त गुणोंसे स्वरूपवान है।

भगवान आत्मामें सुगन्ध या दुर्गन्ध कुछ भी नही है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है,-इन्द्रिय गोचर नहीं है। स्पर्श, रस इत्यादिके जाननेमें इन्द्रियां निमित्त होती हैं। किन्तु आत्माके जाननेमे इन्द्रियां निमित्त नहीं हैं। उपदेश सुनना भी कानका विषय है।

प्रश्नः—जब कि सुनना भी कानका विषय है, तब हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तरः—रुपये पैसेकी कमाईकी बात, पुत्र-पुत्रियोंकी प्यारी आवाज और स्त्रीके मीठे बोल सुनना सो सब पापराग है। उसकी दिशा बदलकर देव-गुरु-शास्त्रके वचन श्रवण करना सो पुण्यराग है। और उसमें विवेक करना कि—आत्मा रागरहित है, वर्ण आदि रहित है, ऐसा विवेक करना—वह आत्मासे होता है, सुननेसे नहीं होता। जब

सत्को समझनेकी जिज्ञासा होती है, तब सत्श्रवण बीचमें आता है, क्योंकि सत्श्रवणके बिना सत्स्वरूप समझमें नहीं आता, किन्तु सत्-श्रवणसे ही सत्स्वरूप समझमें नहीं आ जाता; सत्स्वरूप तो आत्माके पुरुषार्थसे समझा जाता है। अपने स्वरूपका विवेक करनेकी ओर जब वीर्य ढलता है, तब श्रवणके रागका लक्ष छूट जाता है। परन्तु स्वयं स्वरूपका विवेक करके समझे तो जो श्रवणका राग और श्रवणका निमित्त, जो देव-गुरु-शास्त्र हैं वे समझनेमें निमित्त हुये कहलाते हैं। विवेक करना आत्माका स्वतन्त्र कर्तव्य है।

भगवान आत्मा शब्द रहित है। आत्मामें वाणी नहीं है। यह जो वाणी बोली जा रही है, सो उसे जड़ बोलता है, आत्मा नहीं। जड़-भूतवाणी जड़की खानमेंसे निकलती है। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप है, उसकी खानमेंसे वाणी नहीं निकलती इसलिये आत्मा शब्दरहित है।

आत्मा किसी बाह्य चिह्नसे नहीं पकड़ा जा सकता। विपरीत दृष्टिके कारण जीव ऐसा मान रहे हैं कि हम स्त्री हैं, हम पुरुष हैं, हम बालक हैं, हम युवक हैं, हम वृद्ध हैं, हम मनुष्य हैं, और हम पशु हैं, इत्यादि। उससे सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हे भाई! तू आत्मा है, स्त्री, पुरुषादि कोई भी चिह्न वाला नहीं है, तेरा आत्मा चिह्न-रहित है। लिंगरहित है। आत्माका स्वरूप किसी बाह्य चिह्नसे नहीं पकड़ा जा सकता, तथापि जो बाह्य चिह्नको 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है वह आत्माकी हत्या करनेवाला है। आत्मा चिह्नरहित, निराकार है। शरीरके चिह्न (लिंग) वाणी इत्यादि पर वस्तु आत्माकी नहीं है। आत्माका कोई निश्चित आकार नहीं है, इसप्रकार हे शिष्य! तू जान! यहां शिष्यसे 'तू जान' ऐसा कहा है, किन्तु तेरी समझमें नहीं आयेगा ऐसा नहीं कहा। ऐसा ही आत्मा है, इसप्रकार आचार्यदेव कहते हैं। वैसे ही आत्माकी श्रद्धा कर, उसीको जान, और उसीमें स्थिर हो जा। आत्मामें ज्ञान न हो ऐसा कुछ है ही नहीं। यहां 'जान' शब्द कहकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र तीनोंका समावेश कर दिया है।

अब इस गाथाका विशेष विवेचन करते हैं—

जो जीव है सो निश्चयसे पुद्गल द्रव्यसे अलग है इसलिये उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है, इसलिये अरस है।

आत्मा रस रहित है। खट्टा, मीठा, कड़वा इत्यादि पांच प्रकारके जो रस हैं सो पुद्गलके हैं, आत्माके नहीं। शरीर मन वाणी इत्यादि सब आत्मासे भिन्न हैं, इसलिये भगवान आत्मामें वह रस विद्यमान नहीं है। रस तो रजकणका गुण है, और आत्मामें रजकणका अभाव है, इसलिये रसका भी अभाव है। आत्मा और पुद्गल दोनों वस्तु हैं, किन्तु रस पुद्गल द्रव्यका गुण है, आत्मद्रव्यका नहीं।

यह शरीर बहुतसे रजकणोंका पिंड है, इस पिंडके अंतिम भागको परमाणु कहते हैं; उस परमाणुमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुण है, ऐसे रजकणोंका संयोग मिलकर यह शरीरका दल दिखाई देता है, अतः यह शरीर जड़की अवस्था है, और जड़का रस गुण जड़में है, आत्मा इस शरीरसे भिन्न है, इसलिये उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है, अर्थात् उस रस गुणका अस्तित्व ही आत्मामें नहीं है। तेरे आत्माका तो शांत रस है, अनाकुल रस है, अतीन्द्रिय रस है। वह तेरा रस तुझमें है। वह तेरा रस जड़में कहीं भी नहीं है, और जड़का रस गुण तुझमें नहीं है।

यहाँ प्रथमोक्तिमें आत्माको पुद्गल द्रव्यसे अलग किया है, और अब द्वितीयोक्तिमें पुद्गलके गुणोंसे अलग करते हैं।

पुद्गल द्रव्यके समस्त गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण आत्मा स्वयं भी रस गुण नहीं है, अर्थात् अरस है।

पुद्गल द्रव्यके जितने गुण हैं उन सबसे आत्मा भिन्न है। पुद्गलके अनन्त गुण पुद्गलमें हैं। वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, द्रव्यत्व, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, इत्यादि पुद्गलके अनन्तगुण पुद्गलमें हैं। ऐसे पुद्गल द्रव्यके गुणोंसे आत्मा भिन्न है। जैसे पुद्गल पुद्गलके रस गुणमें परिणमित हुआ है, वैसे रस गुण रूपसे आत्मा परिणमित नहीं हुआ है, इसलिये आत्मा अरस है।

विविध प्रकारके व्यंजनोंका उपभोग करते हुए जो रसास्वाद होता है, वह रस आत्माका नहीं किन्तु जड़का है, लेकिन मूढ़ात्मा उसे अपना

लाखों टुकड़ोंके बीचमें एक हीरा पड़ा हो तो हीरेका इच्छुक और परीक्षक उनमेंसे हीरेको पहिचानकर तत्काल ही उठा लेगा, उसीप्रकार शरीर इन्द्रिय मन यह सब काचके टुकड़े हैं और इन्द्रियोंके विषय भी काचके टुकड़े हैं, और जो पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होती हैं वे काचके छोटे टुकड़े हैं, तथा भीतर चैतन्यमूर्ति अमूल्य हीरा है, जिसे उस आत्मारूपी हीरेका महत्त्व मालूम होगा वह परीक्षा करके चैतन्यमूर्ति हीरेको प्राप्त कर लेगा, उसका उपयोग उस चैतन्यमूर्ति हीरे पर ही जायगा और उसमें लीन हो जायगा।

जो हीरेके महत्त्वको नहीं जानता, जिसे कांच और हीरेका विवेक नहीं है, वह कांचको उठा लेगा। उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति अमूल्य हीरेकी खबर नहीं है, उसे जड़ और चैतन्यके पृथक् स्वभावका विवेक न होनेसे वह शुभाशुभ परिणामको और शरीरकी क्रियाको ही चैतन्य मान लेगा। जिसे चैतन्यरूपी अमूल्य हीरा चाहिये हो, उसे जड़ और चैतन्यके पृथक् स्वभावका विवेक करना पड़ेगा। उसके बिना चैतन्यरूपी अमूल्य हीरा नहीं मिलेगा।

आत्माके साथ जो शरीर, मन और वाणी है वह सब संयोगी वस्तु है नाशवान है, स्त्री पुत्र, कुटुम्ब आदि सब बाह्य वस्तुएँ हैं जो कि नाशवान हैं; वे सब बाह्य वस्तुएँ चली जाती हैं और ममता रह जाती है। और जो भीतर पुण्य-पापके भाव होते हैं वे भी सब बदल जाते हैं, इसलिये वे भी क्षणिक, नाशवान हैं। यह सब संयोगी वस्तुएँ क्षणिक हैं। जितने काल आत्मा रहता है, उतने काल वह संयोगी वस्तुएँ नहीं रहती। आत्मा उनसे पृथक् तत्त्व क्या है, उसकी श्रद्धा और परिचयके बिना एकाग्रता नहीं होती।

यदि कोई कहे कि हम मात्र शुभ परिणाम किया करें, और पाप भाव न करें तो क्या हानि है ? किन्तु ऐसा नहीं हो सकता; पुण्य-परिणाम सदा एकरूप नहीं रहते, पुण्यको बदलकर आत्माके स्वभावको न समझे तो पापपरिणाम अवश्य होते हैं; अनादिकालीन मूढ़ताके कारण संसारकी आवश्यकता मालूम होती है, इसलिये अज्ञानी जीव संसारकी वेगार किया करता है। जिसे जिसकी आवश्यकता प्रतीत होती है, वहाँ उसका वीर्य काम किये बिना नहीं रहता। आत्माकी आवश्यकता प्रतीत

हो तो वहाँ वीर्य काम किये विना नहीं रहेगा। जिसे आत्माका हित करना हो उसे कहाँ दृष्टि रखना चाहिये ? उसे क्षणिक परसे दृष्टि हटाकर स्थायीपर दृष्टि करनी चाहिये, अर्थात् परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखनी चाहिये। पूर्ण स्वभाव पर दृष्टि डाले विना पूर्णता प्रगट नहीं होगी, और मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं होगा। अपने घरको देख। अपने स्वरूपको जाने बिना नित्य सुख प्रगट नहीं होगा, और अनित्य पर दृष्टि रखनेसे नित्य सुख प्रगट नहीं होगा।

यदि क्षणभरमें पुण्य और क्षणभरमें पापके बदलते हुए भावोंके भरोसे सुख लेना चाहेगा तो नहीं मिलेगा। जो स्वभाव कभी बदलता नहीं है, उसके भरोसे सुख मिलेगा।

सांयकालमें संध्या खिलती है और सुहावनी प्रभा दिखाई देती है, उस समय ऐसा लगता है कि मानों पृथ्वीने चुनरी ओढ़ रखी है ! जब वह प्रभा अपने मकान पर पड़ती है तब मूढ़ पुरुषकी दृष्टि उधर जाती है और वह मानता है कि–यह प्रभा सदा बनी रहेगी ! किन्तु हे अज्ञानी मानव ! यह प्रभा अभी कुछ ही क्षणोंमें चली जायेगी; यह मनोहर रंग कुछ ही क्षणमें नष्ट हो जायेंगे, यह प्रभा क्षणिक है, नाशवान है; इस पर दृष्टि जमाकर यदि सुख लेना चाहे तो वह सुखी नहीं होता।

पुण्यके कारण सुन्दर स्त्री मिली हो, दो–चार अच्छे बालक हों, और शरीरकी कुछ सुन्दर चमड़ी मिली हो तथा ऐसी ही सांसारिक अनुकूलताएं मिल गई हों तो अज्ञानी जीव उसमें सुख मान बैठता है। किन्तु यदि उस सुन्दर चमड़ीको जरा शरीर परसे उतारकर देखे तो पता लगे कि भीतर क्या भरा हुआ है। रक्त मांससे भरा हुआ यह पुतला है, इसमें जो सुख मानता है वह मूढ़ है। रुपया, पैसा, स्त्री इत्यादि अनुकूलताओंमें सुख मान बैठा है, किन्तु वे सब क्षणिक हैं। उनपरसे दृष्टिके विषयको हटाकर उसे आत्माकी ओर ले जा। परोन्मुख दृष्टिको हटाकर स्वोन्मुख कर।

सम्यक्‌दृष्टिका विषय आत्मोन्मुख होता हुआ स्थायी है, उसकी दृष्टि ध्रुव–शाश्वत पर होती है; पुण्य, पाप, राग, द्वेष, शरीर, मन, वाणी पर नहीं होती, मात्र एक शाश्वत् टंकोत्कीर्ण भगवान आत्मा पर ही

उसकी दृष्टि होती है। संध्याकी लालिमा क्षणिक है, उस पर जानेवाली दृष्टि भी क्षणिक है; इसलिये राग द्वेष रहित, सदा स्थायी अविचल वस्तु आत्मा पर दृष्टि कर। उस आत्मद्रव्यका कभी नाश नहीं होता। भगवान आत्मा पर राग-द्वेषकी लालिमामय संध्याका रंग पड़ा हुआ है, वह सदा नहीं रहेगा। अज्ञानी जीव रागकी लालिमा पर दृष्टि रखकर सुख लेना चाहता है, किन्तु वह स्थायी नहीं है, इसलिये सुख नहीं मिलता। अनित्यके भरोसे सुख नहीं हो सकता, उसके जानेसे दुःख होगा। नित्यके भरोसे दुःख नहीं किन्तु सुख होगा।

अपने सांसारिक घर पर जब संध्याकालीन लालिमाकी प्रभा पड़ती है तब उसे देखकर कितना प्रसन्न हो जाता है? किन्तु भाई! अपने निज घरमें तो देख कि आत्मा क्या है, और उसकी कितनी सुन्दर शोभा है, जो कि सदा स्थायी है।

परमाणुमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श यह चार गुण मुख्य है इनके अतिरिक्त अन्य अनन्त गुण भी परमाणुमें विद्यमान हैं। पुद्गलका रस आत्मामें नहीं है, आत्मामें शांतरस है आत्मा विकारके कलुषित रससे रहित आनन्द रसयुक्त है।

यह जिह्वा अजीव है, परमार्थसे इस जड़ेन्द्रिय जिह्वाका स्वामित्व भी आत्माके नहीं है. आत्मा जीभके द्वारा अथवा जीभके आलम्बनसे नहीं चखता। जिह्वाकी जो ऊँची-नीची अवस्था होती है सो वह जीभकी है। जिह्वाके अग्रभागको चलाना आत्माके वशकी बात नहीं है किन्तु वह जिह्वासे ही चलता है। जीभकी अवस्था जीभसे ही बदलती है, आत्मा उससे सर्वथा भिन्न चिदानन्द आनन्दरससे परिपूर्ण है। पुद्गल द्रव्यका स्वामित्व आत्माके नहीं है, इसलिये वह परमार्थसे द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा रसको नहीं चखता। यहाँ प्रथमोक्तिमें पुद्गल द्रव्यसे आत्माको अलग किया और द्वितीयोक्तिमें पुद्गलके गुणसे अलग किया, तथा तृतीयोक्तिमें पुद्गलकी पर्यायसे भी आत्माको अलग कर दिया है।

यदि आत्मा जिह्वाके द्वारा रसको चख सकता हो तो जब बुखार आता है, और जीभ बिगड़ जाती है-जीभके परमाणु ऐसे हो जाते हैं कि उन्हें रसमें मिठास नहीं लगती तब रसास्वादनकी इच्छा होते हुए भी कोई रस अच्छा नहीं लगता। जीभ अनन्त परमाणुओंका एक पिंड

दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। हीरेका जितना मूल्य होता है, उतना मूल्य स्वीकार न करे तो हीरा नहीं मिलता। इसीप्रकार चैतन्यरूपी हीरा सारा पूर्ण स्वभावसे भरा हुआ है, यदि उसे अपूर्णपर्यायवाला माने तो पूरी पर्याय प्रगट नहीं होगी, मोक्षमार्ग भी प्रगट नहीं होगा। यदि पूर्ण स्वभावकी दृष्टि करे तो उसीसे मोक्षमार्ग और पूर्णपर्याय प्रगट होगी।

जिसे आत्माकी रुचि नहीं है, उसे इस वातके सुननेमें रस नहीं आता। किन्तु यदि घरमें कोई वहुमूल्य वस्तु आई हो या गहना इत्यादि आया हो तो घरके सभी स्त्री पुत्रादि तत्सम्वन्धी वातको रस पूर्वक सुनते हैं, किन्तु जहाँ आत्माकी वात सुनाई जाती है. वहाँ उकताहट आ जाती है।

यहाँ आचार्यदेव यह वता रहे हैं कि आत्माका हित किस प्रकार हो सकता है। वे स्वपरका यथार्थ विवेक वताकर आत्माका हित वतला रहे हैं। जिसे सुनकर सुयोग्य जीव कहते हैं कि अहा ! ऐसी वात तो कभी भी नहीं सुनी थी। आत्मा परसे भिन्न वस्तु है, अखण्ड वस्तु है; यद्यपि विकास कम है तथापि स्वभावसे पूर्ण है। यह अपूर्व वात है।

जैसे लेंडी पीपलके चौंसठ पुट होने पर जो चरपराहट प्रगट होती है, वह चरपराहट वर्तमानमें भरी हुई है,-ऐसा ज्ञान पहलेका लेनेके वाद उस लेंडी पीपलको घोंटने लगता है तो उसमेंसे चौसठ पुटी चरपराहट प्रगट होती है। इसीप्रकार भगवान चैतन्य मूर्ति आत्मा वर्तमान क्षणमें ही परिपूर्ण स्वभावसे भरा हुआ है, ऐसी दृष्टि और ज्ञान करनेके वाद घोंटने लग जाये, अर्थात् आत्मामें एकाग्रता करने लगे तो उसमेंसे केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है।

परन्तु यदि परिपूर्ण स्वभावकी प्रतीति न करे और पहले कुछ राग-द्वेष मंद किया था जिससे ज्ञानका कुछ विकास हुआ, उतना ही आत्माको मान ले अर्थात् उस पर्याय जितना ही आत्माको मान ले तो पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होगी-केवलज्ञान प्रगट नहीं होगा।

जो सहस्रपुटी अभ्रक भस्म है, उसमें सहस्र पुट होनेकी शक्ति वर्तमानमें ही है, उसमें हजार पुट होनेका स्वभाव वैद्योंके ध्यानमें

पहलेसे ही होता है। इसीप्रकार आत्मामें एक-एक इन्द्रियको जानने मात्रका स्वभाव नहीं, किन्तु तीनकाल और तीनलोकको सबको जाननेका स्वभाव वर्तमानमें ही भरा हुआ है, उसमें एकाग्र हो जाऊँ तो पूर्ण स्वभाव प्रगट हो ऐसा ज्ञान पहलेसे ही करे तो आत्मामें स्थिर हो, और केवलज्ञान पर्याय प्रगट हो जाये। यह चतुर्थोक्ति है। अब पंचमोक्ति निम्नप्रकार है।

समस्त विषयोंके विशेषोंमें साधारण—एक ही संवेदन परिणाम-रूप उसका स्वभाव होनेसे केवल एक रससंवेदनपरिणामको प्राप्त करके रसको नहीं चखता, इसलिये अरस है।

यहाँ समस्त पर अधिक भार दिया गया है। समस्त प्रकारके विषयोंको एक ही साथ जाने तो भी उसका एक ही प्रकारका स्वभाव और एक ही प्रकारका आनन्द होनेसे रसको नहीं चखता।

लोकालोकके जितने पदार्थ हैं, उन सभी भावोंको—उन समस्त प्रकारोंको एक ही साथ जान ले ऐसा उसका स्वभाव है। समस्त विषयोंको जानकर कहीं रुक जाये या खण्ड हो जाये, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। उन सबको जानते हुए वह जड़रसरूप या रागरसरूप नहीं होता, किन्तु अपने स्वभावकी शक्तिके आनन्दका वेदन करता है। वह वेदन एक ही प्रकारका होनेसे और उस अतीन्द्रिय रसका अनुभव उसका स्वभाव होनेसे वह जड़के रसको नहीं चखता, रागके रसका अनुभव नहीं करता।

आत्माके अनन्तगुणोंको जानते हुए जिस शान्तरस और आनन्दरस-का अनुभव करता है वह एक ही प्रकारका होता है; उसमें दो प्रकार नहीं होते या अनेकत्व नहीं होता; उसमें रागका अनुभव नहीं होता।

भगवान आत्मा एक रसका ही ज्ञान करनेकी शक्तिवाला नहीं है, या मात्र एक-एक इन्द्रियके विषयका ज्ञान करनेकी शक्तिवाला नहीं है, किन्तु लोकालोकके जितने पदार्थ हैं, उन सबके भावोंको एक ही साथ जाननेकी शक्तिवाला है। आत्मामें अनन्त गुणोंको एक ही साथ जाननेकी शक्ति है। वह समस्त भावोंको जानकर आकुलता रहित एक ही प्रकारके अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद लेता है, ऐसा उसका स्वभाव है। वह मात्र रस सम्बन्धी रागका ही अनुभव करके रसको नहीं

चखाता परन्तु भगवान आत्मा तो अपने स्वभावका एक ही प्रकारका अनुभव करनेवाला नित्यानन्द प्रभु है।

आत्मा मात्र रसका ही ज्ञान करनेवाला नहीं है, किन्तु त्रिकाल-की वस्तुओंको जाननेवाला है।

समस्त वस्तुओंको जाननेका स्वभाव होने पर भी, सबको जानते हुए भी आत्मा अपने एक ही प्रकारके अनुभवका वेदन करता है वह खंडरूप होकर परका वेदन नहीं करता।

विविध व्यंजनोंके रसका राग करके, उसके वेदनमें अटक जाये इतना ही आत्मा नहीं है, किन्तु आत्माका अनुभव तो एक ही प्रकारका है, वह नित्यानन्द प्रभु स्वभाव रसमें एक ही प्रकारसे रुकता है, वह समस्त विषयोंमें कहीं भी नहीं रुकता, या खण्ड नहीं होता।

आत्माका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह मन, वाणी, रूप और रसका ज्ञान करके उसीका वेदन करे। मैं एक अखण्ड, पूर्ण समस्त पदार्थोंको एक ही साथ जानने वाला हूँ। अपूर्ण अवस्था होने पर भी स्वभावसे पूर्ण हूँ; ऐसा ज्ञान करना सो उसका नाम सच्चा ज्ञान है। अपूर्ण अवस्थाके समय पूर्ण हूँ ऐसी दृष्टि करना सो सच्ची दृष्टि है। पूर्ण होनेके वाद पूर्णको मानना कहां रहा? इसलिये पूर्णकी श्रद्धा तो पहलेसे ही होती है।

सर्वथा अजान शिष्य ने पूछा था, उसे यह वात समझाई जा रही है, जानकार—समझे हुएको नहीं। यह वात समझनेके लिये पुरुषार्थ चाहिये। यदि समझनेमें कुछ समय लग जाये तो अकुलाहट हो जाती है, किन्तु कमाईमें वर्षोंके वर्ष कैसे निकाल देता है। वह कह सकता है कि-यह तो भूख लगती है इसलिये करना पड़ता है, किन्तु इसी-प्रकार आत्माकी भी भूख लगना चाहिये, वास्तविक जिज्ञासा जागृत होनी चाहिये तो स्वरूप समझमें आये विना नहीं रहेगा। न तो समझना है, और न उसके लिये परिश्रम करना है, तो क्या धर्म किसी वृक्ष पर लटक रहा है कि उसे तोड़कर ले लेगा? स्वरूपको पहिचाने विना तीनकाल और तीनलोकमें भी धर्म होनेवाला नहीं है। यह पंचमोक्ति हुई। अव षष्ठोक्ति कहते हैं।

आत्माको समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञेय-ज्ञायक तादात्म्यका निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता, इसलिये अरस है। यों छह प्रकारसे रसके निषेधसे वह अरस है।

रस ज्ञेय है, आत्मा ज्ञायक है। रसके जिह्वा पर स्पर्श करनेसे रसका ज्ञान होता है, किन्तु उस रसके ज्ञानरूपमें, ज्ञानकी अवस्था होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता।

आत्मा ज्ञायक है और शरीर, मन, वाणी, राग, द्वेष इत्यादि ज्ञेय हैं। ज्ञायक और ज्ञेय दोनों त्रिकाल भिन्न हैं। शरीरके कारण शरीर और आत्माके कारण आत्मा है, दोनों अपने अपने कारणसे हैं। वे दोनों कभी भी एकरूप नहीं होते सबकी क्रिया स्वतंत्र है। जड़की क्रिया जड़में और आत्माकी क्रिया आत्मामें होती है। इसप्रकार दोनों द्रव्य पृथक् होने पर भी एकक्षेत्रमें एकत्रित हैं, अर्थात् दोनों एक ही स्थान पर मिलकर रह रहे हैं, तथापि दोनों एकमेक नहीं हो जाते, दोनोंके तादात्म्य सम्बन्धका निषेध है। यदि दोनों एकरूप हो जायें तो आत्मा जड़ हो जाये। यदि आत्मा और जड़ दोनों एक होते हों तो अग्निके जानने पर आत्मा उष्ण हो जाना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञात होने योग्य बाह्य वस्तु और ज्ञाता—दोनों एकरूप नहीं होते। आत्मा रसके ज्ञानरूपमें अर्थात् अपने ज्ञानकी अवस्थाके रूपमें परिणमित होता है, तथापि वह रसरूप नहीं होता, इसलिये आत्मा अरस है। इसप्रकार आत्माको परिपूर्ण रस रहित जानना और उसमें स्थिर होना ही हितका उपाय है।

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, आकार इत्यादि शरीरका स्वभाव-धर्म है। जो जड़का स्वभाव है सो जड़का धर्म है, और जो आत्माका स्वभाव है सो आत्माका धर्म है। "वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तुका स्वभाव धर्म है। आत्मा और जड़ दोनों वस्तु हैं, इसलिये दोनोंका अपना अपना स्वभाव, अपना अपना धर्म है। जैसे गुड़का स्वभाव मीठापन है, उसीप्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र है, और जड़का स्वभाव वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श है। आत्माका धर्म आत्माके साथ सम्बन्ध रखता है; वह मन, वाणी, देहके साथ सम्बन्ध नहीं रखता।

जैसे पीतलके डिब्बेमें गुड़ रखा हो तो वह दोनों अलग अलग वस्तुएँ हैं, इसीप्रकार शरीरमें चैतन्यरूपी आत्मा विद्यमान है। शरीर और आत्मा दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं।

दुर्गतिमें जानेसे अथवा अधर्ममें गिरनेसे आत्माको जो धारण कर रखे (बचा रखे) सो धर्म है। जितने राग-द्वेष-अज्ञान आदिके भाव होते हैं, वे सब दुर्गति–अधर्म हैं, उनमें गिरनेसे आत्माको रोके सो धर्म है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभाव है, उसमें स्थिर न होकर पुण्य-पापके भावमें लग जाना या उसे ठीक मानना ही दुर्गति है। वास्तविक दुर्गति तो यही है, और जो चार गतियां हैं वे तो उसका फल हैं। आत्माके स्वभावमें न रहकर परमें रहनेका फल चार गतियां हैं। आत्माके स्वभावको पहिचानकर चैतन्यघनमें युक्त होना और पुण्य-पापके विकारमें युक्त नहीं होना—यही आत्माका धर्म है, और उस धर्मका फल मुक्ति है।

यथार्थको समझे बिना अनन्त भवोंमें भ्रमण किया; और यदि अभी भी सत्यको न समझा तो चौरासी लाखका भयंकर चक्कर विद्यमान है। जिस भावसे अभी तक अनन्त भव किये, उस भावसे भवका नाश नहीं होगा, किन्तु उससे विरुद्ध भावोंसे भवका नाश होगा।

जो व्यक्ति रुपया, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब और शरीरादिके आश्रयसे ही जीवन मानता है, वह रंकातिरंक–भिखारी है। चैतन्य प्रभु जागती ज्योति है। उसे भूलकर जो किसी परके आश्रयसे सुख लेना चाहता है, वह अति रंक है। हे प्रभु! वह रुपया-पैसा और कुटुम्बादि वहां कोई शरण नहीं होंगे; जहाँ तू आंख बन्द होते ही चला जायेगा और कुत्ते, बिल्ली इत्यादिके रूपमें भव धारण करेगा। यदि आत्मधर्मको समझेगा तो वही तुझे शरणरूप होगा, इसलिये आत्मधर्मको समझ।

अरे प्रभु! तू अनन्तकालसे अनन्त भव धारण कर चुका है। तू अनंतबार स्वर्गके भव धारण कर चुका, और अनन्तबार नारक, पशु तथा मनुष्यके भव धारण कर चुका, तथा ऐसे अनन्तानन्त भवोंमें न जाने क्यों और कैसे मरणको प्राप्त हुआ। स्वर्गमें देवका शरीर प्राप्त किया और वहां सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी शरीर मिला, किन्तु वहांसे मरकर कौए इत्यादिका भव धारण किया। इसप्रकार आत्मप्रतीतिके बिना पुण्यपरिणामसे पाप-

परिणाम, और पापपरिणामसे पुण्यपरिणाम होते रहे और तू व्यर्थ ही भवभ्रमण करता रहा। यदि अब सुखी होना हो तो आत्मधर्मको समझ और यदि भवभ्रमण ही करना हो तो सभी आत्मा स्वतंत्र हैं। यह तो जिन्हें सुखी होना हो उनके ग्रहण करने योग्य बात है।

जैसे रस रहितताके छह प्रकार कहे गये हैं, उसीप्रकार रूप रहितताके छह प्रकार संक्षेपमें कहे जा रहे हैं।

१–आत्मा जड़ पुद्गलसे भिन्न है; और क्योंकि पुद्गलरूपी है, इसलिये आत्मा अरूपी है।

२–पुद्गलके गुणोंसे भी भिन्न होनेसे आत्मा रूप-गुणयुक्त भी नहीं है, इसलिये अरूपी है। रूपका अर्थ है रंग; जिसके पांच प्रकार हैं– काला, सफेद, लाल, पीला, हरा। रंग गुणकी यह पांच अवस्थाएँ हैं। पुद्गल द्रव्य सदा स्थायी वस्तु है और उसमें रंग नामक गुण भी सदा रहता है और उसमें जो रंग बदलते हैं वह उसकी पर्याय है। उस पुद्गलसे आत्मा भिन्न है, इसलिये रूपरहित है। अज्ञानी जीव उस रूपमें मोहित हो जाते हैं। उन्हें उसमें राग हो जाता है। जहाँ शरीरकी सफेद चमड़ी देखता है, वहाँ राग कर लेता है, और जहाँ काली चमड़ी देखता है वहाँ तिरस्कार कर लेता है, जहाँ राग हो जाता है वहाँ वह यह मानता है कि यह मुझे अनुकूल है। अनुकूल माननेकी गहराईमें ऐसा समझ लेता है कि वह मेरी सातामें सहायक होगी, और सहायक होगी अर्थात् मेरे साथ एकमेक हो जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि रूप और मैं–दोनों एक हो जायेंगे। इसप्रकार अज्ञानी रूपको अच्छा मानते हैं। वे अज्ञानवश यह समझते हैं कि हम दोनों एक हो जायेंगे।

किन्तु जिसे यह विवेक जागृत हुआ है, कि रूप तो पुद्गलका गुण है, मेरा आत्मा रूप रहित है, उसे रूपमें राग और कुरूपमें द्वेष नहीं होता। वह विवेकी ज्ञानी अपने आत्मामें राग-द्वेष नहीं होने देता और उपयोगको सुरक्षित रखता है। यह किसने कहा है कि सफेद चमड़ी अच्छी है, और काली चमड़ी अच्छी नहीं है। ऐसा भेद करनेका कौनसा कारण है कि सफेद चमड़ी अच्छी है और काली अच्छी नहीं

है ? इसका कारण मात्र अज्ञान है। अज्ञानीको अपने स्वभावकी खबर नहीं है, इसलिये उनमें भेद करके राग-द्वेष करता है, किन्तु ज्ञानी धर्मात्मा तो समझता है कि मेरा स्वभाव एक ही प्रकारका है; उस एकप्रकारके स्वभावमें राग-द्वेषका, अच्छे-बुरेका भेद करके उसमें अटक जाना मेरा स्वभाव नहीं है। जितना जितना वृत्तिका उत्थान होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह सब विकारी भाव है, वह मेरा सामर्थ्य नहीं है। मेरा सामर्थ्य तो उन सबका ज्ञान करना और ज्ञातारूपसे रहना है। रागमें एकमेक होने पर रागका जितना बल होता है, उतना रागसे अलग रहकर उसका ज्ञाता रहनेपर रागका बल नहीं आता।

सफेद और काली चमड़ी दोनों धूल समान हैं; उनमें अच्छे-बुरेका भेद करके कहाँ अटक रहा है? वह तेरे लिये शरणभूत नहीं होगी। यदि ऐसे मोहमें मरणको प्राप्त हुआ तो, कहाँ जाकर पार पायेगा ? तव तेरे अरण्य-रोदनको कौन सुनेगा ? इसलिये अपने आत्माके स्वरूपको समझ, आत्महित कर और वैराग्य पूर्वक आत्मामें स्थिर हो जा।

४-परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामित्व भी न होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्वनसे भी रूपको नहीं देखता इसलिये अरूप है।

आँखके आलम्वनसे रूपको देखता हूँ, ऐसा माननेवाला आत्मा जड़का स्वामी हो जाता है, इसलिये पुद्गल द्रव्यके रूपको आँखसे देखा जाता है, ऐसा माननेवाला आत्माकी हत्या करता है।

आँखके आधारसे कोई भी रूपको नहीं देख सकता, क्योंकि रूप तो ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है। कोई वस्तु परतंत्र नहीं हो सकती। आत्मा आत्मासे है, रजकणसे नहीं। इसीप्रकार रजकण रजकणसे है आत्मासे नहीं; इसीप्रकार अस्ति-नास्ति भी है। अस्तित्व-नास्तित्व प्रत्येक द्रव्यमें है, प्रत्येक द्रव्यके समस्त गुणोंमें है, और एक-एक गुणकी सभी अवस्थाओंमें है। इसलिये रूप ज्ञानसे जाना जाता है, आँखसे नहीं।

प्रश्नः—आँखें देखनेमें कमसे कम निमित्त तो होती ही हैं?

उत्तरः—देखनेवाला ज्ञान किसके अस्तित्वमें जानता है? ज्ञानके

अस्तित्वमें या आंखकी कोड़ीके अस्तित्वमें ? जाननेवाला ज्ञान है, या आंखकी कोड़ी ? इतना विचारनेपर स्पष्ट हो जायेगा कि जाननेवाला ज्ञान है, वह ज्ञानके अस्तित्वमें रहकर जानता है, किन्तु आंखकी कोड़ी कुछ नहीं जानती; क्योंकि वह तो जड़ है। जैसे चश्मा कुछ नहीं जानता उसीप्रकार आंख भी कुछ नहीं जानती। अल्प विकासके कारण बीचमें आंख निमित्त हो जाती है, किन्तु ज्ञात तो ज्ञानसे ही होता है। आत्माका ज्ञानस्वभाव उस जड़ (आंख)के रजकणोंके आधारसे जाने यह कदापि नहीं हो सकता।

आत्मा अरूपी तत्व है, उसमें ज्ञान, दर्शन आदि अनन्तगुण हैं। वे अनन्तगुण अपनी अपेक्षासे हैं और परकी अपेक्षासे नहीं हैं, अर्थात् वे पंचेन्द्रियरूप नहीं हैं। इसलिये आंखकी कोड़ीसे ज्ञात होता है, यह मानना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। अपना स्वभाव परस्वभावरूप नहीं होता। अपने गुणका सम्बन्ध अपनेरूपसे होता है पररूपसे नहीं।

आंखकी कोड़ी पुद्गल परमाणुओंका पिंड है, वह जगतके रजकण हैं, परमाणु सत् हैं और आत्मा भी सत् है। आत्मा आत्मारूपसे है, कोड़ीरूपसे नहीं। जिसरूपसे है उसरूपसे नहीं है ऐसा नहीं है, किन्तु जिसरूपसे नहीं है, उसरूपसे नहीं है, और जिसरूपसे है उसरूपसे है। जिसरूपसे नहीं है, उस रूपसे अपनेको माने तो मिथ्यादृष्टि है। यदि ऐसा माने कि मैं इसके (परके) कारण हूँ, और यह न माने कि मैं अपने कारण हूँ, तो वह परसे पृथक्त्व नहीं कर सकता। अभी यह सम्यक्दृष्टिकी बात चल रही है; यह धर्मकी सर्वप्रथम इकाई है। आत्मा स्वतन्त्र और परसे निराला है, उसकी प्रतीति करनेसे मोक्ष होता है, अर्थात् विकारसे अलग हो जाता है। शुभाशुभ परिणामसे अलग होना या शुभाशुभके विकारसे अलग होना सो इसका नाम मुक्ति है। मुक्ति कहीं अपनेसे अलग होनेरूप नहीं है, किन्तु अपने द्रव्यके अस्तित्वमेंसे निर्मल पर्यायको प्रगट करना और विकारसे अलग होना इसका नाम मुक्ति है। जो अपनेको परसे भिन्न स्वीकार नहीं करता, वह अपनी मुक्ति नहीं करता।

४—अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो उसके क्षायोपशमिक भावका भी अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बनसे भी रूपको नहीं

देखता इसलिये अरूपी है।

क्षायोपशमिकज्ञान अपूर्ण अवस्था है, उसके द्वारा जितना जाने उतना ही आत्म स्वभाव नहीं है। आत्मा परिपूर्ण स्वभाव है, तीनकाल और तीनलोकको जाननेका आत्माका स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जो न माने उसकी प्रततिमें संपूर्ण स्वभाव नहीं आया इसलिये उसकी प्रतीति सच्ची नहीं है, उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, उसका तर्क सच्चा नहीं है, और उसकी स्थिरता भी सच्ची नहीं हैं। यदि तू आत्माको अपूर्ण अवस्था जितना ही मानेगा तो उसमेंसे पूर्णताका उदय नहीं होगा किन्तु पूरा मानने पर पूर्णमेंसे पूर्णता उदित होगी।

भावेन्द्रियके आलम्बनसे रूपको आत्मा देखे इतना ही आत्मा नहीं है। आत्माका परिपूर्ण स्वभाव है, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान किये विना उसका उत्तर आत्मासे नहीं मिल सकता।

५—आत्माका स्वभाव जगतके समस्त पदार्थोंको अच्छे-बुरेका भेद किये बिना साधारणतया सबको समान और एक समयमें जाननेका है; एकको जानने और एकको न जाननेका उसका स्वभाव नहीं है। रूपको जानते समय रूपको ही जानना, और उस रूपके रागका वेदन करना आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु उसका स्वभाव सबको एक ही साथ और एक ही समान जानना है, यह अच्छा है, और यह बुरा है, ऐसा मानकर अटकनेका स्वभाव नहीं है, किन्तु एक समान ही जाननेका स्वभाव है। कहीं भी अच्छा-बुरा मानकर उसमें अटकनेका स्वभाव नहीं है, सबको जानकर अपने स्वरूपका अनुभव और उसका वेदन करना आत्माका स्वभाव है; वह रूप स्वरूप नहीं हो जाता।

जब कि सबको एक समान जानता है तब फिर अच्छा-बुरा कहाँ रहा। जैसे कोई किसी रानीको देखकर विचार करे कि यह रानी पहले कुत्ती थी और तब इसका शरीर सड़ रहा था, किन्तु अब यह रानीके रूपमें है; लेकिन यह मद्य-मांसका सेवन करती है, इसलिये अब मरकर नरकमें जायेगी; इसप्रकार यदि तीनों अवस्थाओंका सामान्यतया विचार

करे तो राग न रहे। यदि खण्ड-खण्ड जाने तो राग हो सकता है, किन्तु अखण्डतया जानने पर उसके फलस्वरूप वीतरागता होती है। सभीमें खण्ड न करके—भेद न करके एक ही प्रकारका सतत ज्ञान करे तो उसमें अच्छा-बुरापन नहीं आ सकता।

लोक रूप, रस, गन्धको विषय कहते हैं, किन्तु वे तो जड़ द्रव्यके गुण पर्याय हैं, विषय नहीं। किन्तु उस ओर जो लक्ष जाता है, वह विषय है। आत्मा तो ज्ञायक है, यदि उसमें लक्ष करे तो अपना विषय हो और जो रागका—परका विषय होता है, वह रुक जाये। वस्तु रागका विषय नहीं है, वह तो ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य-ज्ञेय है, किन्तु वहाँ राग करके अटकता है, इसलिये उसे विषय कहा जाता है। विषय न तो चैतन्य स्वभावमें हैं और न जड़में हैं। मात्र परकी ओर रागका लक्ष जाता है सो उसे विषय कहते हैं।

वस्तुके स्वभावको जान ले तो यह यथार्थतया जाना जा सकता है कि जड़-चैतन्यका स्वभाव कैसा है। बालक खेलते समय धूलमें पानी मिलाकर उसके लड्डू बनाते हैं, किन्तु न तो वे खानेके काममें आ सकते हैं, और न उनसे भूख ही मिट सकती है, इसीप्रकार जगत-के जीव अपने सत्त्व-तत्त्वको जाने बिना बाहरका चाहे जितना क्रिया-कर्म करें किन्तु वह सब धूलमें पानी डालकर लड्डू बनानेके समान हैं। बाहरी क्रिया और शुभ परिणाम आत्माकी भूखको नहीं मिटा सकते किन्तु आत्मस्वरूपको समझनेसे ही भूख मिट सकती है और शांति प्राप्त हो सकती है।

६–ज्ञायक और ज्ञेय (रूप) दोनों एक नहीं हो जाते। यद्यपि आत्मा रूपको जानता है, किन्तु रूपको जानते हुए वह रूप स्वरूपमें परिणमित नहीं होता।

अब यहाँ छह प्रकारसे गन्धकी बात करते हैं:—

१–गन्धरूप परमाणु द्रव्यसे आत्मा अलग है, इसलिये अगन्ध है।

२–गन्ध परमाणुका गुण है, उस गन्धके गुणरूप आत्मा नहीं है, इसलिये वह अगन्ध है।

हूँ ऐसा माननेसे परके छूटने पर वह जानना भी छूट जायेगा। अज्ञानी अपनेको परतन्त्र मानता है, किन्तु आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, और जड़ भी स्वतन्त्र वस्तु है, किसीके गुण-पर्याय प्रगट नहीं होते।

जो श्रद्धा अंतरंग आत्मामेंसे उदित हुई सो हुई, उस श्रद्धामें ज्ञानकी पर्याय निर्मल होती है, उस श्रद्धासे स्थिरता होकर फिर वह पूर्ण होता है। यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो बड़ी कठिन परीक्षा है। तब क्या कोई खोटा चढ़ाव करना है? सत्य वस्तुका परिचय और उसका मूल्यांकन तो करता नहीं है और कहता है कि यह तो कठिन प्रतीत होता है। किन्तु भाई! यदि समझनेमें विलम्ब हो तो कोई हानि नहीं, किन्तु यदि उल्टा समझेगा तो कहीं भी अंत नहीं आयेगा। यदि इस समय नहीं समझा तो फिर कब समझेगा?

आत्मा शब्दरहित है. इस सम्बन्धमें छह बातें संक्षेपमें कही जा रही हैं। संस्कृत टीकामें अरस शब्द है, उसकी जगह यहाँ अशब्द लेना चाहिये।

आत्मा वास्तवमें पुद्‌गल द्रव्यसे सर्वथा भिन्न है, इसलिये उसमें शब्द नहीं है। शब्द पुद्‌गल द्रव्यकी पर्याय है, शब्द होनेकी शक्ति पुद्‌गल द्रव्यमें है, आत्मामें नहीं।

पुद्‌गल द्रव्यके गुणोंसे भी आत्मा भिन्न है, इसलिये स्वयं शब्द पर्याय रूप नहीं है; अतः अशब्द है। जब तक आत्मा शरीरमें होता है तब तक उसके पास कर्मके रजकण होते हैं, वे कर्म-रजकण भाषाके बोलनेमें निमित्त होते हैं। भाषा स्वतन्त्र है, वह परमाणुओंकी अवस्था है; वह कानोंमें टक्कर लगाती है, इसलिये जड़ है। भाषा-शब्द संयोग-जन्य हैं, और वह जिस संयोगसे उत्पन्न होते हैं वह आत्मा नहीं हो सकता, इसलिये शब्दमें आत्मा नहीं है, अथवा आत्मा अशब्द है।

प्रश्नः—मन क्या है?

उत्तरः—द्रव्यमन जड़ है, और भावमन ज्ञान है। ज्ञान अपने द्वारा जानता है, किन्तु साथ ही मनका निमित्त होता है। जिस ज्ञानके जाननेमें मनका निमित्त उपस्थिति रूप होता है उसे भावमन कहते हैं, और द्रव्यमन जड़ है जो कि पुद्‌गल परमाणओंसे निर्मित भीतर हृदयमें

और वे उस भाषापर्याप्तिका निमित्त पाकर नवीन रजकण शब्दपर्यायरूप परिणमित होते हैं, इसलिये भाषा जड़ है ।

कोई यह कह सकता है कि यदि भाषा जड़ होकर भी बोल सकती है तो मुर्दा क्यों नहीं बोलता? उसका उत्तर यह है कि मुर्देके पास कर्म नहीं होते। जब जीव शरीरमेंसे निकल जाता है, तब कर्म उस जीवके साथ जाते हैं। कर्मका निमित्त प्राप्त करके रजकण भाषारूप परिणमित होते हैं। वे कर्म मुर्देके पास नहीं हैं इसलिये मुर्दा नहीं बोलता। कर्मका निमित्त प्राप्त करके रजकण भाषारूपमें परिवर्तित होकर निकलते है, इसलिये भाषा (शब्द) जड़ है, किन्तु आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्मा अरूपी है इसलिये आत्मा नही बोलता।

यह भेदज्ञानकी बात है। परका अभिमान दूर हुये बिना यह आंतरिक स्वरूप समझमें नहीं आता। मैं ज्ञाता-द्रष्टा, चैतन्यमूर्ति ज्ञान-घन हूँ, अपने ऐसे अस्तित्वकी प्रतीति न करे तब तक उसमें स्थिर नहीं हो सकता, और जबतक स्थिर नहीं होता तबतक परमानन्द दशा प्रगट नहीं होती, और परमानन्द दशा प्रगट हुए बिना मुक्ति नहीं होती।

परमार्थतः श्रोत्रेन्द्रियके अवलम्बनके बिना आत्मा शब्दको नही जानता; किन्तु आत्माको वास्तवमें कानका अवलम्बन नहीं है; कान जड़ है, कानका स्वामित्व आत्माके नहीं है। कानके अवलम्बनसे ज्ञान करनेका स्वभाव आत्माका नहीं है। श्रोत्रेन्द्रियका अर्थ है कानके भीतरका पर्दा, किन्तु उस पर्देके अवलम्बनसे आत्मा नहीं सुनता इसलिये आत्मा अशब्द है।

आत्मा न तो बहरा है, न गूंगा है, न सुनता है, न बोलता है, वह तो मात्र ज्ञाता है। जो यह मानता है कि आत्मा कानके अवलम्बनसे जानता है वह अपनेको पराधीन मानता है, उसे अपने स्वतन्त्र आत्माके स्वतन्त्र ज्ञानस्वभावकी खबर नहीं है। जैसे अग्नि उष्णताका पिण्ड है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानका पिण्ड है, उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। वह अनन्त स्वभावी आत्मा स्वतः अपने द्वारा जाननेवाला है; वह कानके द्वारा सुनता है, ऐसा मानना सो पराधीनता है। इसलिये आत्मा अशब्द है।

अब, अक्षर सम्बन्धी दोनों बात कही जाती है। शब्दकी ओ
उन्मुख होनेवाला जो ज्ञान अर्थात् जाननेका अल्प विकास है, उस
द्वारा जो शब्द ज्ञात होता है, वह आत्माका वास्तविक स्वभाव नह
है, शब्दको जानने मात्रका विकास ही इतना ही आत्मा नहीं है। ज
आत्मामें केवलज्ञान प्रगट होता है, तब इन्द्रियोंके द्वारा जानना नह
होता। केवलज्ञानीके जड़ इन्द्रियाँ ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं, तथापि
उनके द्वारा जाननेका काम नहीं होता। उस केवलज्ञानमें एक-एक
समयमें अनन्त पदार्थ ज्ञात होते हैं, उन पदार्थोंके अनन्तानन्त स्वभाव
ज्ञात होते हैं, प्रत्येक स्वभावकी अनन्तानन्त पर्यायें ज्ञात होती हैं,
अनन्त भूतकाल और भविष्यकाल ज्ञात होता है। ऐसे अनन्तानन्त
भाव सीधे आत्मासे ज्ञात होते हैं। ऐसी आत्माकी अनन्त सामर्थ्य
प्रत्येक आत्मामें स्वभावरूपसे वर्तमानमें भी पूर्ण है, उससे कम ज्ञानके
अवलम्बन द्वारा जाने इतनासा आत्मा नहीं है। आत्माके पूर्ण स्वभाव-
को जानना सो धर्म है। आत्माके स्वभावको परावलम्बनवाला न
मानना और स्वतन्त्र पूर्ण स्वभाव मानना सो धर्म है। उस पूर्ण स्व-
भावमें स्थिर होना सो धर्म है। धर्म मनसे, वचनसे, शरीरसे या बाह्य-
वस्तुसे नहीं होता किन्तु आत्माका पूर्ण स्वभाव जैसा है, वैसा ही उसे
जाननेसे, श्रद्धान करनेसे और उसमें स्थिर होनेसे पूर्ण पर्याय प्रगट
होती है, वह धर्म है। पूर्ण स्वभावकी श्रद्धाके विना पूर्ण होनेका पुरुषार्थ
नहीं होगा। मैं नित्य निर्मल और ज्ञानानन्द स्वभावसे पूर्ण हूँ, ऐसी
श्रद्धा होनेसे वह पूर्ण पर्याय तक पहुँच जायेगा। किन्तु जिसने पूर्ण
सामर्थ्यको स्वीकार नहीं किया और अपूण शक्तिको स्वीकार किया है
उसके साधक पर्याय भी प्रगट नहीं होगी, और सिद्ध पर्याय भी प्रगट
नहीं होगी।

कहीं नित्य स्वभाव अपूर्ण हो सकता है, अथवा परावलम्वी हो
सकता है? नहीं हो सकता। तीनकाल और तीनलोकमें भी यह स्व-
भाव पराधीन नहीं होता। परिपूर्ण स्वभाव साध्य है, उस साध्यको
लक्षमें लिये विना, ज्ञान किये विना और उसका आन्तरिक आचरण
किये विना पूर्ण स्वभावकी शक्ति प्रगट नहीं होती।

यहाँसे पच्चीस मीलकी दूरी पर एक ग्राम है, और वहाँ जाना है

तो पहले यह सब निश्चित कर लेना होगा कि वह ग्राम कितनी दूर है और वहाँ किस मार्गसे पहुँचा जाता है; और इस निश्चयके बाद उधर चलने लगे तो अपने उद्दिष्ट ग्राममें पहुँच जायेगा। इसी प्रकार आत्माका स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करनेसे उस प्रकारका पुरुषार्थ होता है, आन्तरिक चारित्र प्रगट होता है और पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार इष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती है। आत्मामें परिपूर्ण स्वभाव विद्यमान है वह साध्य है, और उसकी श्रद्धा-ज्ञान एवं चारित्र सो पूर्ण पर्यायके प्रगट करनेका साधन है।

शब्द और रसको जानने मात्रकी ही मेरे ज्ञानकी शक्ति है, इस-प्रकार जो मानता है वह परिपूर्ण अखण्डानन्द स्वभावको नहीं मानता, और उसे माने बिना पुरुषार्थ उदित नहीं होता। अपनेको हीन माना इसलिये पूर्ण पर्यायको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ नहीं बनेगा, और इसलिये पूर्ण पर्याय भी प्रगट नहीं होगी। परन्तु शुभाशुभ परिणाम करके चारों गतियोंमें परिभ्रमण करेगा।

पुण्य पराश्रित भाव है। आत्माका पुण्य-पाप रहित वीतराग स्वभाव है। उसे जाने बिना किसीका स्वतंत्र स्वभाव प्रगट नहीं होगा। वास्तविक ज्ञानके बिना वास्तविक स्थिरता नहीं होगी। 'पूर्णताके लक्षसे जो प्रारम्भ है सो वही वास्तविक प्रारम्भ है।' पूर्ण स्वभावको लक्षमें लिया सो प्रारम्भ हुआ, तत्पश्चात् जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक ज्ञान और ध्यानमें समय लगाता है, तथा स्वभावकी निर्मल पर्यायको बढ़ाता जाता है, और फिर क्रमशः पूर्ण पर्याय हो जाती है।

जिसे आत्माके परिपूर्ण स्वभावकी रुचि नहीं है, और ज्ञान नहीं है, उसे त्रिकालमें भी धर्म नहीं होता। लोग कहते हैं कि चलो धर्म करें किन्तु धर्म कहाँ है यह जाने बिना धर्म नहीं होता। रुपये-पैसेसे धर्म नहीं होता, दो-चार हजार रुपये दान देनेसे भी धर्म नहीं होता, क्योंकि यह तो शुभ परिणाम है, धर्म आत्मामें है, वह रुपये-पैसे या शुभ परिणाममें नहीं है, इसलिये धर्म आत्मासे ही होता है, परन्तु जब तक परिपूर्ण स्वभावको दृष्टिमें न लिया जाये तब तक पुरुषार्थका प्रारम्भ नहीं होगा। अपना स्वभाव क्या है, यह जाने बिना किसीका एक भी भव कम नहीं होता।

सोना स्वयं अपने आप ही पूर्णतया-सौ टंच शुद्ध है, वह जब कुछ

किये जिनके आकार एकसे नहीं होते, ऐसे अनिश्चित आकारवाले अनंत शरीरोंको धरकर भी आत्मा शरीराकार नहीं हुआ।

आत्मा अनन्त शरीरोंमें रहा इसलिये आत्मामें शरीरका आकार आ गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आत्मा चींटीके शरीरमें और हाथीके शरीरमें उतनाका उतना रहता है। वह स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे जितनाका तितना ही है। वह आकाशके अवगाहनकी अपेक्षासे छोटा-बड़ा हुआ मालूम होता है, किंतु ऐसा तो परक्षेत्रकी अपेक्षासे लगता है; एक क्षेत्रकी अपेक्षासे तो आत्मा जितनाका तितना ही है। सौ गजके कपड़ेको घड़ी करके रख दिया जाये तो भी वह सौ गज ही है, और यदि उसे खोल दिया जाये तो भी वह सौ गज ही है, आत्मा छोटा शरीर प्राप्त करे या बड़ा किन्तु उसका निश्चित आकार-असंख्य प्रदेशत्व नहीं मिटता, वह आकाशके अवगाहनसे छोटा-बड़ा मालूम होता है सो व्यवहार है। अनन्त शरीरोंके धारण करने पर भी आत्मा कभी शरीराकार नहीं हुआ।

आत्माने जो वर्तमान शरीर धारण किया है, उस आकाररूपमें वह परिणत नहीं हुआ; यदि आत्मा इसके आकाररूपमें परिणत हो गया हो तो अन्य शरीरके आकारानुसार आत्माके प्रदेशोंका आकार नहीं होगा। जो वर्तमान शरीरके आकारमें हुआ है सो व्यवहार है, इसलिये इस आत्माका क्षेत्र वर्तमानमें शरीर-प्रमाण है। वास्तविक दृष्टिसे आत्मा शरीराकार नहीं हुआ है।

अनादिकालसे जीवोंने अपने स्वक्षेत्रको नहीं जाना, स्वक्षेत्रकी मान्यतामें भूल हुई है, शरीरके क्षेत्रको ही आत्माका क्षेत्र मान लिया है, इसलिये उस भूलको दूर करनेके लिये आचार्यदेवने अनिर्दिष्ट-संस्थानकी बात कही है, कि तू शरीराकार नहीं, किन्तु अपने असंख्य प्रदेशके आकारवाला है।

अब संस्थानकी तीसरी बात कहते हैं। संस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलोंमें ही कहा जाता है, (इसलिये उसके निमित्तसे भी आकार नहीं है) इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आठ कर्मोंमें एक नामकर्म है, जिसकी ९३ प्रकृतियाँ हैं; उनमेंसे एक प्रकृति शरीरका आकार देती है। सबके शरीर एकसे नहीं होते किन्तु उनमें भेद दिखाई देता है, उस कारणभेदसे कार्यमें भेद हुआ है।

ासे पहले परिणाम हुए हैं। इसीके अनुसार प्रकृति बँध जाती है, बके परिणाम एकसे नहीं होते, सबके परिणामोंमें अन्तर होता ही है, सलिये प्रत्येकके परिणामानुसार प्रकृतिबन्ध होता है, और तदनुसार दयमें आता है, इसलिये सबके शरीरोंके आकारमें अन्तर होता है। ह सब अन्तर होनेका कारण नामकर्मकी प्रकृति है। उस नामकर्मका ल पुद्गलमें शरीरमें होता है। संस्थानका अर्थ है आकार; वह ाकाररूप फल शरीरमें होता है।

शास्त्रोंमें छह प्रकारके आकार कहे गये हैं; वे छहों प्रकार पुद्गल- आकारके हैं, अर्थात् शरीरके छह प्रकारके आकारकी वह बात है; न्तु भगवान आत्मामें वह आकार नहीं आता, इसलिये आत्मा ुद्गलके आकारसे रहित है, इसलिये वह निराकार कहलाता है, किन्तु ापने असंख्य प्रदेशके आकारवाला है इसलिये साकार भी है।

जिसे आत्महित करना है, उसे यह ज्ञान करना होगा कि किससे ित होता है, किससे नहीं। आत्माका हित आत्मासे होना है, संयोगी स्तु या संयोगी भावसे नहीं होता। स्त्री, कुटुम्ब, मकान, लक्ष्मी त्यादि संयोगी वस्तु हैं, और जो शुभाशुभभाव होते हैं सो संयोगी ाव हैं इसलिये संयोगी है सो पर है; परसे आत्महित नहीं होता। से मिठास गुड़मेंसे मिलती है अफीममेंसे नहीं, इसीप्रकार हित करना ो तो वह अपनेसे ही होता है। किन्तु जो अपनेसे दूर हो, या अपने- पर हो, उससे नहीं होता। जो अपना स्वतः स्वभाव है, उसीसे हेत होता है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि क्या उस मार्गका ऐसा कोई नेश्चयपत्र है कि अपना स्वरूप जाननेसे ही हित होगा? उससे कहते ैं कि, हाँ, ऐसा ही है। परवस्तु या परभावसे हित होनेकी बात ीनलोक और तीनकालमें नहीं हो सकती। परभाव और परवस्तु पनेसे अलग है, और जो अपनेसे अलग है, उससे हित नहीं होता। ंयोगी वस्तु, संयोगी भाव और असंयोगी आत्मा क्या है? इसे जाने िना सच्चा ज्ञान नहीं होता, और सच्चे ज्ञानके बिना सच्ची श्रद्धा नहीं ोती और सच्ची श्रद्धाके बिना स्थिर होनेका पुरुषार्थ भी नहीं होता।

यहाँ संस्थानकी बात चल रही है. संस्थानका अर्थ है आकार।

आत्मामें जड़का आकार नहीं है, किन्तु अपना ही आकार है। जो वस्तु है उसका आकार तो होता ही है। जड़के जड़का, और आत्माके आत्माका आकार होता है। आत्माने भिन्न-भिन्न प्रकारके अनियत अनन्त शरीर धारण किये तथापि आत्मा तदाकार नहीं हुआ। ना कर्मका फल-आकार शरीरमें आता है, आत्मामें नहीं।

अब चौथी बात कहते हैं। भिन्न-भिन्न संस्थानरूपमें परिणमि समस्त वस्तुओंके स्वरूपके साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदन शक्ति सम्बन्धित (तदाकार) है, ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोकके मिलापसे (सम्बन्धसे) रहित निर्मल अनुभूति हो रही है, और ऐसा होनेसे स्वयं आत्यंतिक संस्थान रहित है, इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसके ज्ञानमें जगतकी समस्त वस्तुओंका जैसा आकार हो वैसा ही ज्ञात होता है। यदि सामने कोई वृक्ष हो और उस पर दृष्टि जाये तो उसी आकारवाला ज्ञान जाननेरूपमें होता है, और यदि सामने कोई मकान हो और उस पर दृष्टि जाये तो उसी आकारका ज्ञान जाननेरूपसे होता है।

प्रश्नः—सामनेकी वस्तुका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें पड़ता है या नहीं?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि चैतन्य अरूपी ज्ञानघन है, और परमाणु-द्रव्य अरूपी है, इसलिये उसका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें नहीं पड़ता। मात्र ज्ञानमें परपदार्थ ज्ञात होते हैं इसलिये उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि प्रतिबिम्ब पड़ता है।

प्रत्येक वस्तुकी वर्तमानमें होनेवाली अवस्था, उसकागुण और वस्तु उस ज्ञानमें ज्ञात होती है। भिन्न-भिन्न आकाररूपमें परिणमित समस्त वस्तु ज्ञानमें ज्ञात होती है, किन्तु ज्ञान उस वस्तुरूप नहीं हो जाता।

स्वाभाविक संवेदनशक्ति अर्थात् जैसी वस्तु सामने है, वैसी वह ज्ञानमें ज्ञात हो जाती है। 'सम्बन्धित' का अर्थ है तदाकार; अर्थात वस्तु जैसी छोटी-बड़ी हो वैसा ही ज्ञात होता है। परका जैसा आकार है, वैसा ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञान परके आकारका नहीं हो जाता।

स्वयं ऐसा होने पर भी समस्त वस्तुओंके मिलापसे रहित है,

अर्थात् ज्ञान परको जानता है, किन्तु पररूप नहीं हो जाता। परवस्तुके ज्ञान करनेका मेल है, किन्तु परवस्तुरूप होनेका मेल नहीं है। किसी चित्रमें छोटे-छोटे अनेक हाथी चित्रित हों तो उन्हें जाननेके लिये ज्ञानको क्षेत्रापेक्षासे छोटा होना पड़े, और साक्षात् हाथी खड़े हों तो उन्हें जाननेमें क्षेत्रापेक्षासे बड़ा होना पड़े ऐसा नहीं है। चैतन्यके ज्ञानगुणमें सामनेकी वस्तुका जितना बड़ा आकार हो उसे जानते समय आत्माको भी उतना बड़ा होना पड़े-ऐसा नियम नहीं है। सभी छोटे-बड़े आकारोंको जाननेका आत्माका स्वभाव है, किन्तु उस आकाररूपसे छोटा-बड़ा होना पड़े ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा स्वयं छोटे क्षेत्रमें हो तो भी बड़ी वस्तुको जान सकता है।

दूसरी बात यह है कि जाननेके लिये राग-द्वेष या अच्छा-बुरा करे तभी ज्ञात हो, ऐसा स्वभाव नहीं है। कोई मनुष्य पर्वतके शिखर पर खड़ा हो तो वहांसे बहुत विशाल क्षेत्र दिखाई देता है; और उसमें अनेक वस्तुएँ दिखाई देती हैं, किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह तत्सम्बन्धी राग-द्वेष करे तो ही वे वस्तुएँ ज्ञात हों, और उस विशाल क्षेत्रके बराबर स्वयं लंबा-चौड़ा हो तभी वह ज्ञात हों।

जैसे कोई मनुष्य फोटो खिचवाता है, तो उसके शरीरके रजकण उसके फोटो या प्लेटमें नहीं पहुँचते। यदि फोटोमें शरीरके रजकण पहुँचते हों तो यदि कोई मनुष्य दो-चार हजार फोटो खिचवाये तो वह सूख जाना चाहिये या मर जाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। उस मनुष्यके शरीरके रजकण उसके फोटोमें नहीं जाते, तथापि वह मनुष्य जैसा होता है वही आकार फोटोमें आ जाता है। तात्पर्य यह है कि फोटोमें सन्मुख वस्तुका आकार नहीं आता, किन्तु फोटोके परमाणु उस आकाररूप परिणमित होकर तदाकार हो जाते हैं।

इसीप्रकार ज्ञान प्रस्तुत पदार्थोंको जानता है, तब वे पदार्थ ज्ञानमें नहीं आते। प्रस्तुत पदार्थ छोटा हो तो ज्ञानको छोटा नहीं होना पड़ता और न परको जानते हुए ज्ञानको पररूप ही होना पड़ता है। ज्ञान ज्ञानमें ज्ञानाकार रहकर सबको जानता है। इसप्रकार समस्त लोकके मिलापसे रहित निर्मल अनुभूति हो रही है। जगतके सभी पदार्थ हैं, उनमेंसे अच्छा-बुरा किसे कहा जाये? बालक, युवक किसे कहा जाये? शरीरके अवयव कोमल हों तो बालक अवस्था है, कठिन और सुदृढ़

हों सो युवावस्था है, और शरीरशक्ति शिथिल हो जाये तथा चमड़ीमें सिकुड़न आ जाये सो वृद्धावस्था है। ज्ञान उन समस्त आकारोंको जानता है किन्तु वह तदाकार नहीं होता।

आत्मा समस्त पदार्थोंके आकारोंको जानता है, तथापि उन पदार्थोंके मिलापसे रहित है, इसप्रकार जो जानता है सो सम्यक्ज्ञान है, किन्तु परको जानने पर मेरा ज्ञान पररूप होता है, और परको लेकर मैं जानता हूँ—ऐसा जो मानता है उसे स्वतन्त्र पन्थकी खबर नहीं है, वह मार्ग तो परतंत्रताका लेता है और मानता है कि हम स्वतन्त्र हैं!

शरीर कोई स्थायी वस्तु नहीं है। यह सब प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि ७०-८० वर्षकी उम्र होने पर शरीर जर्जरित हो जाता है परन्तु जब युवावस्था होती है। तब सुन्दर-सुदृढ़ शरीर होता है। जब युवक होता है तब वह जवानीके नशेमें चूर होता है, और जब वृद्ध होता है तब यह मानता है कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ, मेरे पराधीनता आ गई है; परन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं शरीरके आकारसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मा हूँ। ऐसे अज्ञानीका भवभ्रमण नहीं छूट सकता।

आत्मा स्वयं स्वतंत्र भिन्न वस्तु है। स्त्रीका आत्मा और पुरुषका आत्मा भिन्न भिन्न हैं, मकान आदि सर्व वस्तुएँ अलग हैं, उन वस्तुओंको जानते हुए आत्मा उनके आकारका नहीं हो जाता। जगतके जीव बड़े-बड़े मकान बनवाकर और उन्हें विविध प्रकारसे सजाकर उसकी शोभामें रागसे लीन हो जाते हैं, किन्तु अरे! जीवोंने कहाँसे कहाँ शोभा मान रखी है? वे तो सब जड़के आकार हैं। भगवान आत्मा उन्हें जाननेवाला है। स्त्री, कुटुम्बके आकारोंको जानने मात्रका सम्बन्ध होने पर भी आत्मा कभी परके आकाररूप नहीं होता; जिसे ऐसी स्वतन्त्रताकी खबर नहीं है, वह परतंत्र है।

यहाँ प्रथम छह बातोंमेंसे पहलीमें पुद्गलद्रव्य स्थापित किया है, दूसरीमें पुद्गलका गुण कहा है, तीसरीमें पुद्गलकी पर्याय कही है, चौथीमें जीवकी खंडखंडरूप पर्याय कही है, पांचवीमें जीवका गुण और महानता कही है, और छट्ठीमें जीव द्रव्य भी सदा स्वतंत्र है ऐसा कहा है।

प्रथमोक्तिमें पुद्गल द्रव्यको स्थापित करके यह बताया है कि-जगत-

मतमें एक ही द्रव्य माना गया है, किन्तु यहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल छहों द्रव्योंका कथन करके साथ ही व्यवहार भी बताया है। 'मात्र एक रस वेदना परिणामको प्राप्त करके रसको नहीं चखता' इसमें यह कहा है कि ज्ञान मात्र एक रसको ही जाननेवाला नहीं है। परमार्थ दृष्टिसे किसी भी ज्ञेयमें अटक जाना आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है, इसप्रकार परमार्थ बताया है।

छट्ठे कथनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहकर जगतमें ज्ञेय हैं पर ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात होते हैं, इसप्रकार व्यवहार भी साथमें बताया है। ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात होता है, किन्तु स्वयं ज्ञेयरूप नहीं होता, ऐसा कहकर परमार्थ बताया है।

अनिर्दिष्टसंस्थान अर्थात् जीवको किसी आकारवाला नहीं कहा जा सकता; जो आकार होता है वह तो चैतन्यकी अवस्थाका आकार है, और अवस्थाकी आदि होती है। सिद्धकी अवस्थामें भी चैतन्यके प्रदेशका आकार सादि अनन्त है, इसलिये द्रव्यदृष्टिसे अनादि-अनन्त आत्माको किस आकारका कहना चाहिये यह कुछ नहीं कहा जा सकता। आत्माका आकार असंख्य प्रदेशरूप है, किन्तु वह असंख्यप्रदेशी अनादि-अनन्त आत्मा किस आकारका है यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चार गतिके शरीररूप आत्माके प्रदेशोंका आकार होता है, तथा सिद्ध दशामें प्रदेशोंका जो आकार होता है वह सब पर्यायका है। इसलिये द्रव्यदृष्टिसे आत्मा किस आकारका होता है यह नहीं कहा जा सकता, इसलिये उसे अनिर्दिष्टसंस्थानवाला कहा है।

यहाँ अव्यक्त विशेषण सिद्ध करते हैं। छह द्रव्यस्वरूप लोक जो कि ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिये अव्यक्त है।

यह अव्यक्त विशेषण अलौकिक है। ज्ञेयभूत छह द्रव्यस्वरूप लोक व्यक्त है, और आत्मा अव्यक्त है। जानना, मानना और स्थिर होना इत्यादि अनन्त गुणोंका तत्त्व आत्मा है। एक तरफ लोक है, और दूसरी तरफ स्वयं अकेला है। दूसरे अनन्त आत्मा जातिकी अपेक्षासे एक हैं और संख्याकी अपेक्षासे अलग हैं। एक ओर अनन्त आत्मा, और दूसरी ओर स्वयं अकेला है। अनन्त आत्माओंमें स्वयं आ जाता है, छह द्रव्यमें भी स्वयं आ जाता है, परन्तु आत्मा उनसे

भिन्न है, इसलिये अव्यक्त है। छह द्रव्यस्वरूप लोक आत्मासे वाह्य है, इसलिये आत्मा अव्यक्त है।

समस्त जीवोंसे-आत्मासे परमाणुद्रव्य अनन्तगुने हैं। पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्ति अर्थात् हैं, और काय अर्थात् प्रदेशोंका समूह; इसप्रकार जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय,-पंचास्तिकाय हैं, छठवां द्रव्य काल है वह एक प्रदेशी है, काल द्रव्य स्वतःसिद्ध वस्तु है, वह औपचारिक नहीं है। कालाणु द्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं, वे काल द्रव्य असंख्य हैं, वे कालाणु द्रव्य, चौदहराजु लोकमें विद्यमान हैं। पाँचों द्रव्योंमें जो समय समय पर पर्याय वदलती है, उसमें काल द्रव्य निमित्त है। यद्यपि प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय स्वतः वदलती है, किन्तु काल द्रव्य मात्र निमित्त होता है।

आकाशास्तिकाय द्रव्य है, जो कि लोकमें भी है और अलोकमें भी। यह जीवादि द्रव्योंसे भरा हुआ संग्रहात्मक लोक है, उसके वाद क्या होगा और फिर उसके वाद क्या होगा, इसप्रकार विचार करते करते मात्र खाली स्थान लक्षमें आयेगा, वह अलोकाकाश है। विचार करते करते क्या फिर उस खाली स्थानका भी कहीं अन्त आ सकता है ? नहीं आ सकता। इसलिये वह अलोकाकाश अनन्त है। जो आकाश लोकमें है, उसे लोकाकाश कहते हैं। और जो द्रव्य अलोकमें है उसे अलोकाकाश कहते हैं। वह आकाश द्रव्य लोक और अलोकमें रहता हुआ अखंड एक है, और सर्वव्यापी है।

चौदहराजु लोकमें, एक धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। वह जीव और पुद्गलोंको गति करनेमें उदासीन निमित्त है। जैसे पानीमें चलती हुई मछलीको पानी उदासीन निमित्त होता है, अर्थात् जव मछली पानीमें चलती है तव पानी उसे ढकेलता नहीं है, किन्तु मछली जव चलती है तव पानी उपस्थित होता है, इसलिये उसे निमित्त कहा जाता है। इसीप्रकार जीव और पुद्गलकी गतिमें धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

इसीप्रकार चौदहराजु लोकमें एक अधर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। जव जड़ और चेतन गति करते हुए स्थिर हो जाते हैं तव उनके स्थिर होनेमें अधर्मास्तिकाय उदासीन निमित्तकारण है। जैसे वृक्ष मुसाफिरको

अनुभवमें नहीं है। छह द्रव्यके विकल्पके भेद मुझमें नहीं हैं, इसलिये मैं अव्यक्त हूँ।

लोक छह द्रव्यस्वरूप है, ऐसा कहकर छह द्रव्य बताये हैं, और छह द्रव्य कहकर यह बताया है कि कम-बढ़ नहीं किन्तु छह ही हैं। जो इन छह द्रव्योंको नहीं मानता वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है। और जो यह नहीं मानता है कि इन छह द्रव्योंसे मैं निरपेक्ष तत्त्व अलग हूँ, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आचार्यदेवने छह ही द्रव्य हैं, ऐसा कहकर व्यवहार बताया है, और छह द्रव्य हैं ऐसा स्थापित किया है, इसलिये जो छह द्रव्य नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है। और स्वयं छह द्रव्य स्वरूप नहीं है, ऐसा कहकर निश्चय स्वरूप बताया है-परमार्थ स्वरूप बताया है।

आचार्यदेवने छह द्रव्य, उनके विकल्प, और बंध-मोक्षकी पर्याय आदि सबको ज्ञेय कहा है। छह द्रव्य बाह्य हैं इसलिये व्यक्त हैं, और पर्याय प्रगट होती है इसलिये व्यक्त है, किन्तु आत्मा तो 'है है और है' इसलिये अव्यक्त है।

भङ्गदृष्टि और खण्डदृष्टिको तोड़कर, अखण्डदृष्टिसे अखण्डतत्वकी घोषणा ही मुक्तिका उपाय है। कोई कह सकता है कि जो यह दिखाई देता है, सो क्या उसे भूल जाना चाहिये, और जो नहीं दिखाई देता उसे देखना चाहिये? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि हाँ, अदृश्यको दृश्य करे और दृश्यको भूल जाये तब ही मुक्तिका मार्ग मिल सकता है। हे भाई! तुझे अपने स्वभावसामर्थ्यकी भी खबर न पड़े तो फिर तरनेका उपाय कहाँसे हाथ लगेगा। तेरे स्वभावसामर्थ्यमें छह द्रव्य-स्वरूप लोक ज्ञात होता है, उसमें तेरी स्वतन्त्रशक्तिकी घोषणा है। यदि तुझे वह ज्ञात हो जाये तो शांति और सुख मिले।

जिसने आत्माका स्वतन्त्र स्वभाव नहीं जान पाया वह जगतके किसी भी कार्यसे स्वतन्त्र नहीं हो सकता। किन्तु जिसने यह जान लिया कि मैं आत्मा स्वतन्त्र हूँ, वही उसकी स्वतन्त्रताकी घोषणा है। जिसने आत्माका स्वतन्त्र स्वभाव जान लिया उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि परभावकी उपाधिसे अलग कैसे हुआ जा सकता है।

जैसे दर्पणमें सामनेकी वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तथापि दर्पण उस वस्तुरूप नहीं हो जाता, इसीप्रकार ज्ञानमूर्ति चैतन्य-दर्पण है,

समावेश किया तो उसे अन्तरनिमग्न कहा है। अनन्त पर्यायें गुणमें गुणरूपसे अन्तरनिमग्न हैं।

सुवर्णमेंसे चूड़ी, कंठी, अँगूठी इत्यादि जो भिन्न-भिन्न अवस्थायें होती हैं वे सब सुवर्णमें समाविष्ट हैं। इसीप्रकार चैतन्यके ज्ञानकी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय इत्यादि जो अपूर्ण या पूर्ण निर्मल अवस्थाएँ होती हैं, वह सब सामान्य ज्ञानमें अन्तरभूत हैं। वे अवस्थायें सामान्य स्वभावसे भिन्न नहीं हैं, परन्तु उन पर्यायोंके भेदकी ओरसे देखें तो उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिये अव्यक्त है, समस्त पर्यायें सामान्यमें अन्तरभूत हैं अर्थात् सामान्यरूप हैं, इसलिये आत्मा भिन्न-भिन्न पर्याय जितना ही नहीं है, अतः वह अव्यक्त है।

जैसे पानीकी छोटी-बड़ी तरंगें, पानीमें-सामान्यमें समा जाती हैं, वह सामान्यरूप है, इसीप्रकार आत्मामें जानना चाहिये। आत्मामें ज्ञायकस्वभाव स्थायी रहता है, उस त्रैकालिक ज्ञाता स्वभावमें प्रतिक्षण होनेवाली निर्मल पर्याय समा जाती है, वह प्रतिक्षण होनेवाली प्रगट निर्मल अवस्था सामान्य ज्ञानरूप एकत्रित है इसलिये भिन्न-भिन्न पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिये वह अव्यक्त है।

प्रथमोक्तिमें कहा गया है कि तू अपनेको छहों द्रव्यसे अलग देख तो अज्ञान और राग-द्वेष नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। दूसरीमें कहा है कि कषायोंका समूह जो क्रोध, मान इत्यादि भाव है, उससे अपनेको पृथक् देख, तो राग-द्वेष और अज्ञान नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। तीसरे कथनमें बताया गया है कि सामान्य ज्ञानको देख, अवस्थाको मत देख, तो राग-द्वेष और अज्ञान नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

द्वितीय कथनमें मलिन पर्यायकी बात कही गई है कि तू अपनेको मलिन पर्यायसे अलग देख और तृतीय कथनमें निर्मल पर्यायकी बात है कि जो मति-श्रुत और अवधिकी निर्मल पर्याय होती है, उतना मात्र ही अपनेको मत मान और उस पर्याय पर दृष्टि मत रख। अब अव्यक्तकी चतुर्थ बात कहते हैं। क्षणिक व्यक्ति-मात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है।

तीसरे कथनमें सर्व व्यक्तियोंकी बात कही है और यहाँ चतुर्थ कथन-

तब उपचारसे यह कहा गया कि वे तीर्थंकर भगवानके निमित्तसे तरे हैं। तीर्थंकर भगवान तो सभीके तरनेमें निमित्त थे, तथापि जो अपने उपादानकी तैयारीसे तर गये उनके लिये वे निमित्त हुए कहलाये।

निमित्तका अर्थ उपस्थिति मात्र है। निमित्त किसीका कुछ कर नहीं देता। कार्यके होनेमें जो अनुकूल निमित्त होता है, वह उस कार्यका निमित्त हुआ कहलाता है। जैसे घड़ेके बननेमें कुम्हार अनुकूल निमित्त होता है। मोक्ष पर्यायके प्रगट होनेमें देव-गुरु-शास्त्र अनुकूल निमित्त हैं। यदि निमित्तकी दृष्टिसे देखा जाये तो स्त्री-पुत्रादि रागी निमित्त उस रागके होनेमें निमित्त कहलाते हैं, और जो वीतरागी निमित्त है सो वीतरागताके होनेमें निमित्त कहलाता है, किन्तु यदि कोई रागी निमित्तको देखकर वीतराग भाव करे और वीतरागी निमित्तको देखकर अशुभ भाव करे तो उसमें अपने उपादानका गुण-दोष है,–वीतरागी निमित्तको भी अपने रागका निमित्त बनाया सो यह अपने उपादानका दोष है। तीर्थंकर भगवान तो सबके लिये विद्यमान थे, किन्तु जो अपनी तैयारीसे तर गये उनके लिये वे निमित्त कहलाये।

देव, गुरु और शास्त्र संसार-सागरसे पार होनेके लिये अनुकूल निमित्त हैं। ऐसा निमित्त-उपादान दोनोंका ज्ञान सम्यक्ज्ञानमें आ जाता है। रागी निमित्त है या वीतरागी, इसका विवेक सम्यक्ज्ञानीके होता है। निमित्त तार नहीं देता किन्तु जब स्वतः स्वयं तरता है, तब निमित्त होता है। जब स्वयं तरता है, तब निमित्तका आरोप होता है।

आत्मा छह द्रव्यस्वरूप लोकसे अलग है, इसलिये अव्यक्त है। यदि पृथक् स्वरूपकी प्रतीति करे तो पृथक्में स्थिर हो, यही मोक्षमार्ग है। यदि अपना पृथक् स्वभाव न जाने तो अपने स्वरूपमें स्थिर होनेका पुरुषार्थ न करे और स्थिर होनेके पुरुषार्थके बिना कषायोंका समूह–राग-द्वेष इत्यादि दूर न हो। जो क्रोध, मान इत्यादि होते हैं, उतना मात्र आत्मा नहीं है; किन्तु वह उनके नाशक स्वभावसे परिपूर्ण है। इसप्रकार यह दो बातें हुईं।

तृतीय कथनमें चित्सामान्य अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानगुण लिया है, उस सम्पूर्ण ज्ञानगुणमें जो प्रतिक्षण निर्मल अवस्था होती है, वह ज्ञानगुणसे

अलग नहीं है, किन्तु वह ज्ञानगुणमें अन्तरनिमग्न है, अर्थात् ज्ञानगुणमें ज्ञानकी निर्मल अवस्था समाई हुई है।

जैसे-सोनेमें तांबा मिला दिया जाये और वह तांबा सोनेके साथ चाहे जितने समय तक रहे तो भी वह सोना नहीं होता। वह तांबा सोनेसे अलग हो जाता है तब सोनेकी पीतता-निर्मल अवस्था प्रगट हो जाती है, वह सोनेकी ही अवस्था है, सुवर्णमय ही वह अवस्था है; सोनेमें उसकी निर्मल अवस्था एकरूप है, अलग नहीं है। इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मामें कर्मके निमित्तसे अपनी विपरीततासे विकारी अवस्था क्षण क्षण रहकर भले ही अनन्तकालसे रह रही हो तथापि आत्मा विकारस्वरूप नहीं हो जाता। जो यह विकार है सो मैं नहीं हूँ, मैं आत्मा इस विकाररूप तांबेसे अलग हूँ, इसप्रकार ज्ञानमें विवेक होने पर जो जो निर्मल अवस्था होती है वह उसमें अन्तरनिमग्न है। राग-द्वेषरहित जो निर्मल अवस्था होती है, वह भी चैतन्य सामान्यसे अलग नहीं है, किन्तु सामान्यमें एकरूप है।

चैतन्यमूर्तिका एकरूप जो सामान्य स्वभाव है, उस पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। सामान्य स्वभावकी दृष्टिके बलसे निर्मल पर्याय उस भरे हुए सामान्य स्वभावमेंसे प्रगट होती है; परन्तु अवस्था पर लक्ष देने योग्य नहीं है, क्योंकि राग-द्वेष दूर होकर जो निर्मल पर्यायके भंग होते हैं, उन पर लक्ष देनेसे पर्याय निर्मल नहीं होती। निर्मल पर्याय भी भंगरूप और भेदरूप है, इसलिये उस भंगरूप पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है और राग होनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। मैं क्षणिक पर्याय जितना ही नहीं हूँ, किन्तु सामान्य त्रिकाल एकरूप हूँ, ऐसी दृष्टिके बलसे अस्थिरताको दूर करके स्थिरता प्रगट होती है, निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

यह बात बड़ी अलौकिक है। कुन्दकुन्दाचार्यके सभी ग्रन्थोंमें यह गाथा पाई जाती है। उसमें भी यह जो अव्यक्तका कथन है वह तो अत्यन्त सुन्दर है। यह एक प्रकारसे चैतन्यलक्ष्मीकी पूजा है, किन्तु लोग लक्ष्मी (धन)की पूजा करते हैं, जो कि धूलकी पूजाके समान है। लोग धनकी पूजा करते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि वे यह चाहते

है कि मैं सदा तेरा ([illegible]) दास बना रहूँ, और मुझे ऐसा ही बनाये रखना कि जिससे तेरे बिना मेरा काम ही न चले।

लोग कहा करते हैं कि हे भगवान! हमें नंगा-भूखा मत रखना, इसका अर्थ यह हुआ कि यह शरीर सदा बना रहे, और सदा भूख लगती रहे, तथा रोटियाँ मिलती रहें—इस प्रकार सदा परमुखापेक्षी-पराधीन बना रहूँ। यदि यह प्रतीति करे कि मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा परसे निराला हूँ, और मेरी वस्तु-मेरी स्वरूपलक्ष्मी मेरे ही पास है, परवस्तु मुझे सुखरूप नहीं है, मेरा सुख मुझमें ही है, तो ऐसा विवेक होने पर दूसरेकी आधीनता मिट जाती है।

यहाँ अव्यक्तकी बात चल रही है। यह बात आजकल समाजमें नहीं चल सकती। आजतक कभी भी यह बात लोगोंके कानमें नहीं पहुँची, इसलिये उन्होंने कभी इस पर विचार नहीं किया। क्या कभी किसीको ऐसा स्वप्न भी आया कि मैं चिदानन्द आत्मा मुक्त हो गया हूँ? जिसे जिसका रंग लगा होता है उसे उसीका स्वप्न होता है। व्यापारियोंको व्यापारका रंग लगा है, इसलिये उन्हें व्यापारके स्वप्न आते हैं और जिसे आत्माकी लगन है, उसे ऐसे स्वप्न आते हैं कि मैं चिदानन्दस्वरूपमें रमण करता हुआ मुक्त हो गया।

अेनु स्वप्ने जो दर्शन पामे रे,
तेनु मन न चढ़े बीजे भामे रे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे,
तेने न गमे बीजा केरो संग रे।

मैं आत्मा मुक्त हो गया, सिद्ध हो गया—ऐसा स्वप्न भी यदि आ गया तो फिर उसका मन राग-द्वेष और विषय-कषायकी ओर नहीं जाता। कृष्ण अर्थात् कर्मको कृष करनेवाला जो आत्मा है, उसका लेश मात्र प्रसंग अर्थात् आंशिक प्रगटता भी हो जाये तो फिर उसे दूसरेके संगकी रुचि वा प्रीति नहीं रहती। जो कर्मको कृष करे वह आत्मा स्वयं श्रीकृष्ण भगवान है। कर्मोंको मारकर, जलाकर स्वयं जागृत हो सो स्वयं श्रीकृष्ण भगवान हैं। जैसे श्रीकृष्णका अवतार कंसको मारनेके लिये हुआ था, कहीं कंससे मरनेके लिये नहीं हुआ था, इसी प्रकार

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा स्वयं परसे भिन्न है, ऐसा आत्मानुभव हुआ सो मानो श्रीकृष्णका जन्म हुआ, वह कंस अर्थात् कर्मको नाश करनेके लिये आत्माका जन्म हुआ है।

अब अव्यक्तकी पाँचवीं बात कहते हैं। व्यक्तता और अव्यक्तता दोनों एकत्रित-मिश्रितरूपसे प्रतिभासित होते हुए भी वह मात्र व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता इसलिये अव्यक्त है।

प्रतिक्षण होनेवाली पर्याय व्यक्त, और स्वयं सदा स्थायी ध्रुव आत्मा अव्यक्त है, वह क्षणिक अवस्थाका भी ज्ञान करता है, और त्रैकालिक वस्तुका भी ज्ञान करता है। दोनोंकी साथमें मिश्रता अर्थात् दोनोंका एक साथ ज्ञान होनेपर भी वह केवल व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता (नहीं जानता) इसलिये स्वयं अव्यक्त है।

ज्ञान त्रिकालकी अवस्थाओंको जानता है, और वस्तुको भी जानता है। दोनोंके ज्ञानमें प्रतिभासित होने पर भी मात्र व्यक्त अथवा अवस्थाको ही स्पर्श करता है, ऐसा नहीं है। जिसे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट करनेकी रुचि और पुरुषार्थका बल है वह यह कहता है कि कल ही ज्ञान प्रगट करूंगा, कल ही वीतरागता प्रगट करूंगा (इसका यह अर्थ है कि कल अर्थात् भविष्यमें जो पर्याय प्रगट करनी है वह पर्याय मेरे द्रव्यमें भरी पड़ी है। द्रव्यमें पर्याय भरी हुई है, सो उसका ज्ञान और वर्तमानमें होने वाली अवस्थाका ज्ञान इसप्रकार दोनोंका ज्ञान हुआ। द्रव्यमें पर्याय भरी हुई है, इसलिये द्रव्यका ज्ञान और वर्तमान पर्यायका ज्ञान दोनोंका ज्ञान हुआ। मात्र अवस्थाका ही ज्ञान हुआ हो सो बात नहीं है, किन्तु दोनोंका ज्ञान हुआ।

एक लड़की आटेकी लोई लेकर रोटी बनाना चाहती है, तब उसे पूर्वका ज्ञान होता है, कि मेरी माँ ऐसी रोटी बनाती थी, और अब मुझे ऐसी रोटी करनी है, यह लक्षमें लेकर वर्तमानमें वह लड़की आटेमेंसे लोई लेती है। इसप्रकार उस लड़कीको भी रोटी करते समय पहलेका और भविष्यका—दोनों ज्ञान एक साथ विद्यमान हैं।

इसी प्रकार कुम्हारके भी घड़ा बनानेसे पूर्व घड़ेका ज्ञान होता है कि कल मिट्टीमेंसे घड़ा बनाया था वैसा घड़ा भविष्यमें बनाना है,

अथवा यह घड़ा कल मिट्टीमेंसे बना था अभी उसी प्रकार मिट्टीमेंसे बन रहा है और भविष्यमें भी दूसरी मिट्टीमेंसे घड़ा इसी प्रकार बनेगा, इसप्रकार तीनों कालका ज्ञान एक ही साथ पाया जाता है। कुम्हारने तो घड़ेका ज्ञान ही किया है, किन्तु घड़ेका कर्ता कुम्हार नहीं है। जब मिट्टीका पिंड तैयार होता है तब कुम्हार यह जानता है कि इसमेंसे घड़ा बनेगा, और जब घड़ा बनता है तब वह यह जानता है कि यह घड़ा बन रहा है, किन्तु उसमें उसने कुछ किया नहीं है। मिट्टीके पिंडमेंसे जब घड़ा बननेसे पूर्व विविध आकृतियां बनती हैं तब कुम्हार मात्र उनका ज्ञाता होता है, वह उनका कर्ता नहीं होता। पहले मिट्टीके पिंडका ज्ञान किया, अर्थात् उस कुम्हारने पहले सामान्यका ज्ञान किया, फिर वर्तमानमें होनेवाली पर्यायोंका ज्ञान किया। ध्रौव्यत्वकी सामर्थ्यताका ज्ञान और पर्यायका ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं।

इसी प्रकार जौहरीको हीरेका भाव पहले इतना था, वर्तमानमें इतना है, और भविष्यमें इतना बढ़ेगा, इसकार त्रिकालका ज्ञान एक ही साथ हो जाता है, इसीप्रकार द्रव्य-पर्याय दोनोंका ज्ञान एक ही साथ हो जाता है।

इसप्रकार आत्मा तीनोंकालकी पर्यायोंकी पिंडभूत वस्तुको भी जानता है, तथा वर्तमानमें होनेवाली पर्यायको भी जानता है। ऐसा उसका स्वभाव है, तथापि केवल वर्तमानमें होनेवाली पर्यायको ही स्पर्श नहीं करता इसलिये वह अव्यक्त है।

ज्ञानी जानता है कि जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अवश्य होगा, इस शरीरका जन्म हुआ है सो वियोग जरूर होगा। इसप्रकार संयोग-वियोगका ज्ञान साथ ही होता है। संयोगके समय वियोगका ज्ञान एक ही साथ होता है, इसलिये उसे संयोग-वियोगके समय राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि जैसा जाना था वैसा ही हुआ है, फिर राग-द्वेष कैसा? इसप्रकार सम्यक्ज्ञानीके ज्ञानमें समाधि होती है, और वह समाधिको बढ़ाकर देहत्याग करता है।

ज्ञानी समझता है यह संयोगी वस्तु है इसलिये कभी न कभी अवश्य जायेगी, इसलिये वह जीवनके अन्तिम क्षणोंमें यह समझता है

कि जो यह शरीर जा रहा है सो मेरा नहीं है; जो मेरा है वह जा नहीं सकता; इसलिये उसे संयोगमें राग नहीं होता और वियोगमें द्वेष नहीं होता। इसप्रकार शांतिकी निर्मल पर्यायमें बढ़ते-बढ़ते देहत्याग करता है।

जिसने यह मान रखा है कि जो शरीर है सो मैं हूँ, उसे वियोगके समय द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जिसे शरीरको रखनेका राग है उसे मरण समय द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा। उसे आत्मप्रतीति तो है नहीं, और जो पर सम्बन्धी ज्ञान किया है सो वह सब परोन्मुख होकर किया है, इसलिये परसंयोगके समय राग और वियोगके समय द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा।

जिसने अपने सामान्य चैतन्यस्वभावका, अपनी अवस्थाका और परपदार्थोंका ज्ञान स्वोन्मुख होकर किया है, वह अकेली अवस्थाको स्पर्श नहीं करता। अपने स्वभावकी प्रतीतिमें वर्तमान अवस्थाका ज्ञान, अपने सामान्यका ज्ञान, सामान्य पदार्थकी वर्तमान अवस्थाका ज्ञान, प्रस्तुत पदार्थके भविष्यका ज्ञान अर्थात् उसके सामान्यका ज्ञान—ऐसा अखण्डित ज्ञान करनेवाला मात्र अवस्थाको स्पर्श नहीं करता। जिसे यह प्रतीति है कि मेरा आत्मा सदा रहनेवाला ध्रुव है, वह वस्तु और वस्तुकी अवस्था दोनोंका ज्ञान करता है, किन्तु मात्र अवस्थाका ज्ञान नहीं करता, मात्र अवस्थाका स्पर्श नहीं करता। इसलिये आत्मा अव्यक्त है।

अब अव्यक्तकी छट्ठी बात कही जाती है।

स्वयं अपने आपसे ही बाह्याभ्यंतर स्पष्टतया अनुभूत होता हुआ भी व्यक्तताके प्रति उदासीन भावसे प्रद्योतमान (प्रकाशमान) है, इसलिये अव्यक्त है।

अभ्यंतर अर्थात् स्वयं द्रव्य और बाह्य अर्थात् सर्व बाह्य पदार्थ ज्ञेय हैं। वे सब स्वयं अपनेसे ही प्रत्यक्ष ज्ञात होते है। यहाँ प्रत्यक्ष पर भार दिया है। मन और इन्द्रियोंके अवलम्बनके बिना, स्वयं अपनेसे ही प्रत्यक्ष जानता है। अकेले अन्त:तत्त्वको परिपूर्ण द्रव्य कहा है; उसमें संयोग, निमित्त, विकार, अपूर्ण पर्याय नहीं और निर्मल पर्याय जितना ही द्रव्य नहीं है, मात्र त्रैकालिक सामान्य अंशको द्रव्य कहा है, मात्रपर्यायरूप द्रव्य नहीं है; इसलिये व्यक्तताके प्रति उदासीन है। स्व और पर दोनोंका ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। परका ज्ञान करता है, ऐसा कहना सो व्यवहार है, किन्तु परको जानता है, इसलिये ज्ञानमें

परोक्षता नहीं आ जाती, अंतरंगका और वाहरका ज्ञान स्वयं अपनेसे प्रत्यक्ष ही करता है, उसमें परका निमित्त या परोक्षता नहीं आती। केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है तव प्रत्यक्ष ज्ञात होता है सो वात नहीं है, किन्तु ज्ञान स्वयं स्वतः ही स्वरूपप्रत्यक्ष है, स्वयं स्वतः द्रव्यसे, गुणसे पर्यायसे स्वरूपप्रत्यक्ष हो है। स्व-पर-प्रकाशतासे स्वय प्रत्यक्ष ही है तथापि व्यक्तताके प्रति उदासीन है। वाह्य ज्ञेय और अभ्यंतरमें स्वयं स्पष्ट ज्ञात होता हुआ भी पर्यायके प्रति उदासीन रहता है। यहां अनुभवका अर्थ ज्ञान है।

आत्मामें प्रस्तुत वस्तुका और उसकी पर्यायका ज्ञान होता है, इसी प्रकार अपने आत्माका और पर्यायका ज्ञान होता है। उन सवका प्रत्यक्षरूपसे स्पष्ट ज्ञान होता है तो भी मात्र पर्यायकी व्यक्तताको आत्मा स्पर्श नहीं करता इसलिये वह अव्यक्त है। इसप्रकार छह हेतुओंसे अव्यक्तता सिद्ध की है।

आत्मा पर्यायके प्रति उदासीन प्रकाशमान है। सिद्ध भगवान भी एक समयमें तीनों कालका आनन्द भोग लेते हों तो दूसरे समयमें दूसरी पर्यायका आनन्द कहाँसे भोगेंगे? इसलिये एक समयमें आनन्द गुणकी एक पर्यायका उपभोग होता है, और आनन्दकी जाति एक ही रहकर प्रतिसमय नई नई पर्यायका उपभोग होता है; वह प्रत्येक पर्याय प्रति-समय आत्मामेंसे आती है, अर्थात् प्रत्येक पर्याय द्रव्यरूप है इसलिये उसमेंसे आती है, इसलिये एक पर्यायमें सम्पूर्ण आत्मा नहीं आ जाता, इसलिये आत्मा पर्यायके प्रति उदासीन है।

आत्माका मूल स्वभाव क्या है, मूल शक्ति क्या है, यह जाननेसे आत्माका स्वभाव प्रगट हो जाता है। आत्माका कोई भी गुण वाहर नहीं गया है, इसलिये वाहर दृष्टि डालनेसे आत्माका धर्म प्रगट नहीं होता, किन्तु अंतरंगमें दृष्टि डालनेसे धर्म प्रगट होता है। आत्मामें जो प्रतिक्षण निर्मल अवस्था होती है, उसकी शक्ति द्रव्यमें सदा विद्यमान है। जैसे सोनेकी मलिन अवस्था दूर होकर निर्मल-निर्मल अवस्था होती जाती है, उस एकके वाद एक निर्मल अवस्था होनेकी सम्पूर्ण शक्ति सुवर्णमें सदा विद्यमान है। एक अवस्थाके वाद दूसरी होती है, यदि यह सव शक्ति स्वभावमें न हो तो प्रगट कहाँसे हो? यदि पर्याय होनेकी शक्ति वस्तुमें न हो तो आये कहाँसे? एकके वाद दूसरी

अवस्था होनेकी सम्पूर्ण शक्ति सामान्य स्वभावमें सदा विद्यमान है।

स्थूल दृष्टिवालोंको हीरेका प्रकाश एकरूप ही मालूम होता है, किन्तु उसमें प्रतिक्षण पर्याय बदल करती है। इसीप्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शनादिकी मूर्ति है, उसमें भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। जब मोक्षमार्ग प्रगट होता है, तब अमुक अंशमें निर्मल पर्याय प्रगट होती है, और जब मोक्ष होता है तब सम्पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

मलिन पर्यायको नाश करनेका स्वभाव त्रिकाल ध्रुवरूपसे भीतर आत्मामें विद्यमान है। यदि विकारको दूर करनेका स्वभाव आत्मामें न हो तो उसे दूर करनेका विकल्प ही न आये, किन्तु उसे दूर करनेका भाव होता है और वह दूर हो जाता है, इसलिये उसे टालनेका स्वभाव आत्मामें है। सुख इत्यादि अनंत स्वभाव आत्मामें भरे हुए हैं, पुण्य-पापके क्षणिक विकारमें सम्पूर्ण द्रव्य समा नहीं जाता, उसे दूर करनेका स्वभाव भीतर आत्मामें भरा पड़ा है। राग-द्वेष विकार यद्यपि नहीं चाहिये, तथापि वह आता है, क्योंकि भीतर जो राग-द्वेष रहित वीतराग, निर्विकार स्वभाव भरा हुआ है, उसकी ओर न देखकर उल्टी कुलांट खाई है, इसलिये राग-द्वेपकी अवस्था होती है, और यही पराधीनता है।

लोग कहते हैं कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" किन्तु पराधीनता किसे कहते हैं? क्या नौकरी करना या माँ-बापकी आज्ञामें रहना पराधीनता है? पराधीनताकी इतनी तो परिभाषा है नहीं, किन्तु आत्मा जो कि ज्ञानानंदकी मूर्ति है, उसमें जो राग-द्वेष पुण्य-पापके भाव होते हैं, वही सच्ची पराधीनता है। उस पराधीनतामें सुख नहीं है, इसलिये उसे दूर करूँ और सुख प्रगट करूँ-स्वाधीनता प्रगट करूँ, ऐसे भाव हुआ करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भीतर आत्मामें स्वाधीन स्वभाव भरा हुआ है, उसमेंसे स्वाधीनता प्रगट करूँ।

कुछ लोग कहा करते हैं कि क्या हम पराधीन रहेंगे? इस कथनमें दो बातें हैं,-एक तो वह पराधीन है, और दूसरे पराधीनता दूर करनेकी शक्ति भीतर विद्यमान है।

जैसे किसी प्रतिष्ठित परिवारके व्यक्तिके मनमें अनीतिका कोई विकल्प आता है तो उसे ऐसा विचार आता है कि अरे! मुझे ऐसा

विकल्प आया ? मैं कौन हूँ, मेरा कुटुम्ब-परिवार कैसा प्रतिष्ठित है, मुझ जैसे प्रतिष्ठित परिवारके व्यक्तिको ऐसा विकल्प नहीं उठना चाहिये, मुझे यह विकल्प शोभा नहीं देता, भले ही प्राण चले जायें किन्तु पारिवारिक प्रतिष्ठाको देखते हुए मैं ऐसा नहीं करूंगा। अब यहां यह देखना है कि—उसके अनीतिका भाव उठा तो है किन्तु साथ ही उसे दूर करनेका भाव भी विद्यमान है, वह अनीतिके भावको दूर करके नीतिका भाव सदा रखना चाहता है। अनीतिके भावके समय भी नीतिका भाव विद्यमान है, और अनीतिका भाव दूर करते समय तथा उसके दूर होनेके वाद भी नीतिका भाव विद्यमान है।

इसीप्रकार जिसे अपनी आत्मिक प्रतिष्ठाके स्वभावका जोश चढ़ गया है, उसे भी ऐसा लगता है कि अरे ! मैं कौन हूँ ? मैं सिद्ध भगवानकी जातिका–उनके परिवारका हूँ, मुझमें जो यह राग-द्वेष और पुण्य-पापके परिणाम होते हैं वे मुझे शोभा नहीं देते। मैं तो अशरीरी परमात्माके समान हूँ, जैसे सिद्ध भगवानमें राग-द्वेष नहीं हैं, वैसे ही मेरे आत्मामें राग-द्वेष नहीं हैं, तथापि इस अवस्थामें यह क्या है ? अरे मुझे यह शोभा देता है ? क्या मेरे भीतर यह सब होना चाहिये ? इत्यादि।

अब यहाँ यह देखना है कि—उसके राग-द्वेष होते तो हैं तथापि वह कहता है कि मुझे यह शोभा नहीं देता, अर्थात् राग-द्वेषके होते समय ही उसे दूर कर देनेका स्वभाव है, उसे दूर करनेका स्वभाव जो सदा स्थायी विद्यमान है, उस ओर जानेपर राग-द्वेष दूर होते हैं। राग-द्वेष होते समय भी उन्हें दूर करनेका स्वभाव विद्यमान है, और राग-द्वेषके दूर हो जानेके वाद भी वह स्वभाव बना हुआ है। अर्थात् राग-द्वेषको नाश करनेका स्वभाव त्रिकाल विद्यमान है। क्योंकि वह स्वभाव त्रिकाल विद्यमान है, इसलिये यह राग-द्वेष नहीं चाहिये, यह मुझे शोभा नहीं देते, इन्हें दूर कर दूं—ऐसे भाव त्रिकालस्वभावके अस्तित्वके कारण होते रहते हैं। उस ध्रुव स्वभाव–सामान्य स्वभाव पर दृष्टि डालनेसे स्वभावपर्याय प्रगट होती है, किन्तु पर्याय पर दृष्टि डालनेसे स्वभावपर्याय प्रगट नहीं होती। पर्याय पर दृष्टि डालनेसे राग होते हैं, किन्तु राग-द्वेप कम नहीं होते, किन्तु सामान्य त्रिकाल एकरूप

स्वभाव पर दृष्टि डालनेसे, राग-द्वेष कम होते हैं, और निर्मल पर्याय प्रगट होती हैं।

सत् वस्तुके भीतर जो वन्धनभाव होता है; वह आत्मभाव नहीं है। तत्त्व ऐसा नहीं होता जिसमें पर पदार्थकी आवश्यक्ता पड़े। जिसमें पर पदार्थकी आवश्यक्ता नहीं होती उसीका नाम जीवन है। परमुखापेक्षी जीवन भी कोई जीवन है? स्वतन्त्र जीवन ही सच्चा जीवन है। तव स्वतन्त्र जीवन किसे कहा जाये? जिसमें राग-द्वेपकी पराश्रयताका अंश भी न हो, और जो अपने निजानन्दमें स्थिर रहे वही सच्चा स्वतंत्र जीवन कहलाता है। इसलिये पर पदार्थसे स्वयं सर्वथा भिन्न है, ऐसे पृथक् तत्त्वकी श्रद्धा और ज्ञान करे तो उसमें स्थिरता हो और तभी वह स्वतन्त्र सुखी होगा।

प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, किसी पदार्थकी क्रिया दूसरे किसी पदार्थके आधीन नहीं है। किन्तु अज्ञानीको यह अभिमान हो जाता है कि यह कार्य मैंने किया है। किन्तु यदि विचार करे तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाये कि तूने परका क्या किया है? मात्र जो होता है उसे जाना ही तो है। कलमका लिखनेका स्वभाव है, उसे जाना, और फिर जव उसकी क्रिया होने लगे तव भी जानता है कि इसका यह स्वभाव है, उसीप्रकार क्रिया हो रही है। वढ़ई जानता है कि कील लकड़ीमें ठुक सकती है, पत्थरमें नहीं; सो जिसप्रकार वह जानता है, उसीप्रकार क्रिया होती है, सो वह लकड़ीके स्वभावानुसार क्रिया हुई, उसमें वढ़ईने क्या किया? आठ वर्पकी वालिका भी जानती है कि आटेसे रोटी वनती है, इसप्रकार पहलेसे जाना है, और फिर जव वह रोटी वनी तव भी जाना कि इस आटेमें रोटी वननेका स्वभाव था इसलिये उसमेंसे रोटी वनी है। इसप्रकार जो पहले जाना था वही क्रिया होनेके वाद भी जाना, तो उसमें उसने क्या किया? यहाँ विचार यह करना है कि जो पहले जाना था उसीप्रकार क्रिया होती है, इसप्रकार जाननेवालेके ज्ञानमें जाननेकी क्रिया होती है। किन्तु संयोगी वस्तुसे मैं अलग हूँ, मेरी क्रिया मुझमें और परकी परमें होती रहती है; जिसे इसका भान नहीं होता वह यह मानता है कि जो परके कार्य होते हैं उन्हें मैं करता हूँ अथवा वे मेरे द्वारा होते हैं। इसप्रकार वह अभिमानी होकर फिरता

रहता है। किन्तु हे भाई! इस यथार्थ बातको भी समझ, अनन्तकालकी भूलको मिटानेवाली यह बात है। तूने अभीतक इस बातको नहीं समझा इसलिये पराधीनताके ऐसे दुःख सहन करना पड़े हैं कि जिन्हें देखकर देखनेवालोंको भी रोना आगया। इसलिये अब भी समझ ले! समझनेका यह उत्तम सुयोग प्राप्त हुआ है।

अव्यक्तकी छह बातें कहनेके बाद अब, यह कहते हैं कि आत्माको पहिचाननेका कोई बाह्य चिह्न नहीं है।

इसप्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तताका अभाव होने पर भी स्वसंवेदनके बलसे स्वयं सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमान-गोचरमात्रताके अभावके कारण जीवको अलिंगग्रहण कहा जाता है।

आत्मा रूप, रस, गन्ध, और शब्द इत्यादिसे ज्ञात नहीं होता, क्योंकि आत्मामें वे भाव नहीं हैं। आत्मामें रूप, रस, गन्ध स्पर्श, वाणी और किसी प्रकारसे जड़का आकार भी नहीं है।

प्रश्नः—जब कि आप आत्मामें इन सबका अभाव बतलाते हैं, तब फिर आत्मामें है क्या? और आत्मा किससे पकड़ा जाता है?

उत्तरः—आत्मा स्वसंवेदनके बलसे सदा प्रत्यक्ष है, इसलिये वह उसमें चेतनागुणके द्वारा स्वसंवेदनके बलसे जाना जा सकता है, और उसीसे पकड़ा जा सकता है। आत्मा ज्ञानादि अनन्तगुणोंसे भरा हुआ है। वह अलिंगग्रहण है, अर्थात् किसी बाह्य चिन्हसे नहीं पकड़ा जा सकता।

धुएँसे अग्निका अनुमान किया जाता है, परन्तु आत्मा मात्र अनुमानसे नहीं पकड़ा जा सकता। आत्मा स्वयं स्वतः अपने द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। आत्मा यथार्थतया अनुमानसे अर्थात् सम्यक्-ज्ञानसे पकड़ा जा सकता है, किन्तु वह विकल्प है, इसलिये परोक्ष है।

आत्मामें संस्थान नहीं है, अर्थात् आत्मामें जड़का कोई आकार नहीं है, किन्तु अपना ही अरूपी आकार है। शरीरादि जड़के आकारसे आत्माकी पहिचान नहीं कराई जा सकती, और वह मन वाणी या विकल्पसे पकड़ा या पहिचाना नहीं जा सकता।

मति-श्रुतज्ञानके भेद आत्माको जाननेके लिये होते हैं, परन्तु ऐसे

भेद ज्ञानके मात्र सामान्य स्वभावमें नहीं हैं, इसलिये ऐसे पर्यायके भेदों पर लक्ष देनेसे भी आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता। यहाँ तो मात्र सामान्य स्वभावकी बात कही है, अंतरंगमें आत्माके अकेले स्वानुभवकी बात कही है।

मति-श्रुत ज्ञानके द्वारा आत्मा यथार्थ निःशंकतया जाना जा सकता है किन्तु वह विकल्प सहित है सो परोक्ष है; और स्वानुभव है, सो प्रत्यक्ष है। स्वानुभवके समय मति-श्रुत ज्ञानके पर्याय-भेद विकल्प सहित नहीं होते। मात्र सामान्य ज्ञानमें ऐसे भेद लागू नहीं पड़ते। जो स्वानुभव है सो एकदेश-प्रत्यक्ष है, परंतु केवलज्ञानीके ज्ञानमें तो सब संपूर्णतया प्रत्यक्ष है।

आत्मा अपने अनुभवके निज-रसके बलसे त्रिकाल प्रत्यक्ष है। वह स्वयं अपने स्वसंवेदनके बलसे ज्ञात होता है। वह शब्द इत्यादि किसी बाह्य चिह्नसे नहीं पकड़ा जा सकता, परन्तु अपने अनुभवके वेदनके बलसे पकड़ा जाता है।

आत्माको जाननेके लिये मति-श्रुत ज्ञानके द्वारा अनुमान हो सकता है, किन्तु वह अनुमान परोक्ष है, अपूर्ण है, अधूरा है। सम्यक्-ज्ञानके द्वारा किया गया अनुमान अटकल नहीं किन्तु यथातथ्य है, परंतु वह परोक्ष है और स्वानुभव प्रत्यक्ष है। चैतन्य भगवानकी अद्‌भुत निधि स्वयं स्वतः अपनेमें पहिचानकर स्थिर होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञात होती है। यदि हर्ष-शोकके विकारी वेदनको दूर कर दिया जाये तो आत्मा अपने वेदनसे प्रत्यक्ष है। अखण्डानन्द प्रभु स्वयं अपनेसे जाना जा सकता है, पकड़ा जा सकता है, और अनुभवमें आ सकता है। अन्य किसीसे आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता इसलिये वह अलिंगग्रहण है।

जो जीव अपनेको हर्ष-शोकमें सुखी-दुःखी मानते हैं, और उसमें अपनेपनकी कल्पना करते हैं वे अपनेको निर्माल्य वस्तु मानते हैं। जिसे परवस्तुको देखकर हर्ष होता है उसने यह मान रखा है, कि मेरे आत्मामें कोई शक्ति नहीं है, शांति नहीं है, इसलिये मुझे परके आधारसे सुख प्राप्त करनेकी आवश्यकता होती है। कुछ यह भी तो विचार करना चाहिये कि पराश्रय विकार है या अविकार? सुख है या दुःख? वास्तवमें पराश्रयता दुःख है, विकार है। पराश्रयभाव तीनकाल

तीनलोकमें भी सुख नहीं हो सकता।

जो परवशता सो दुख लक्षण,
निज वश सो सुख कहिये;
यातें ही आतम गुण प्रगटे,
यह सुख क्योंकर कहिये?
भविजन वीर वचन अवलोको।

वीर भगवान सर्वज्ञ प्रभु देवाधिदेव त्रिकालका ज्ञान करके अपनी दिव्यध्वनि द्वारा कहते हैं कि–जो सब परवश है सो दुःखका लक्षण है, पराधीनतासे सुख प्राप्त करनेकी बात सब दुःख है, पराधीनता दुःखका त्रिकाल अबाधित लक्षण है। जो आत्माकी शांतिको भूलकर यह मानता है कि मैं सुखका वेदन करता हूँ, वह सब वास्तवमें दुःख ही है।

स्वयं अपनेको भूलकर बाहरी सोने–चांदी, रुपया-पैसा, स्त्री-पुत्र इत्यादिमें सुख मान रहा है, और उसमें संतोषकी साँस लेकर आनंदानुभव कर रहा है, किन्तु वास्तवमें यह सब दुःख है, उसमें किंचित्मात्र भी सुख नहीं है। जो पराधीनता है सो दुःख है, दुःखका लक्षण है, और जो निजवश है सो सुख है। आत्माको परसे निराला जानकर मनका अवलम्बन छोड़कर स्वाधीनतासे आत्माका जो आंशिक वेदन होता है, सो स्वसंवेदन है, वही आत्माका सुख है, निजवशतामें ही सुख है। शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभ परिणाम इत्यादि किसी भी प्रकारके परावलम्बनसे सुख नहीं होता किन्तु वह पराधीनता है। ऐसी दृष्टिसे स्वरूपमें स्थिर होनेसे स्वभाव-सुख प्रगट होता है। जो कि वचनातीत है, ऐसा श्री वीर भगवानने कहा है।

विकारमें सुख नहीं है, वह तो पराधीनता है। संसारका शोक और हर्ष दोनों एक ही जातिके हैं, दोनों चंडालिनीके पुत्र हैं। विभावरूप विकाररूप चंडालिनीके पुण्य, पाप दो पुत्र हैं। शुभभावमें कषाय मन्द होती है और अशुभभावमें तीव्र। जैसे चंडालिनीके दो पुत्रोंमेंसे एकको जन्मसे ही ब्राह्मणके घर रख दिया जाये और एक अपने ही घर रहे, तो उन दोनोंमें अन्तर मालूम होने लगता है, यद्यपि वे दोनों

चंडालिनीके ही पुत्र हैं। इसीप्रकार शुभभावमें कषाय मन्द, और अशुभभावमें तीव्र होती हैं, किन्तु वे दोनों विकार हैं, चण्डालिनीके ही पुत्र हैं। उनमेंसे शुभ सुखरूप और अशुभ दुःखरूप कैसे हो सकता है? किसी भी प्रकार नहीं हो सकता; क्योंकि दोनोंमें विकारका ही वेदन है। पुण्य और पाप दोनोंका वेदन पराश्रय वेदन है, वह वेदन भगवान आत्माके घरका नहीं है, इसलिये वे चण्डालिनीके पुत्र हैं।

ऐसे पुण्य-पापरहित आत्माका स्वसंवेदन-अनुभव हो सकता है। ऐसा आत्मानुभव चतुर्थ-पंचम गुणस्थानमें गृहस्थाश्रममें भी हो सकता है। अकेले आत्माका स्वानुभवके द्वारा चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें अनुभव किया जा सकता है; अनुभवके द्वारा जाना जा सकता है। जिसके छह खण्डका राज्य हो, छियानवे हजार स्त्रियाँ हों, ९६ करोड़ सेना हो, वत्तीसहजार मुकुटवद्ध राजा जिस पर चमर ढोरते हों, और सोलह हजार देव जिसकी सेवामें रहते हों ऐसे ऋद्धिवान चक्रवर्ति राजाको भी आत्मानुभव हो सकता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मन, वाणी, देह और पुण्य-पापके छिलकोंसे भी भिन्न आत्मा स्वयं अपने वलसे जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, किन्तु वह क्षण क्षणमें नवीन होनेवाले पुण्य-पापके विकल्पोंसे नहीं जाना जा सकता। जैसे सौ टंची सोनेकी आभा देखनी हो तो उसमेंसे ताँवेका भाग निकाल देना चाहिये, इसीप्रकार आत्माके शुद्ध स्वभावका अनुभव करना हो तो उसमेंसे पुण्य-पापके विकल्पोंको दूर कर देना चाहिये; उसके वाद अनुभव करे तो हो सकता है।

जिन जीवोंकी परपदार्थ पर दृष्टि है, वे आत्मस्वभावको भला नहीं मानते और परमें भले-बुरेकी कल्पना किया करते हैं कि काली चमड़ी अच्छी नहीं है, और गोरी चमड़ी अच्छी लगती है; किन्तु शरीरकी चमड़ीको जरा उतारकर देख तो पता लगेगा कि भीतर क्या भरा हुआ है? तू ऐसी चमड़ीसे अपनेको शोभायमान मान रहा है, सो यह तेरी वहुत वड़ी मूढ़ता है। तुझे जव रुपया-पैसा मिलता है तो तू उसमें भला मानकर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु जो अभी रुपया, पैसा मिला है सो वह तो तेरे पूर्वकृत पुण्यका नोट भँज चुका है, उससे वाह्यमें रुपया-पैसा दिखाई दे रहा है। अज्ञानी मानता है कि मुझे

रुपया मिला और ज्ञानी समझता है कि यह मेरा पूर्वकृत पुण्य भँज गया है। एक तो कहता है कि मिला और दूसरा कहता है कि समाप्त हो गया। यदि वर्तमान सम्पत्तिसे तृष्णा कम करे तो पुण्य हो, और रुपये-पैसेके खर्च करनेमें शुभभाव हों तो पुण्यबन्ध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि बारंबार पुण्य करते रहेंगे तो अच्छा भव मिलता रहेगा; किन्तु ऐसा नहीं होता। एकके बाद दूसरा पुण्य लगातार नहीं होता। जैसे चक्कीका पाट घूमता रहता है, उसी प्रकार पुण्यका चक्र घूमकर पापचक्र हो जाता है। भगवान आत्मा पुण्यसे शोभित नहीं होता, किन्तु स्वयं अपने स्वभावसे शोभित होता है। पुण्यसे आत्मा नहीं जाना जा सकता, किन्तु यदि अपने निराले स्वभावकी श्रद्धा करे तो जाना जा सकता है।

भगवान आत्मा स्वयं अपनेसे शोभित हो रहा है। अपनी शोभाके लिये पर वस्तुकी किंचित्मात्र आवश्यकता नहीं होती। व्यवहारी जन वस्त्राभूषण पहिनकर अपनी शोभा मानते हैं किन्तु इससे चैतन्य आत्माकी शोभा नहीं होती। प्रभो! तेरा ऐसा परावलम्बी स्वभाव नहीं है, तू अपनेको पहिचान! स्वसंवेदनके बलसे तेरा स्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। वह किसी बाह्य चिन्हसे ज्ञात नहीं होता, इसलिये आत्मा अलिंगग्रहण है। वह मनसे या रागसे ज्ञात नहीं हो सकता किन्तु अपने स्वसंवेदनके बलसे ज्ञात होता है।

अपने अनुभवमें आने पर चैतन्य गुणके द्वारा सदा अंतरंगमें प्रकाशमान है इसलिये जीव चेतनागुणवाला है। स्वसंवेदनमें जो मैं-मैं प्रतीत हो रहा है वह अंतरंगमें प्रकाशमान निराली, चैतन्य जागृत-ज्योति है, वह स्वयं अनादि अनन्त स्वतःसिद्ध वस्तु है, वह स्वयं ही है, इसलिये अपनी ध्वनि आती है, परन्तु अज्ञानीकी दृष्टि परपदार्थ पर है, इसलिये वह रागमें मैं-मैं का अनुभव करता है। हे प्रभु! तू स्वयं ही त्रिलोकीनाथ है। ऐसे स्वभावको भूलकर जहाँ-तहाँ दृष्टि डालकर भीख मांगना फिरे सो यह तो ऐसा है कि कोई चक्रवर्ती महाराजा भिखारीके घर भीख मांगने जाये।

चैतन्य भगवान आत्मा स्वयं अंतरमें सदा प्रकाशमान है, उसका [illegible] छोड़कर यत्र-तत्र सुखकी याचना करना भिखारीके यहाँ जाकर

मांगनेके समान है। दूसरेको अपना न मानकर जो चैतन्य जागृतज्योति है, वही मैं हूं, ऐसे स्वतन्त्र स्वभावका परिचय करके उसमें स्थिर होना ही मुक्तिका उपाय है।

वह चेतनागुण कैसा है? समस्त विप्रतिपत्तियोंका (जीवको अन्य प्रकारसे माननेरूप झगड़ोंका) नाश करनेवाला है। पहले सदा प्रकाशमान कहकर अस्तिकी दृष्टिसे बताया और अब नाश करनेवाला कहकर नास्तिकी दृष्टिसे बात कही है।

आत्माका चेतनागुण सभी झगड़ोंका नाश करनेवाला है, सर्व विभावोंका नाश करनेवाला है। कुछ लोग कहते हैं कि मोक्षमार्गमें रागकी सहायता है या नहीं? पुण्यकी सहायता है या नहीं, देहकी सहायता है या नहीं, और कषायकी मन्दतासे धर्म होता है या नहीं? ऐसे मोक्षमार्गको अन्य प्रकारसे माननेके सभी झगड़ोंका चेतनागुण नाश करनेवाला है। जानने देखनेके अतिरिक्त जो भाव दिखाई देते हैं, उनका चैतन्यस्वभाव नाश करनेवाला है। चेतनागुण परका अवलंबन करनेवाला नहीं है, किन्तु अपना अवलंबन करने वाला है। यह धर्मकी जीत और पद्धति है। यह मोक्षमार्गकी पद्धति है।

चेतनागुण सर्व विकारोंका नाशक है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सोंप दिया है, अर्थात् धर्मी जीवको ऐसी प्रतीति है कि जो यह ज्ञायक है सो वही मैं हूँ, अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ, इसप्रकार अपने भेदविज्ञानको अपना सर्वस्व सोंप दिया है। आनन्दकन्द चैतन्य-स्वभाव पर दृष्टि जाने पर मैं उस स्वरूप हूँ, और अन्यभाव मुझमें नहीं हैं, इसप्रकार भेदज्ञानके द्वारा अपना सर्वस्व अपनेको सोंप दिया है। अंतरंग भेदज्ञानके विवेकके अतिरिक्त दूसरेको यह खबर नहीं हो सकती। इसप्रकार भेदज्ञानीको अपना सर्वस्व सोंप दिया है। चेतना-गुण कैसा है यह भेदविज्ञानीके अतिरिक्त अन्य किसीको मालूम नहीं हो सकता। चैतन्यका निज स्वभाव अनादि-अनन्त है। चैतन्य प्रकाश अनादि-अनन्त ध्रुवस्वरूप है, उस स्वरूपका निर्णय करे कि जो यह स्वरूप है सो मैं हूँ, और राग-द्वेष हर्ष-शोक इत्यादि जो आकुलितभाव हैं सो मैं नहीं हूँ। इसप्रकार स्वयं स्व-परका विवेक करके अपना स्वयं

सर्वस्व अपने सम्यक्ज्ञानको सौंप दिया है। इस गाथाका भाव अपूर्व है। भगवान त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी निकली हुई दिव्यध्वनि है, अर्थात् परम्परासे समागत आगममें भगवानकी दिव्यध्वनि है। कुन्द-कुन्दाचार्यदेवने बड़ी अद्भुत रचना की है, और उस पर अमृतचन्द्राचार्यदेवने अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है।

और वह चेतनागुण समस्त लोकालोकको ग्रासीभूत करके मानों अत्यंत तृप्त (सुखी) हो इसप्रकार कभी भी किंचित्मात्र भी चलाय-मान नहीं होता, और इसप्रकार कभी भी न चलने तथा अन्य द्रव्यसे असाधारणता होनेसे वह (असाधारण) स्वाभवभूत है।

समस्त लोकालोक आत्माके स्वभावमें ज्ञात हों ऐसा आत्मस्वभाव है। आत्माके ज्ञानमें समस्त लोकालोक समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् ज्ञात हो जाता है। यहाँ ग्रासीभूतका अर्थ यह है कि ज्ञानमें वह लोका-लोक ग्रास (कौर) हो जाता है। जीव अनन्त भवसे अनंत भवके भावोंको जानता आ रहा है, इसलिये उसका ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त भवोंमें आत्मा नित्यरूपसे जहाँ जहाँ गया वहाँ अनंत द्रव्य, क्षेत्र, भव, भावको जाना, तथापि ज्ञानका अभाव नहीं हुआ। जैसे–इस भवके बच-पनसे अभी तकके समस्त भावोंको जानता आरहा है, तथापि कोई भार नहीं हुआ; इसीप्रकार अनंत भवके भावोंको जानता आरहा है, तो भी कोई भार नहीं हुआ, और ज्ञानका अभाव नहीं हुआ; इसी-प्रकार ज्ञानके बिलकुल निर्मल होने पर समस्त लोकालोकको एक ही समयमें जान लेनेका उसका स्वभाव है, समस्त लोकालोक ज्ञानमें ग्रासीभूत हो जाता है। अनंतको जानता हुआ भी ज्ञानका अभाव नहीं होता।

मेरा ज्ञानस्वभाव है, ऐसी प्रतीति करे तो पूर्ण अवस्था प्रगट हो; राग-द्वेषमें न अटके तो पूर्ण अवस्था प्रगट हो, और यदि यह अच्छा है, यह बुरा है–ऐसा मानकर परमें अटक जाये तो समस्त पदार्थोंको नहीं जान सकेगा। किन्तु मैं तो मात्र ज्ञाता हूँ, जानना ही मेरा स्वभाव है। मैं त्रिकालका ज्ञाता राग-द्वेष रहित हूँ, वर्तमानमें भी मैं ऐसा ही हूँ—ऐसी दृष्टि करके स्वभावमें स्थिर हुआ कि वहाँ स्वभावमें अत्यंत तृप्तरूपसे सुखका रंग चढ़ गया। जहाँ परावलम्बी भाव छूटकर स्वावलम्बी भाव प्रगट हुआ कि वहाँ अत्यंत तृप्त हो गया।

हे भाई ! तेरे आत्माका यह काल अच्छा और यह काल बुरा है, ऐसा स्वभाव नहीं है, किन्तु तू मात्र ज्ञाता ही है। तीनकाल और तीनलोकको जाननेका तेरा स्वभाव शक्तिवान है। जानने-देखनेमें तृप्त होने पर कभी भी अंशमात्र भी चलायमान नहीं होता, ऐसा तेरा स्वभाव है, त्रिकालको जाननेवाला ज्ञान अत्यंत तृप्त है, वह अपने स्वभावसे कभी भी चलायमान नहीं होता।

जहाँ मनुष्य खा-पीकर तृप्त होकर बैठे हों उन्हें जगतके जीव तृप्त मानते हैं। चारों ओरकी अनुकूलताओंको देखकर लोग तृप्तिका अनुभव करते हैं, और पर्व-पावन पर सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर तथा विविध प्रकारके व्यंजन उड़ाकर सुख और तृप्ति मानते हैं, परन्तु वह सच्ची तृप्ति नहीं है।

आत्माका जानने-देखनेका स्वभाव है, यदि उसमें स्थिर हो जाये तो ऐसी तृप्ति हो कि फिर कभी चलायमान न हो, और सुखका ऐसा रंग चढ़े कि फिर कभी न उतरे। मोहका रंग तो आकुलतामय है, और यह स्वभावका रंग परम सुखमय है। मोहका रंग नाशवान है और चैतन्य स्वभावका रंग अविनाशी है। ज्ञाता-दृष्टामें ऐसा तृप्त हो जाता है कि फिर कदापि चलायमान नहीं होता। इसप्रकार चलायमान न होनेसे अन्य पदार्थोंके साथ साधारणतया विभक्त नहीं है; परन्तु अन्य पदार्थोंसे असाधारण अर्थात् विशेष है। अन्य पदार्थसे चलायमान नहीं होता, अन्य पदार्थसे साधारण नहीं है, अन्य पदार्थमें विभक्त नहीं है; इसलिये असाधारण है, और इसलिये स्वभावभूत है। जबतक ऐसे आत्माके स्वभावकी श्रद्धा न हो तब तक सत्समागम करके समझनेका प्रयास करना चाहिये। वस्तुस्वभाव अचलायमान है, ऐसे वस्तुस्वभावकी श्रद्धा हो तो फिर स्थिरताका प्रयत्न अवश्य हो, और पूर्ण स्थिरता होने पर अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त हो जाये।

जीव ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप है; जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान आत्मा इस लोकमें एक टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

इस लोकमें आत्मा शक्तिसे भगवान है। सम्यक्‌दर्शन होनेपर

वार तो प्रवेश कर। वाहरके छोटे-वड़े होनेके भावोंको छोड़कर, राग-द्वेपको मूलसे नष्ट कर, भगवान आत्मामें एक वार तो प्रवेश कर। अभी तक परमें लगा हुआ था, और परमें अवगाहन कर रहा था सो उसे छोड़कर ज्ञानमात्र आत्मामें अवगाहन कर। जगतके ऊपर प्रवर्तमान अर्थात् तीनलोकके समस्त पदार्थोंके समूहसे भिन्न तरता हुआ ज्ञान करनेवाला, अविनाशी भगवान आत्मा है, उसका अभ्यास करो! जैसे पानीमें डाला हुआ तेल उसके ऊपर ही ऊपर तैरता है, इसीप्रकार तेरा आत्मस्वभाव राग-द्वेप और जगतके समस्त पदार्थोंके ऊपर तैर रहा है। वह सवका ज्ञान करनेवाला (ज्ञाता) है; किंतु किसीमें मिल जानेवाला नहीं है। ऐसे एक अविनाशी चैतन्यका चैतन्यमें ही अभ्यास करो, अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव करो। यही सुखका उपाय है। सभी भव्यात्मा इस सुखस्वभाव और परसे भिन्न भगवान आत्माका ही अनुभव करो! ऐसा अनुभव-अभ्यास करनेका ही उपदेश है।

चित्शक्तिसे अन्य जो भाव हैं वे अपने नहीं, किन्तु पुद्गल द्रव्य संवंधी हैं। संसारी जीवोंने परद्रव्यको अपना मानकर व्यर्थ ही घूरोंको उखेड़ा है। जैसे कोई साँड घूरे पर जाकर उसे अपने मस्तकसे छिन्न-भिन्न करता है; यदि वह दीवारमें अपना मस्तक मारे तो दीवार नहीं टूट सकती इसलिये घूरेमें मस्तक मारता है, और मानता है कि मैं जीत गया; इसीप्रकार जगतके प्राणी अपने अंतरंगमें विद्यमान अनंत वीर्यको न पहिचानकर जगतके नाशवान पदार्थोंमें ममत्व करके हर्ष मानते हैं कि मैं जीत गया। किन्तु हे भाई! तू उसमें क्या जीता? तूने तो मात्र घूरेको ही उखेड़ा है, साँसारिक वैभव सव पुण्य-पापके घूरे हैं, उनमें व्यर्थ ही मस्तक मारकर वड़प्पन मान रहा है, किन्तु वह तेरा स्वरूप नहीं है वह तो पुद्गल द्रव्यका स्वरूप है।

अव आगे छह गाथाओंमें २९ वातें कही गई हैं। आत्मा उन सवसे अलग वताया गया है। उन २९ वातोंका जो घूरा है, वह आत्मामें नहीं है, यह आगे कहा जायेगा। उन गाथाओंके सूचकरूपमें यह कलश-रूप श्लोक कहते हैं:—

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

अर्थः—जीवमें वर्ण नहीं है, गन्ध भी नहीं है, रस भी नहीं है, स्पर्श भी नहीं है, रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं है, संहनन भी नहीं है; जीवके राग भी नहीं है, द्वेष भी नहीं है, मोह भी विद्यमान नहीं है, प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं हैं, कर्म भी नहीं हैं, और नोकर्म भी उसके नहीं हैं। जीवके वर्ग नहीं हैं, वर्गणा नहीं हैं, कोई स्पर्द्धक भी नहीं हैं, अध्यात्मस्थान भी नहीं हैं, और अनुभागस्थान भी नहीं हैं; जीवके कोई योगस्थान भी नहीं हैं अथवा वन्धस्थान भी नहीं हैं, और उदयस्थान भी नहीं हैं, कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं, जीवके स्थितिवन्धस्थान भी नहीं हैं, अथवा संक्लेशस्थान भी नहीं हैं, विशुद्धस्थान भी नहीं हैं, अथवा संयमलब्धिस्थान भी नहीं हैं; और जीवके जीवस्थान भी नहीं हैं, अथवा गुणस्थान भी नहीं हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं।

जो काला, पीला, हरा, लाल, सफेद वर्ण है, सो सब जीवके नहीं हैं, क्योंकि वे सभी पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे अपनी अनुभूतिसे भिन्न हैं। भगवान आत्मामें किसी भी प्रकारका काला, पीला, हरा, सफेद

और काल रंग नहीं है, रंग आत्माका स्वभाव नहीं है। यह सब पुद्गलकी अवस्थाएं हैं, उन रंगस्वरूप आत्मा नहीं है। आत्मा अग्निकी ज्योति जैसा नहीं है; अग्नि तो रूपी है, रंगवाली है, और आत्मा अरूपी है, अरंगी है। जो बाह्य प्रकाश होता है, उसे लोग आत्मज्योति कहते हैं, किन्तु वह आत्माकी ज्योति नहीं है। आत्माकी तो ज्ञान-ज्योति है, किन्तु स्वयं कल्पना करके भूल करता है कि मैं ऐसे रंगका हूं, किन्तु आत्मा वैसा नहीं है। वे पाँचों रंग आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं, अलग हैं। भगवान आत्मा किसी भी कालमें रंगवाला नहीं है;-पाँचों रंग पुद्गलकी पर्याय होनेसे जड़ हैं। उनसे आत्माकी अनुभूति भिन्न है. इसलिये रंग आत्मामें नहीं है।

आचार्यदेवने जो यह २९ बातें कही हैं सो ये सब व्यावहारिक हैं, वह सब व्यवहार है अवश्य। पहली बातमें-पुद्गलद्रव्य है, उसमें वर्ण, गंध, रस स्पर्श सब हैं, किन्तु वे आत्मामें नहीं हैं, लेकिन वे सब जगतमें हैं। यदि कोई यह माने कि वे सब वस्तुएँ जगतमें ही नहीं हैं तो वह महामिथ्यात्वी है। आचार्यदेवने यहाँ पुद्गलपरिणाम कहे हैं सो उसमें पुद्गलमें परिणमन स्थापित किया है, और यह बताया है कि पुद्गल कूटस्थ नहीं है। जीव कहकर जीव और आत्मा अलग नहीं, किन्तु एक हैं, यह सिद्ध किया है, क्योंकि एक मत जीव और आत्माको भिन्न मानता है। पुद्गल है अवश्य किन्तु जीव उससे भिन्न है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

सुरभि अर्थात् सुगन्ध और दुरभि अर्थात् दुर्गन्ध भी आत्माके नहीं है, क्योंकि गंध परमाणुओंकी अवस्था है, इसलिये वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है। सुगन्ध या दुर्गन्ध पुद्गलकी पर्यायें हैं, आत्मामें सुगन्ध-दुर्गन्ध कुछ भी नहीं है। आत्मा रंग और गन्धसे अलग है, ऐसे आत्माकी अनुभूति करो! ऐसे आत्मस्वभावमें रमणता करो! जैसे भगवान महावीरका आत्मा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शयुक्त शरीरसे रहित है, वैसा ही प्रत्येक आत्माका स्वभाव है। उस स्वभावको पहिचानकर उसमें स्थिर होकर तू भी वैसा ही हो जा।

पुद्गल द्रव्यमें पांच प्रकारके रस हैं,-कडुवा, कषैला, चरपरा, खट्टा और मीठा। यह पाँचों रस आत्मामें नहीं हैं, क्योंकि वे रज-

है, पाँचों शरीरोंका कर्ता आत्मा नहीं है। शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म हो ऐसा नहीं है। शरीर त्रिकालमें भी आत्माकी सहायता नहीं करता। तेरी मुक्तिका मार्ग तुझमें ही विद्यमान है, किसी बाह्य या परकी शरण लेनेकी आवश्यक्ता नहीं है। उसकी ही श्रद्धा कर, यही मुक्तिका मार्ग है।

आज नूतनवर्ष प्रारम्भ हो रहा है। अब समयसारका सुप्रभात नामक कलश कहते हैं:—

(वसंततिलका)

चित्पिडचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ २६८ ॥

अर्थ:—जो चैतन्यपिंडके निरर्गल विलासके विकासरूपसे खिलता है, (चैतन्यपुंजके अत्यन्त विकासका होना ही जिसका विकसित होना है,) जो शुद्ध प्रकाशकी अतिशयताके कारण सुप्रभात समान है, जिसका सदा आनन्दमें सुस्थित, अस्खलित एकरूप है और जिसकी अचल ज्योति है—ऐसा यह आत्मा उसीके उदित होता है,—जो पुरुष पूर्वोक्त रीतिसे इस भूमिकाका आश्रय लेता है।

सुप्रभात अर्थात् केवलज्ञानका प्रकाश। जो केवलज्ञानका प्रकाश आत्मामें उदित हुआ वह कभी अस्त नहीं होता उसे सुप्रभात कहते हैं। प्रभात तो बहुतसे उदित होते हैं, किन्तु जिस प्रभातके उदित होनेसे आत्माका प्रकाश हो और वह कभी अस्त न हो, वही वास्तविक सुप्रभात है। संसारका सूर्य तो प्रातःकाल उदय होता है, और सायंकाल अस्त हो जाता है, किन्तु इस आत्माका केवलज्ञान सूर्य उदय हुआ सो हुआ फिर कभी अस्त नहीं होता, उसको सुप्रभात कहते हैं, इसीका नाम सच्चा प्रभात उदित हुआ कहलाता है।

जो आत्मप्रतीतिसे अपने पुरुषार्थके द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कराये सो सुमंगळ है। निर्मल सम्यक्‌दर्शन, निर्मल सम्यक्ज्ञान और निर्मल सम्यक्‌चारित्र गुणकी निर्मल पर्याय प्रगट हो सो पवित्र पर्याय है, पवित्र भाव है। उस पवित्र पर्यायके प्रगट होने पर राग-द्वेषकी अपवित्र

पर्यायका नाश होता है सो मंगल है। आत्मामें तीनकाल और तीन-लोकमें भी रागका एक अंशमात्र भी नहीं है, ऐसी प्रतीति केवलज्ञान प्राप्त कराती है। जो राग-द्वेषको गला दे और केवलज्ञान प्राप्त कराये सो ऐसा सम्यक्ज्ञान स्वयं मांगलिक है।

इस कलशमें आचार्यदेवने सुप्रभातका वर्णन किया है। इसमें चार बातें कही हैं। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तवीर्य —यह अनन्तचतुष्टय प्रगट हो, सो यही सुप्रभात मंगल है।

जब भगवानके अनन्तचतुष्टय प्रगट होता है, तब समस्त लोकमें प्रकाश होता है, नारकी जीवोंको भी दो घड़ीके लिये शांति हो जाती है। जब तीर्थंकरदेव केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय जगतके जीवोंके साताका उदय होता है, ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। अनन्तचतुष्टय स्वयं प्रगट करते हैं और अपने पुरुषार्थके द्वारा स्वयं ही कल्याणपदको प्राप्त करते हैं उसीके साथ तीर्थंकरदेवके ऐसे सर्वोत्कृष्ट पुण्यका योग होता है, कि जिससे जिन्हें आत्मस्वरूपकी खबर नहीं है, उन जीवोंके भी असाता दूर होकर दो घड़ीके लिये साता हो जाती है, उन जीवोंके पुण्योदयका और तीर्थंकर भगवानके केवलज्ञानके साथके सर्वोत्कृष्ट पुण्यातिशयका निमित्त–नैमित्तिक संबंध है। समस्त लोकमें प्रकाश होनेकी परमाणुओंकी योग्यताका और भगवानके केवल-ज्ञानके समयके पुण्यातिशयका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञानसे परिपूर्ण हैं, स्वयं ही अनन्तज्ञानसे परिपूर्ण है।–ऐसे आत्माकी स्वयं प्रतीति करे और ज्ञान करे तो उसे अनुक्रमसे स्वरूपस्थिरता (चारित्र) होकर राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होता है। ज्ञान स्वयं समाधानस्वरूप है। ज्ञान चाहे जैसे संयोगोंका समाधान करता है और निष्कर्ष निकालता है। वह ज्ञान स्वरूपमें स्थिर हुआ कि राग नष्ट हो जाता है, यह चारित्र अंतरंगकी क्रिया है।

अनुकूलता या प्रतिकूलताके संयोग तो ज्योंके त्यों बने रहते हैं; किन्तु ज्ञाता ऐसा समाधान करता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, जानना ही मेरा स्वभाव है, यह संयोग मुझ ज्ञायकको कोई सुख–दुःख नहीं दे सकते। ऐसा करनेसे राग-द्वेषका अभाव और शांति होती है, क्योंकि

ज्ञान स्वयं ही शांतिस्वरूप है। ज्ञान ज्ञानमें रहकर समाधान करता है, तब शांति साथमें ही आती है।

यदि ज्ञान समाधान न करे तो राग-द्वेषकी कल्पना करता है कि यह संयोग मुझे दुःख या सुख देते हैं, इस प्रकार अन्य पर दृष्टि रखकर सुख-दुःखकी कल्पना किया करता है। ज्ञान या तो समाधान करता है या राग-द्वेषकी कल्पना करता है; इसके अतिरिक्त ज्ञान दूसरा कुछ भी नहीं करता।

ज्ञान समाधान करके अपनेमें स्थिर हो सो यही ज्ञानकी क्रिया है, ज्ञान परकी क्रिया नहीं कर सकता। वह स्वयं समझता है कि मैं एक ज्ञातास्वरूप ही हूँ। जाननेवालेका अर्थ है ज्ञान; ज्ञान स्वयं दुःख स्वरूप नहीं होता। यदि ज्ञान स्वयं दुःखरूप हो तो फिर दुःखको दूर करनेका उपाय ही कहाँ रहा। अर्थात् ज्ञान स्वयं समाधान पूर्वक राग-द्वेषमें युक्त न हो सो यही चारित्र है, और यही ज्ञानकी क्रिया है, तथा यही ज्ञान और क्रियाका समन्वय (मेल) है; यही स्याद्वाद है।

अन्तर ज्ञानकी स्थिरता रूप क्रिया ही चारित्र है, जड़की क्रियासे चारित्र नहीं होता। चारित्र आत्माका गुण है, इसलिये आत्माका गुण चैतन्यकी क्रियासे प्रगट होगा, कि जड़की क्रियासे? जड़की क्रियासे आत्माका चारित्र तीनकाल तीनलोकमें प्रगट नहीं हो सकता।

जो पुरुष इस भूमिकाका आश्रय लेते हैं, और जो उपरोक्तानुसार ज्ञान तथा चारित्रकी मैत्री जैसी कही गई उसे यथावत् समझते हैं, उन्हींके चैतन्यपिंडका निरर्गल विलसित, विकास होता है।

वस्तु, वस्तुका गुण और वस्तुकी कारणरूप पर्याय—जो तीनों काल अप्रगट शक्तिरूप है वह अनादि अनन्त निर्मल है; तीनों मिलकर अखण्ड एक वस्तु है। इसप्रकार दृष्टिका विषय पहले किया था, जिसके फलस्वरूप केवलज्ञानीके अनन्त दर्शन प्रगट हुआ। इस कलशमें पहले दर्शनकी बात कही है, इसीमें केवली भगवानके अनन्तचतुष्टयका भी समावेश है।

धर्मास्तिकाय उसका गुण, और उसकी पर्याय, त्रिकाल निर्मल हैं। इसीप्रकार मैं भी द्रव्य-गुण-पर्यायसे परिपूर्ण वस्तु हूँ। आत्मा वस्तु,

उसके ज्ञानादि गुण, और उसकी कारणपर्याय, त्रिकाल निर्मल है। आत्मा द्रव्य–गुण–पर्यायसे अनादि अनन्त परिपूर्ण वस्तु है; उसमें विकार नहीं है, शरीर नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, अनन्त गुणका पिंड आत्मा पवित्र है, उसकी श्रद्धाके बलसे अनन्तदर्शन प्रगट होता है।

यह सुप्रभात मांगलिक है; श्रीमद् राजचन्द्रजीने भी कहा है कि रात्रि व्यतीत हो गई प्रभात हुआ निद्रासे जागृत हुए, अब मोह-निद्रा टालनेका प्रयत्न करो। निद्रासे मुक्त होनेके लिये भाव निद्राको दूर करनेका प्रयत्न करो। भाव रात्रि दूर होकर आत्माका प्रकाश हो ऐसा प्रयत्न करो।

आचार्यदेव कहते हैं कि पहले आत्माका विश्वास जमना चाहिये। जैसे परमें विश्वास जमा रखा है, उसीप्रकार प्रतीतिके विषयमें आनेवाले अखण्ड आत्माका विश्वास करे तो उसके फलस्वरूप अनन्तदर्शन प्राप्त हो।

इस कलशमें आचार्यदेवने कहा है कि—चैतन्य पिंडके निरर्गल, विलसित, विकासरूप जो खिलता है, अर्थात् जिसने अखण्ड चैतन्यको प्रतीतिमें लिया, उसे निरर्गल अर्थात् बीचमें कोई रुकावट या विघ्न नहीं है; जिस स्वरूपको प्रतीतिमें लिया है, ज्ञानमें लिया है, उस स्वरूपको अब निर्विघ्नतया पूर्ण करेगा, केवलज्ञान प्रगट करेगा, उसे बीचमें कहीं कोई विघ्न है ही नहीं। अनन्तकालसे जो परावलम्बी-दृष्टिथी उसे स्वावलम्बी किया, स्वाश्रय किया, उससे अनन्तदर्शनका प्रकाश प्रगट होगा।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे कमलकी कली खिल उठती है उसी प्रकार सम्यक् प्रतीतिसे अखण्ड आत्माका विषय किया सो उस प्रतीतिके बलसे अनन्त दर्शन विकसित होता है—खिल उठता है। प्रतीति होनेके पश्चात् आत्माकी अनन्त शक्ति प्रगट होते होते पूर्णतया प्रकाशित हो जाती है। वह आत्माका सादि-अनन्त सम्पूर्ण विकास है।

इसके बाद कहा है कि शुद्ध प्रकाशकी अतिशयताको लेकर वह सुप्रभात समान है। पहले दर्शनको लिया है, और फिर ज्ञानको लिया है। चैतन्यप्रकाश जगमग–जगमग करता हुआ प्रकाशित होता है। सूर्यको न तो अपने प्रकाशकी खबर होती है, और न दूसरेके प्रकाशकी। किन्तु

चैतन्य ज्ञान प्रकाशको जानता है और अन्य–सूर्यादिके प्रकाशको जानता है। सर्व प्रकाशका प्रकाशक आत्मा स्वयं है।

जिसने सत्समागमसे सम्यक्ज्ञानके द्वारा आत्माकी भूमिकाका आश्रय लिया है। उसके निर्मल केवलज्ञान प्रकाशका सुप्रभात खिल उठता है। जहाँ सम्यक्ज्ञानने आत्मभूमिकाका आश्रय लिया वहाँ सुप्रभात विकसित हो गया, और क्रमशः उसमें पुरुषार्थसे बढ़ते–बढ़ते सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रकाश विस्तरित हो जाता है, वह सादि-अनन्त सुप्रभात है। उस सुप्रभातका कभी भी नाश नहीं होता। आजसे लगभग एक हजार वर्ष पूर्व श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने इस सुप्रभात कलशकी रचना की थी।

जिसका आनन्दमें सुस्थित सदा अस्खलित एकरूप है ऐसे आनन्द स्वरूप आत्माको लक्षमें लिया, उसकी प्रतीति की और उसमें स्थिर हुआ कि केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

आत्म स्वरूपकी श्रद्धा को, ज्ञान किया और उसमें स्थिर हुआ, सो अनन्त आनन्द प्रगट हो गया, अनन्त स्वचतुष्टय प्रगट हो गया, उसमें कोई किसी प्रकारका विघ्न नहीं कर सकता। जहाँ अपने स्व-स्वभावका आश्रय किया कि वहाँ अनन्त आनन्द प्रगट हो गया। वह आनन्द सदा अस्खलित है, एकरूप है। बाह्यानन्द सदा एकरूप नहीं है, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है, नष्ट हो जाता है, विकारी है, और आकुलतामय है।

चैतन्यके अखण्ड स्वभावका अवलम्बन करके जो आनन्द प्रगट हुआ वह अनन्त काल तक रहनेवाला है, वह कभी न बदलनेवाला सदा एकरूप है, निराकुल, निर्विकार, अस्खलित है, जो अंतरंग स्वभावमें था वही प्रगट हुआ है, और जो अस्खलित आनन्द प्रगट हुआ है वही सच्चा सुप्रभात है।

जो आत्मज्योति प्रगट हुई है, वह अचल है, उस केवलज्ञान ज्योतिका कभी नाश नहीं होता। जैसे रत्नदीपककी ज्योति पवनके झोंकेसे कभी नहीं हिलती उसीप्रकार जो आत्मज्योति प्रगट हुई है, वह सदा अकम्प रहती है। अग्नि, दीपककी ज्योति हवासे बुझ जाती

है, परन्तु आत्मज्योति प्रगट होने पर न तो हिलती है, न बुझती है, वह सदा अचल है।

महासंवर्तक वायुसे भी मेरुपर्वत नहीं हिलता, इसी प्रकार जिसने आत्माका आश्रय ग्रहण करके मेरुकी भाँति अचल केवलज्ञान–ज्योति प्रगट की है, वह किसी भी प्रवलतम कारणसे चलायमान नहीं होती क्योंकि वह अनन्त बलको लेकर प्रगट हुई है। इस कथनमें बलका निरूपण किया है।

आत्माका आश्रय लेनेसे अचल ज्योति प्रगट होती है,–उदयको प्राप्त होती है। वह आत्मा उदित हुआ सो हुआ, वह फिर अस्त नहीं होता। आत्म-प्रतीति करके उदित होनेवाला सुप्रभात है। आत्म-प्रतीतिके प्रगट होने पर उसमेंसे केवलज्ञान अवश्य प्रगट होता है। जहाँ वह केवलज्योति प्रगट हुई सो वह सुप्रभात है।

सम्यक्दर्शन होने पर आनन्द गुणकी आंशिक पर्याय प्रगट होती है, और चारित्रके होने पर विशेष प्रगट होती है। आनन्द गुण तो सुखगुणरूप ही है, किंतु वह सुखगुणकी पर्याय सम्यक्दर्शन होने पर भी प्रगट होती है और चारित्रके होनेपर भी प्रगट होती है। आत्माका यथार्थ परिचय करके, उसकी प्रतीति करके, स्थिर होनेसे अनंतानुबन्धी कषायके दूर होने पर आंशिक स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। आत्मा अनंतगुणोंका पिंड है उसमें बारंबार लक्ष करके स्थिर होनेसे विशेष स्वरूपरमणताके प्रगट होनेसे, पाँचवाँ, छट्ठा और सातवाँ गुण-स्थान प्रगट होता है, और क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है, उस समय आत्माकी पर्यायमें जो संपूर्णतया आनंद प्रगट होता है, सो वही सच्चा सुप्रभात है।

केवलज्ञानकी ज्योतिको लेकर आत्मा उदित होता है, वह केवल-ज्ञानज्योति आत्माकी प्रतीतिसे प्रगट होती है। सत्-समागमके बिना और आत्मविचारके बिना केवलज्ञानका उदय नहीं हो सकता; और आत्मप्रतीतिके बिना केवलज्ञानका उदय नहीं होता। और जब केवल-ज्ञानका उदय होता है सो वह सुप्रभात है। पद्मनंदि पंचविंशतिकामें भी सुप्रभातका एक अधिकार है, उसकी पहली गाथा इसप्रकार है—

निश्शेषावरणद्वयस्थिति निशाप्रान्तेन्तरायक्षयो
द्योते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरतः ।
सम्यग्ज्ञानदृक्षियुग्ममभितो विस्फारितं यत्र त
ल्लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥ १ ॥

अर्थः—दोनों निःशेषावरण, अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी जो स्थिति है, सो वह रात्रि है, उसका तथा अंतरायकर्मका नाश होने पर प्रकाश होनेसे और मोहनीयकर्मके द्वारा होनेवाली निद्राके भारसे शीघ्र ही दूर होनेसे, जो सुप्रभातमें सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञानरूपी, दोनों नेत्र उन्मीलित हुए (खुले) उस अचल सुप्रभातको जिन मुनियोंने प्राप्त कर लिया है, उन मुनियोंके प्रति हमारा नमस्कार है।

रात्रिका अंत होने पर प्रभात उदित होता है, इसीप्रकार भगवान आत्मा निर्मल ज्ञान-दर्शनमय है, उसमें दर्शनावरण, ज्ञानावरणरूपी रात्रिके अंधकारका जिसने अंत किया है, और स्वयं चैतन्यज्ञान स्वभावको प्रगट करके उस आवरणको हटा कर सूर्योदय किया है, वह सुप्रभात है।

जैसे एक ओरसे जलते हुए कंडेको किसी टोकरीसे ढँक दिया जाये तो वास्तवमें वह अग्नि ढँकी नहीं है, किन्तु उस टोकरी तक उसकी लौ नहीं पहुँचती, इसलिये वह ढँकी हुई कहलाती है, वास्तवमें तो वह अग्नि ढँकी नहीं है, इसलिये वह धीरे धीरे बढ़ती जाती है, और सारा कंडा प्रज्वलित होकर वह टोकरी भी जल जाती है। इसीप्रकार आत्माका संपूर्ण स्वभाव प्रगट नहीं हुआ, किन्तु संपूर्ण स्वभावकी प्रतीति हुई है, जिससे उसका एक कोना प्रगट हुआ कहलाता है। इसप्रकार चैतन्यका अल्प प्रकाश प्रगट होने पर उसमें एकाग्रता करके संपूर्ण प्रकाश या ज्वाला प्रगट होने पर ज्ञानावरणीय आदि कर्म भस्म हो जाते हैं।

जब तक आत्मा जागृत नहीं हुआ, तब तक निमित्त रूपसे आवरण कहलाता है, वास्तवमें कर्मोंने उसे हीन नहीं किया है किन्तु स्वयं अपनी शक्तिको स्वीकार नहीं किया इसलिये स्वयं अपना परिणमन कम कर रखा है, किंतु जब चैतन्यका जाज्वल्यमान प्रकाश प्रगट होता है, तब ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयरूपी रात्रिका नाश करके केवलज्ञान-केवल-

नमस्कार करता है, और अपनेको धन्य धन्य मानता है। इसमें अभिमान नहीं, किन्तु अपने आत्माके स्वभावका अपूर्व महात्म्य है, और पूर्ण दशा प्रगट करनेकी भावना है, इसलिये स्वाभाविक नमस्कार हो जाता है। अपने स्वभावकी पर्याय प्रगट हुई सो उसे धन्य धन्य कहता है।

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग शुं,
भंग न पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,
वीजो मनमन्दिर आणुं नहिं,
अे अम कुलवट रीत जिनेश्वर ॥ धर्म० ॥

आनन्दघनजी महाराज धर्मजिनेश्वर भगवानके गुणगान करते हुए अपने आत्माके ही गुणगान कर रहे हैं, अपने आत्मस्वभावका ही स्तवन कर रहे हैं। बाहरसे तो धर्मनाथ भगवानकी स्तुति कर रहे हैं किन्तु भीतरसे धर्ममूर्ति-स्वयं अपने आत्माकी स्तुति करते हैं।

हे धर्ममूर्ति! जिसमें अपार गुण भरे हुए हैं, ऐसे आत्माके गुण-गान रुचि रंग पूर्वक गानेके लिये तत्पर हुआ हूँ, हे वीतराग! हे आत्मन्! तेरी प्रीत, तेरी रुचि और तेरी प्रतीतिमें जो मैं आत्माके गुणगान करने निकला हूँ उसमें भंग न पड़े–विघ्न न आये, त्रिकालमें भी कोई बाधा न आये, हे जिनेन्द्र! चिदानन्द आत्मा! तेरी जो प्रीति हुई है, उसमें भंग न पड़े।

यहाँ मात्र प्रीति–भंगकी भावना ही नहीं की है, किन्तु साथ ही महान उत्तरदायित्व स्वीकार किया है कि–'वीजो मन मंदिर आणुं नहिं.' अर्थात् अपने मनमंदिरमें किसी दूसरे–कुगुरु, कुदेव, कुधर्मको नहीं आने दूँगा। अर्थात् अपने स्वभावकी प्रतीतिमें उनका आदर नहीं होने दूँगा, वह गुणकी प्रीतिमें जागृत होकर उठा है, और कहता है कि मात्र चैतन्यके अतिरिक्त पुण्य–पाप, स्त्री–कुटुम्बादिके पर भावोंको अपनेमें नहीं आने दूँगा, पर पदार्थका आदर नहीं होने दूँगा। इस संपूर्ण उत्तरदायित्वके साथ कहता हूँ कि हे जिनेन्द्र! आपकी प्रीतिमें और मेरे आत्मस्वभावमें कोई भंग न पड़े। हे भगवान! आत्माके अनुमोदनमें दूसरेका आदर नहीं हो सकता। हे नाथ! जो आंतरिक

...त हुई है, उसमें आजसे लेकर अनन्त कालमें भी भंग न
इस शपथ पूर्वक यह उत्तरदायित्व स्वीकार करता हूँ; कि
...त्माके अतिरिक्त अन्य पुण्य-पापादिके भावका आदर नहीं
...गा।

...सती स्त्री अथवा ब्रह्मचारी पुरुषके हृदयमें अन्य पुरुष या स्त्री नहीं
..., इसीप्रकार धर्मात्मा पुरुष कहता है कि हे चैतन्य ! तेरे स्वभावसे
... हो गई है, मैं जागृत हो गया हूँ, अव अपनेमें दूसरेका आदर
... होने दूँगा। दूसरेका आदर न होने देना हमारे कुलकी रीति है।
...नाथ ! हम तीर्थंकरकी जाति और कुलके हैं। तीर्थंकर भगवान
...स भावसे आगे वढ़े सो वढ़े, वे कभी पीछे नहीं हटते। सम्यक्‌दर्शन
...गट हुआ सो केवलज्ञान होकर ही रहता है। हमारे कुलकी यह रीति
है कि वीचमें दूसरा भाव नहीं आने दूँगा, जो भाव लेकर आगे बढ़ा
है, उससे अव केवलज्ञान लेकर ही रहूँगा। हे नाथ ! हमारे कुलकी
यह रीति है कि हमने जो प्रयाण किया है सो अव पीछे नहीं देखेंगे।
वे तीर्थंकर हमारे कुलके हैं। वे जिस मार्गसे गये हैं, वह मार्ग हमारा
है; इसलिये उसमें भङ्ग नहीं हो सकता। शुभाशुभभावका आदर नहीं
होने दूँगा। इस उत्तरदायित्वके साथ कह रहा हूँ कि इसमें अव भङ्ग
नहीं पड़ने दूँगा। वीतराग भगवानने दूसरे भावको नहीं आने दिया। इस-
लिये मैं भी परभावको नहीं आने दूँगा यह हमारे कुलकी रीति है।

लोग अपने कुलकी टेकके लिये मरते फिरते हैं; तो हे आत्मन् !
तेरा कुल तो तीर्थंकरोंकी टेक पर चल रहा है, इसलिये अव जागृत
हुआ सो हुआ, अव पुनः असावधान नहीं हो सकता। महा पुरुषोंके
मुखसे जो वचन दन्तवाक्य निकलते हैं उन्हें वे पूर्ण करके ही रहते
हैं; इसीप्रकार धर्मात्मा पुरुष कहते हैं कि हमने जो कुछ कह दिया
सो वह भी होकर रहेगा। हमने तीर्थंकर देवकी टेक पकड़ी है, अव
हम जागृत हो चुके हैं इसलिये असावधान नहीं रहेंगे। अव, आगे
कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(वसंततिलका)

स्याद्वाददीपितलसत्महसि प्रकाशे,
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।

किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २६९ ॥

अर्थः—जिसका तेज स्याद्वादके द्वारा जगमग-जगमग करता हुआ प्रदीप्त हुआ है, और जो शुद्ध स्वभावरूप महिमामय ज्ञानप्रकाश मुझमें उदित हुआ है, वहाँ बन्ध मोक्षके मार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या प्रयोजन है? जिसका नित्योदय रहता है, ऐसा यह (अनन्त चतुष्टयरूप) केवल स्वभाव ही मुझमें स्फुरायमान हो।

स्याद्‌वादके द्वारा अर्थात् आत्मा अपनी अपेक्षासे है और परकी अपेक्षासे (शरीर, मन, वाणी और पुण्य–पापके भावरूपसे) नहीं है, ऐसी प्रतीति करके अपने स्वरूपमें स्थिर होनेसे जिसका तेज प्रकाशमान हो रहा है, ऐसा ज्ञानप्रकाश उदयको प्राप्त होता है।

चैतन्यप्रकाश झिलमिल करता हुआ प्रगट होता है, आत्मामें इन जड़रूपी द्रव्योंका तेज नहीं है, परन्तु ज्ञानप्रकाश तेज है। जहाँ आत्मस्वभावकी प्रतीति करके स्थिर हुआ कि वहाँ ज्ञानप्रकाश प्रगट हो जाता है। उस शुद्ध स्वभावकी महिमा अपूर्व है। शुभाशुभ आदि अन्य भावोंकी महिमा नहीं किन्तु शुद्धस्वभावकी ही महिमा है। जहाँ शुद्ध प्रकाश होता है, वहाँ मानों प्रकाशमान सूर्य ही उदय होता है, या स्वर्ण-प्रभात ही होता है।

चैतन्यमूर्तिके अतिरिक्त समस्त बाह्य सुख आपदारूप हैं, वे सुख नहीं हैं, दुःख हैं, कल्पना मात्र हैं। चैतन्यमूर्तिका अवलम्बन लेनेसे जो सुख प्रगट होता है और जो आनन्द होता है वही सुख और आनन्द हमें प्राप्त हो, अन्य कुछ नहीं चाहिये। जिसके शुद्ध स्वभावकी अपूर्व महिमा है वही ज्ञानप्रकाश मुझमें प्रगट हुआ है, तब फिर बन्ध और मोक्षके विकल्पोंका मुझे क्या प्रयोजन है? बन्ध ऐसा था और मोक्ष यों होगा, ऐसे विकल्पोंसे मुझे क्या काम है। पुण्यका परिणाम ऐसा होता है, और मोक्षका परिणाम ऐसा होता है, ऐसे रागमें रुकनेसे मुझे क्या प्रयोजन है? ऐसे विकल्पोंमें उलझनेसे विकल्प टूटकर निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती इसलिये ऐसे विकल्पोंसे मुझे क्या प्रयोजन है? जिसका उदय नित्य बना रहता है, वैसा स्वभाव ही मुझमें स्फुरायमान रहे!

स्वभावकी प्रतीतिमें अप्रतिहत भाव प्रगट हुआ है वह सदा स्फुरायमान रहे! केवलज्ञानादि अनन्त स्वचतुष्टय मेरे स्वरूपमें सादि-अनंत काल तक स्फुरायमान रहें! इसप्रकार आचार्यदेवने अपने स्वभावमें स्वचतुष्टय प्रगट हों ऐसी भावना भायी है। यह सुप्रभात मांगलिक है।

आत्माके वास्तविक स्वभावमें पर संयोगसे जो भाव दिखाई देते हैं वह आत्माका मूल स्वभाव नहीं है, जो स्वभाव आत्मामें त्रिकाल रहता है वह आत्माका स्वभाव कहलाता है, परन्तु संयोगी भाव नित्य-स्थायी नहीं है, इसलिये वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

जिसे कल्याण करना हो उसे भलीभाँति यह समझना होगा कि कल्याणस्वरूप आत्मा कैसा है। यदि समझनेमें समय लगे तो कोई हानि नहीं है। किन्तु यदि उसे अपनी दृष्टिसे मान लेगा तो समझमें नहीं आयेगा। जिज्ञासाभावसे ही समझमें आ सकता है, किन्तु आकुलता और खेद करना तो मात्र कषाय है। यदि निराकुलतासे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ करके समझना चाहे तो अवश्य समझमें आ जायेगा।

जिसे आत्माका कल्याण करना हो उसे वस्तुस्वरूपको यथावत् समझना होगा। जो यह मानता है कि यह शरीर, वाणी और मन मेरा है वह उनके ममत्वको दूर करनेका प्रयत्न कैसे करेगा? और आत्मामें होनेवाले विकारी भावोंको जो अपने भाव मानता है वह उन्हें छोड़नेका क्यों प्रयत्न करेगा?

यह मेरा पुत्र है, यह मेरी सम्पत्तिकी रक्षा करेगा, यह जानकर उसका रक्षण करता है, किन्तु यदि कोई शत्रु-पुत्र या डाकू घरमें घुस जाये तो उसे भगानेका प्रयत्न करता है। यदि डाकूको स्वयं अकेले ही भगानेकी हिम्मत न हो तो दूसरोंको बुलाकर उसे निकाल भगायेगा। यदि इसमें कुछ विलम्ब हो जाये तो भी उसे रखने की रुचि नहीं है। इसीप्रकार मैं कौन हूँ? मेरी सम्पत्ति मुझमें ही किस उपायसे रह सकेगी? मैं आत्मा क्या वस्तु हूँ? और यह क्षणिक वस्तु क्या है? इसके विवेकके विना अपनी वस्तुकी रक्षा नहीं हो सकती और परभावको छोड़नेका प्रयत्न नहीं हो सकता।

विकार क्या है और निर्विकार क्या है?—यह विचार कर। जगतमें जो शब्द हैं वे या तो द्रव्य हैं, या गुण हैं, या पर्याय हैं, ऐसा

वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। वाचक तो शब्द हैं और वाच्य पदार्थ हैं।]

ऐसा मनुष्य भव प्राप्त करके आत्माका निर्णय न किया तो फिर यह आयु पूर्ण होनेके बाद कहाँ जायेगा? परसे भिन्न आत्माका निर्णय किये बिना चौरासीका चक्कर नहीं मिट सकता। मरण समय कौन शरण होता है? चाहे जैसी प्रतिकूलतामें भी आत्माका निर्णय हो सकता है। बाह्य प्रतिकूलता या अनुकूलताके उदयके संयोगको आत्मा नहीं टाल सकता, किन्तु मोहनीय आदि घातिया कर्मोंके उदयमें स्वयं युक्त होता है, सो उसे आत्मा अपने पुरुषार्थके द्वारा दूर कर सकता है। आत्माकी पर्यायमें जो राग-द्वेष और भ्रांतिरूप विपरीत मान्यता होती है, उसे आत्मा पुरुषार्थके द्वारा दूर कर सकता है। बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आत्माको लाभ-हानि नहीं करते, किन्तु आत्माकी पर्यायमें विपरीत पुरुषार्थके द्वारा होनेवाली विपरीत मान्यता और राग-द्वेष ही हानिकारक हैं। इसलिये वस्तुस्वरूपको यथावत् समझनेका प्रयत्न कर, चारों पहलुओंसे विचार कर, स्वोन्मुख होकर निज-[illegible] निर्णय कर। मनका अवलम्बन बीचमें उपस्थित रहता है, किन्तु वहाँ अपनी ओरके अवलम्बनके वीर्यका बल है, इसलिये उसने आत्मासे ही निर्णय किया है। मनसे-परसे निर्णय नहीं किया किन्तु अपने ही

इस मान्यताका अर्थ यह हुआ कि हम दोनों मिलकर एक हो गये। तीनकाल और तीनलोकमें भी एक वस्तु दूसरी वस्तुकी सहायता नहीं कर सकती। पर पदार्थोंका आत्मामें अभाव है, इसलिये वह आत्माका हानि-लाभ नहीं कर सकते। यह मार्ग संसारसे सर्वथा निराला है।

अपनी वस्तु परसे भिन्न होकर रहती है इसलिये अलग है। जो पररूप नहीं होती वह निजरूप होती है, किन्तु जो पररूप नहीं होती वह अपने रूपसे भी न हो ऐसा नहीं हो सकता, और अपने रूपसे हो तथा पररूपसे भी हो ऐसा नहीं हो सकता, इसलिये जो अपने-रूपसे होती है वह पररूपसे नहीं होती, यह अबाधित सिद्धान्त है।

जैसे हाथमें ली हुई कलम हाथसे भिन्न है, यह बात ज्ञान करने वालेको बतलाती है, और मैं लकड़ी रूप हूँ किन्तु हाथ रूप नहीं हूँ, इसप्रकार लकड़ी स्वयं ही अपनेको दूसरेसे भिन्न बतला रही है; इसी-प्रकार आत्मा निजरूपसे है, ऐसा पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने पर साथमें यह भी आ जाता है कि वह पर रूप नहीं है। अस्तिका स्वीकार करने पर साथमें नास्ति भी आ जाती है। मैं स्वतः स्वभावसे परिपूर्ण वस्तु हूँ। मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय दूसरेमें और किसीके द्रव्य-गुण-पर्याय मुझमें प्रविष्ट नहीं होते।

शरीर आत्मारूप नहीं है, शरीरके रजकण शरीरमें हैं आत्मामें नहीं, आत्मा आत्मामें है, वह शरीर रूप नहीं है। जो निजरूपसे नहीं है वह अपनी सहायता कैसे कर सकता है? यह कोई सूक्ष्म या गहन बात नहीं है किन्तु सबसे पहली इकाई है। मनुष्य भव प्राप्त करके यदि इसे न समझ सका तो यहाँसे जाकर फिर चौरासीके चक्करमें जा गिरेगा। मनुष्य भवमें जो पुण्य फलित हुआ है, वह सब सूख जाने वाला है, वह सदा स्थायी नहीं है। परकी क्रियासे मुझे लाभ होगा अथवा परकी सहायतासे मुझे धर्म प्राप्त होगा ऐसा मानने वाला आत्मा-की त्रैकालिक स्वतन्त्रताकी हत्या करने वाला, और स्वतन्त्र न्यायके प्रति अन्याय करने वाला है।

प्रश्नः—पूर्ण वीतराग होनेपर भले ही दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता न हो, किन्तु उससे पूर्व तो होती ही है?

उत्तरः—न तो पूर्णतामें किसीकी सहायता होती है और न अपूर्णतामें ही। क्योंकि जो पूर्णतामें होता है वही प्रारम्भमें भी होता है। पूर्णतामें स्वाधीन धर्म हो और अपूर्णतामें पराधीन धर्म हो ऐसा स्वरूप नहीं हो सकता। जो पूर्णतामें होता है उसी प्रकारका अंश यदि प्रारम्भमें हो तभी उसे प्रारम्भ कहा जाता है, अन्यथा वह प्रारंभ ही नहीं है पहले स्वाधीन स्वभावकी श्रद्धा होती है, और फिर स्थिरता होती है।

सम्पूर्ण वस्तुएँ अपने रूपसे हैं और पररूपसे नहीं हैं। जब कि दो वस्तुयें भिन्न-भिन्न हैं तब फिर एक-दूसरेकी सहायता कहाँ रही? शरीर शरीरमें है, आत्मामें नहीं। इसी प्रकार आत्मा शरीरमें नहीं किन्तु आत्मामें है। यदि शरीर और आत्मा एकत्रित हो जायें तो फिर वे अलग नहीं हो सकते। शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहकर भी परमार्थः अलग हैं।

जिसे यह प्रतीति है कि अपना चैतन्यदल परसे सर्वथा भिन्न है, वह किसी महायुद्धमें संलग्न हो या राजकाजमें पड़ा हो तथापि उसे अल्प बन्ध होता है। परसे अपना स्वरूप भिन्न मानने और परका स्वामित्व अंतरंगसे छूट जानेकी प्रतीति होने पर भी भरत चक्रवर्तीने छह खण्डका राज्य किया, किन्तु उनके ऐसा विवेक बना हुआ था, कि अन्तरंगमें अपना सम्पूर्ण चैतन्यदल अलग ही विद्यमान है; और इस-प्रकार पृथक् प्रतीति थी कि न तो पर पदार्थ मेरी सहायता कर सकते हैं और न मैं उनकी ही सहायता कर सकता हूँ। इसप्रकार ज्ञायककी प्रतीतिमें ज्ञातारूपसे रहकर सम्यग्दर्शन सहित करोड़ों वर्ष राजकाजमें व्यतीत किये, तथापि उनका एक भी भव नहीं बढ़ा। यह आंतरिक प्रतीतिकी अपूर्व महिमा है।

ज्ञानी गृहस्थाश्रममें रहता हुआ व्यापार, राज-पाट इत्यादिकी क्रियामें लगा रहे, तथापि वह उनका कर्ता नहीं होता, वह भलीभांति जानता है कि यह [illegible] भी उसके अपने कारण परिणमित होता है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। पूर्ववर्ती अशक्तिके कारण शुभभाव या अशुभ भाव [illegible] वह [illegible] प्रवृत्त होता है, और [illegible] भी करता है, किन्तु वह परकी क्रियाका भी

विकल्पका कर्ता नहीं होता। मात्र पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण वैसे भाव हो जाते हैं।

अज्ञानी जीव अपनेको जड़की क्रियाका कर्ता मानता है, विकल्पका भी कर्ता मानता है। रुपये-पैसेका मिलना, प्रतिकूलताका दूर होना, निरोगताका होना—यह सब पुण्योदय पर निर्भर है। इन सब अनुकूलताओंके होनेमें पुण्योदय हो तो उस उदयके अनुकूल निमित्त स्वतन्त्रतया अपने-अपने कारणसे विद्यमान होते हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

दूसरोंको दानादि देनेके जो भाव होते हैं सो वह स्वतन्त्र कारणसे होते हैं, और दूसरोंको जो दान इत्यादि मिलता है सो वह भी स्वतन्त्र कारणसे मिलता है। दूसरेको दान देनेके भाव जब होते हैं जब तृष्णा कम करके पुरुषार्थके द्वारा स्वयं शुभभावमें प्रवृत्त होता है और प्रस्तुत जीवको उस प्रकारकी अनुकूलता उसके अघातिय कर्मके उदयानुसार होती है। दोनों कार्य स्वतंत्र होते हैं, तथापि दोनोंका कभी-कभी मेल हो जाता है, इसलिये अज्ञानी जीव परका कर्ता बनता है, कि मैंने इसे दान दिया, मैंने इसे सुखी किया है। शरीरके हलन-चलन और बोलने इत्यादिकी क्रिया स्वतन्त्र होती है तथापि उस इच्छाके अनुकूल उदयके कारण इच्छानुसार होता हुआ देखकर अज्ञानी जीव मानता है कि यह क्रिया मेरे द्वारा होती है। परन्तु इच्छा करनेमें आत्मा स्वयं प्रवृत्त होता है, इसलिये अपनी पर्यायमें विकार होता है और शरीरकी जो अनुकूल क्रिया होती है, सो वह भिन्न कारणसे होती है। अनुकूल उदयके कारण इच्छा और शरीरकी हलन-चलनादि क्रियाका–दोनोंका लगभग सम्बन्ध होता है, इसलिये अज्ञानी मान[ता] है कि जड़की क्रिया मेरे द्वारा होती है। किन्तु यदि हो सकता हो [तो] जब लकवा मार जाता है तब इच्छित क्रिया क्यों नहीं कर सक[ता?] जो एक समय कर सकता है वह सर्वदा कर सकता है। इससे [सिद्ध] हुआ कि कोई किसीको क्रिया नहीं कर सकता, जड़-चैतन्य त्रिकाल स्वतन्त्र और पृथक् पदार्थ हैं, इसलिये दोनोंकी क्रि[या] स्वतन्त्र अलग-अलग है। जड़की क्रिया ज्ञानी या अज्ञानी [...] कर ही नहीं सकता, किन्तु अज्ञानी जीव अज्ञान अवस्थामें [...] कर्ता होता है।

[...]परिणामके भी कर्ता नहीं होते,

यह कहा कि केवलज्ञानके समय हड्डियोंकी ऐसी सुदृढ़ता होती है, वहाँ वह उन हड्डियोंको ले बैठा? किन्तु मैं परके आश्रय या आधारसे रहित हूँ, मेरा कोई सहायक नहीं है, मेरी हानि-लाभ मुझसे ही होता है, ऐसे स्वतन्त्र तत्त्वकी जिसे खबर नहीं है वह चौरासीके अवतारमें खो जायेगा, और जहाँ मरण-समय आयेगा वहाँ हाहाकार करने लगेगा। करोड़ों रुपया हो तथा शरीर अच्छा, सुन्दर, सुदृढ़ हो तो भी मरण-समय आत्मप्रतीतिके विना कोई शरण नहीं हो सकता। इस प्रथम संहननवाले अनन्त जीव नरकमें भी गये हैं। ऐसा संहनन अनन्तबार मिला तथापि आत्माका कल्याण नहीं हो सका, आत्मकल्याण तो आत्मप्रतीतिसे ही होता है। अनन्तबार ऐसा संहनन प्राप्त करके भी आत्मप्रतीति नहीं की इसलिये कोई लाभ नहीं हुआ। यदि संहनन ही लाभकारक हो तो वज्रवृषभनाराचसंहननवाले नरकमें न जायें, सबको मोक्ष ही जाना चाहिये। किन्तु इस संहननवाले अनन्त जीव नरकमें गये हैं ऐसे अनेक शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि संहनन आत्माके लिये लाभकारक नहीं है, किन्तु अपने पुरुषार्थके द्वारा आत्मप्रतीति और स्थिरता करे तो आत्माको लाभ हो।

संहनन जड़ है और आत्मा चैतन्य है, इसलिये संहनन आत्माका स्वरूप नहीं है, छहों संहनन अनुक्रमसे एक-दूसरेसे हीन हैं, संहननके छह प्रकार हैं—वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन। इन संहननोंसे आत्मा भिन्न है, आत्मा ज्ञानज्योति है, उसकी श्रद्धा करके स्थिरता करे तो केवलज्ञान प्राप्त होता है। संहनन जड़-पुद्गल द्रव्यकी रचना हैं इसलिये वे आत्मानुभवसे भिन्न हैं।

अब नववीं बात कहते हैं—राग आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्मा तो वीतराग स्वरूप है। जितने भी रागके प्रकार हैं उनमेंसे कोई भी जीवके स्वभावमें नहीं हैं, अशुभरागको दूर करनेके लिये देव, गुरु, धर्मका शुभराग हुए विना नहीं रहता, किन्तु धर्मात्मा उस रागको अपना स्वरूप नहीं मानते। पुण्यराग या पापराग दोनों आत्माके स्वभाव नहीं हैं। जो प्रीतिरूप राग है सो आत्माका स्वरूप नहीं है। अशुभ रागसे पापबन्ध और शुभरागसे पुण्यबन्ध अवश्य होता है, किन्तु

त्रिकालमें भी उनसे धर्म नहीं होता। यदि रागसे अलग न हो तो वीतराग नहीं हो सकता, और वीतराग हुये विना स्वतन्त्र नहीं हो सकता। रागादि तथा क्षणिक भेदके ओरकी रुचि छोड़कर चैतन्यकी रुचि करना अविनाशीकी ओर झुकाव है। रागको तोड़नेकी शक्ति सत्की प्रतीतिमें आ जाती है। राग आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्माकी पर्यायमें अशुद्ध उपादानके कारण राग होता है किन्तु वह आस्रवतत्त्व है—जड़ है क्योंकि चैतन्यके अनुभवसे रागका अनुभव भिन्न ही है।

जीवोंको ऐसा लगता है कि जो राग है सो मैं हूँ, मैं राग-रहित कैसे हो सकता हूँ? किन्तु अरे भाई! विकारी राग कहीं तेरा स्वरूप हो सकता है? यदि तेरा स्वरूप हो तो सदा तेरे साथ रहना चाहिये। किन्तु राग तो क्षणिक है, वह क्षण क्षणमें वदल जाता है। यदि कोई शत्रु आ जाये तो उसपर द्वेष होता है, और उसी समय यदि अपना मित्र आ जाये तो द्वेष मिटकर राग हो जाता है। इस-प्रकार राग-द्वेष वदलते रहते हैं। यदि राग-द्वेष अपना स्वरूप हो तो चाहे जिस अवसर पर रागरूप ही वना रहना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये वह अपना स्वभाव नहीं है।

जो लड़की वीस वर्ष तक अपने माँ-वापके घर रहकर वहीं रागको केन्द्रित किये हुई थी, वही विवाहके वाद ससुराल जाकर अपने ममत्वको—रागको उस ओर वदल देती है। इसप्रकार क्षणभरमें वह परिवर्तन हो जाता है। राग पुण्यका हो या पापका, किन्तु दोनों आत्माके स्वरूप नहीं है। राग चिरकाल आत्माके स्वरूपमें है ही नहीं क्योंकि वह आत्मारूप नहीं रहता। जिसे ऐसे स्वरूपकी खवर नहीं है, वह कौनसा मार्ग ग्रहण करेगा? यदि सच्चे मार्गको न जानकर विपरीत मार्ग पर चल देगा तो सत्यमार्ग और भी दूर होता जायगा। राग आत्माकी पर्यायमें होता है किन्तु वह दुःखरूप है, इसलिये आत्माका स्वरूप नहीं है, किन्तु जड़ है।

अव दसवीं वात कहते हैं—द्वेष भी आत्माका स्वभाव नहीं है। वह क्षणिक है। द्वेष वदलकर राग-रूप हो जाता है, यदि द्वेष आत्माका स्वभाव हो तो वह एक सा ही वना रहना चाहिये; किन्तु

वह एकरूप नहीं रहता। द्वेष दुःखरूप है, इसलिये वह आत्माका स्वभाव नहीं है। जब किसी व्यक्तिके साथ द्वेष हो जाता है तब इतनी भारी अनबन हो जाती है कि उसका मुँह देखना भी पाप समझने लगता है, किन्तु यदि वह नम्र होकर उसके पास आकर क्षमा-याचना करता है तो वह अपने परिणामोंको बदलकर कहता है कि मुझे आपके साथ अब द्वेष नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि द्वेषभाव भी क्षणिक है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माके स्व-स्वभावकी पर्याय भी समय समय पर बदलती है, किन्तु उसकी जाति एकरूप रहकर बदलती है, लेकिन विकारी पर्याय आत्माके स्वभावकी (जातिकी) नहीं है, और प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न रूपमें बदलती रहती है। वह एकरूप नहीं है, इसलिये आत्माका स्वभाव नहीं है। यद्यपि द्वेष आत्माकी पर्यायमें होता है किन्तु वह आत्माका असली स्वभाव नहीं है, उसमें जड़का आलंबन है इसलिये वह जड़ है। धर्मी जीव समझता है कि राग-द्वेषकी विकारी पर्याय मेरा स्वरूप नहीं है। मेरे पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण वह मेरी पर्यायमें होती है।

अब ग्यारहवीं बात कहते हैं—यथार्थ तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप अर्थात् अप्राप्तिरूप मोह जीवके नहीं है, यथार्थतत्त्वके अनादररूप मोह भी आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्मतत्त्व नहीं किन्तु परतत्त्व मेरी सहायता करेगा, ऐसी मान्यता मोह है। आत्मापर दृष्टि न जाकर पर पदार्थपर दृष्टि लगाना मोह है। आत्मा परसे भिन्न ज्ञायकस्वरूप है, उस स्वरूपको भूल जाना और परस्वरूपका आश्रय लेना मोह है। जो पंचेन्द्रियके विषयोंमें सुख मानता है उसे यथार्थ तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। यथार्थ तत्त्व आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसे दृष्टिमें न लेना सो मोहभाव है। उस मोहभावका फल संसार है। आचार्यदेव कहते हैं, कि तुझे यथार्थ तत्त्व समझमें नहीं आता इसलिये तू आकुलित है। मिथ्याभाव रूप मोह आत्माका स्वरूप नहीं है। यद्यपि वह चैतन्यकी अवस्थामें होता है, किन्तु उसमें परका निमित्त है। वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

लोग तमाम सामाजिक कार्योंमें—अदालत और वकालत आदिमें बुद्धि लगाते हैं और तत्सम्बन्धी बातोंको समझते हैं, किन्तु यहाँ तत्त्वको

वात आती है वहाँ कहते हैं कि आप यह क्या कह रहे हैं? हमारी समझमें कुछ नहीं आता, और जो हम समझते हैं उसे आप व्यर्थ कह रहे हैं! इसप्रकारकी मानसिक व्याकुलता ही मोह है। किन्तु हे भाई! समझमें नहीं आता ऐसी व्याकुलता तेरे स्वरूपमें नहीं है। अर्थात् तत्त्वके परिचयसे तत्त्वकी अप्राप्तिरूप मोह व्याकुलता दूर हो सकती है। इसलिये आकुलित मत हो भगवान आत्मा व्याकुलताका नाश करने वाला है, रक्षक नहीं। समझमें नहीं आता और तात्त्विक बात जमती नहीं यह सब मोहजनित आकुलता है, इसलिये आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा पूर्वक यथार्थ तत्त्वको पहिचान। फिर देख कि यह सब मोहके मुर्दे यों ही पड़े हुए हैं। मोह तेरे स्वरूपमें नहीं है इसलिये आकुलित मत हो। यदि निराकुलता पूर्वक पुरुषार्थ करे तो यह सब समझमें आ सकता है, और सत्यके समझ लेनेसे मोह भी दूर हो सकता है, मोह तेरा स्वरूप नहीं है; किन्तु तू निराकुल अविनाशी चिदानन्द-स्वरूप है। तेरी चैतन्य-अवस्थामें अपनेको भूलनेरूप मोह होता है, तथापि वह तेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु वह जड़ है।

अब बारहवीं बात कहते हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिनके लक्षण हैं वे समस्त प्रत्यय जीवके नहीं; क्योंकि वे पुद्गल-द्रव्यके परिणाम हैं इसलिये अपनी अनुभूतिसे भिन्न हैं।

आत्मा ज्ञान, सुख आदि अनन्त गुणोंका पिंड है इसे भूलकर यह मानना कि-इन्द्रियोंके विषयोंमें सुख होता है अथवा पुण्य-पापके परिणामसे मुझे सहायता मिलती है, सो मिथ्यात्व है। विपरीतदृष्टि-वाला जीव स्वाश्रित ज्ञानका तिरस्कार और विषयोंमें सुख मानता है, और वह उन्हें स्थायी समझता है, इसप्रकार उसकी दृष्टि सदा विषयों पर रहती है। ज्ञानीको अस्थिरताके कारण राग हो जाता है किन्तु वह विषयोंमें जरा भी सुख नहीं मानता। वर्तमान विषयोंके प्रति क्षणिक राग होकर छूट जाता है, उसकी दृष्टि त्रिकाल आत्मा पर रहती है। ज्ञानीके अल्प राग होता है, किन्तु उन्हें रागका राग नहीं होता। ज्ञानीको विषयोंकी प्रधानता नहीं है; किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा पर होती है इसलिये आत्माकी ही प्रधानता है। अज्ञानीकी दृष्टि पर पदार्थों पर होती है, इसलिये उसे विषयोंकी प्रधानता है, उसे विषयोंके प्रति बहुमान है, और आत्माके प्रति नहीं है। मिथ्यात्व भावका अर्थ है

भ्रान्तिका भाव। आत्माका स्वभाव भूलकर संयोगी भावको अपना मानना मिथ्यात्व है, वे सब पुद्‌गलके परिणाम हैं, आत्मस्वभाव नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, किन्तु चैतन्यके अविकारी अनुभवसे उनका अनुभव भिन्न है, इसलिये वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु जड़ हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग—यह चारों प्रत्यय अर्थात् आस्रव जीवके नहीं हैं। आत्मामें जो मलिन पर्याय होती है वह और मलिनताका कारण प्राप्त करके जो नवीन कर्म आते हैं सो आस्रव है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, इन्द्रपद, देवपद इत्यादिमें सुख मानना, और अपनेमें जो सुख है उसे भूल जाना सो मिथ्यात्व है, अशुद्ध निश्चयनयसे मिथ्यात्व अपने चैतन्यकी अवस्थामें होता है, और जड़में वे भाव नहीं होते। किन्तु वह मिथ्याभाव आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये जो संयोगी भाव होता है वह उसीका है अर्थात् जड़का है। वह अपने चैतन्यका स्वभाव नहीं है ऐसा स्वसन्मुख होकर जानना, मानना और स्वरूपमें स्थिर होना स्वतन्त्र सुखका उपाय है।

"ते नरा सुखमिच्छन्ति नेच्छन्ति सुख कारणं"

सर्व जीव सुख चाहते हैं किन्तु सुखके कारणोंको ढूँढ़नेकी इच्छा नहीं करते, सुख तो आत्माके पवित्र स्वभावमें है किन्तु लोग परमें सुखकी कल्पना करते हैं। आत्मा द्रव्य क्या है, उसकी पर्याय क्या है? यह जानकर उसकी प्रतीति कर। जो द्रव्य है उसमें गुण और पर्याय भी होती है, तथा जो गुण होता है सो अपना प्रयोजनभूत कार्य किया करता है, जैसे-ज्ञानगुण जाननेका, और चारित्रगुण रमणताका कार्य करता है, इसी प्रकार अनन्त गुण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं, वह पर्याय है। सिद्धोंमें भी अनन्त गुणकी अनन्त पर्यायें प्रति समय होती ही रहती हैं, प्रत्येक गुण अपना अपना कार्य किया करता है, आत्मा ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणोंका पिंड है उसका परिचय कर, सुख तेरे आत्मामें है परमें नहीं। आत्मा टंकोत्कीर्ण सच्चिदानन्द मूर्ति है, इसका विश्वास न करके परका विश्वास करना सो मिथ्यात्व है। देहमें विराजमान चैतन्यप्रभुका अनादर करके परका आदर करता है अर्थात् पिताके शत्रुसे मेल रखकर पिताका अनादर करता है। इसी

प्रकार चैतन्यमूर्ति परमात्मस्वभावका अनादर करके विरोधी तत्त्वके साथ मेल रखना–उसे अपना मानना सो शत्रुसे प्रीति करनेके समान है; संयोगीभावका अनादर करना सो पिताका अनादर करनेके समान है।

अविरतिका अर्थ है अत्याग भाव। ज्ञानीको विषयोंकी रुचि नहीं होती किन्तु रुचिके छूट जाने पर भी कुछ आसक्ति रह जाती है, वही अविरति भाव है। अज्ञानीको त्रिकाल पर वस्तुके प्रति रुचि रहती है और ज्ञानीको नहीं रहती, किन्तु अस्थिरताके कारण वर्तमानमें क्षणिक आसक्ति रहती है, उसे निरन्तर हेय समझते हैं।

ज्ञानी होनेके वाद जव तक पूर्ण वीतराग नहीं होता तव तक वीचमें साधक स्वभाव होता है। आत्मस्वभावके समझ लेने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता, किन्तु पुरुषार्थ करना पड़ता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोकको दूर करते हुए अस्थिरताके कारण कुछ लचक आ जाती है,-कुछ आसक्ति रह जाती है। ज्ञानी समझता है कि संयोगजनित पुण्य-पापादि मुझे शरण नहीं हैं, किन्तु मेरा चैतन्यमूर्ति स्वभाव ही मुझे शरणभूत है। ऐसी प्रतीति होने पर भी अल्प आसक्ति रह जाती है। अनन्तानुवन्धी कषायके दूर हो जानेसे अल्प आसक्ति रह जाती है; वह अल्प आसक्ति क्रमशः स्थिरताके द्वारा दूर करके केवलज्ञानको प्राप्त कर लेगा। अत्यागभाव आत्माकी पर्यायमें होता है, किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्माका अनुभव अत्यागभावसे भिन्न है, इसलिये वह आत्माका स्वरूप नहीं है किन्तु जड़ है। आसक्तिमें मेरा त्रिकाल स्वभाव नहीं है ऐसी दृष्टिके वलसे वह छूट जाती है, इसलिये जड़ है।

आत्माकी पहिचानके विना कोई शरणभूत नहीं है। मरते समय आंखकी पलक भी नहीं हिला सकता, अर्थात् वह आँख भी शरणभूत नहीं होती, शरीरका कोई अंग शरणभूत नहीं होता, वड़े वड़े वैद्य और डाक्टर भी शरणभूत नहीं होते, दवा-औषधोपचार भी शरणभूत नहीं होते, व्यर्थ ही कॉडलिवर जैसी अपवित्र औषधियाँ खाकर दुर्गतिमें चला जायेगा, किन्तु वे औषधियाँ तुझे नहीं वचा सकेंगी, कोई पर वस्तु तुझे शरण नहीं हो सकती, मात्र भगवान आत्मा ही तुझे शरणभूत है। पर, परके स्थानपर है, परमाणु, परमाणुके और चैतन्य, चैतन्यके घर है, इसप्रकार विभाजन करके स्वाश्रय द्वारा स्थिर होना ही शरणभूत

भ्रान्तिका भाव। आत्माका स्वभाव भूलकर संयोगी भावको अपना मानना मिथ्यात्व है, वे सब पुद्गलके परिणाम हैं, आत्मस्वभाव नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, किन्तु चैतन्यके अविकारी अनुभवसे उनका अनुभव भिन्न है, इसलिये वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु जड़ हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग—यह चारों प्रत्यय अर्थात् आस्रव जीवके नहीं हैं। आत्मामें जो मलिन पर्याय होती है वह और मलिनताका कारण प्राप्त करके जो नवीन कर्म आते हैं सो आस्रव हैं।

शरीर, इन्द्रिय, मन, इन्द्रपद, देवपद इत्यादिमें सुख मानना, और अपनेमें जो सुख है उसे भूल जाना सो मिथ्यात्व है, अशुद्ध निश्चयनयसे मिथ्यात्व अपने चैतन्यकी अवस्थामें होता है, और जड़में वे भाव नहीं होते। किन्तु वह मिथ्याभाव आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये जो संयोगी भाव होता है वह उसीका है अर्थात् जड़का है। वह अपने चैतन्यका स्वभाव नहीं है ऐसा स्वसन्मुख होकर जानना, मानना और स्वरूपमें स्थिर होना स्वतन्त्र सुखका उपाय है।

"ते नरा सुखमिच्छन्ति नेच्छन्ति सुख कारणं"

सर्व जीव सुख चाहते हैं किन्तु सुखके कारणोंको ढूंढनेकी इच्छा नहीं करते, सुख तो आत्माके पवित्र स्वभावमें है किन्तु लोग परमें सुखकी कल्पना करते हैं। आत्मा द्रव्य क्या है, उसकी पर्याय क्या है? यह जानकर उसकी प्रतीति कर। जो द्रव्य है उसमें गुण और पर्याय भी होती है, तथा जो गुण होता है सो अपना प्रयोजनभूत कार्य किया करता है, जैसे-ज्ञानगुण जाननेका, और चारित्रगुण रमणताका कार्य करता है, इसी प्रकार अनन्त गुण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं, वह पर्याय है। सिद्धोंमें भी अनन्त गुणकी अनन्त पर्यायें प्रति समय होती ही रहती हैं, प्रत्येक गुण अपना अपना कार्य किया करता है, आत्मा ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणोंका पिंड है उसका परिचय कर, सुख तेरे आत्मामें है परमें नहीं। आत्मा टंकोत्कीर्ण सच्चिदानन्द मूर्ति है, इसका विश्वास न करके परका विश्वास करना सो मिथ्यात्व है। देहमें विराजमान चैतन्यप्रभुका अनादर करके परका आदर करता है अर्थात् पिताके शत्रुसे मेल रखकर पिताका अनादर करता है। इसी

प्रकार चैतन्यमूर्ति परमात्मस्वभावका अनादर करके विरोधी तत्त्वके साथ मेल रखना–उसे अपना मानना सो शत्रुसे प्रीति करनेके समान है; संयोगीभावका अनादर करना सो पिताका अनादर करनेके समान है।

अविरतिका अर्थ है अत्याग भाव। ज्ञानीको विषयोंकी रुचि नहीं होती किन्तु रुचिके छूट जाने पर भी कुछ आसक्ति रह जाती है, वही अविरति भाव है। अज्ञानीको त्रिकाल पर वस्तुके प्रति रुचि रहती है और ज्ञानीको नहीं रहती, किन्तु अस्थिरताके कारण वर्तमानमें क्षणिक आसक्ति रहती है, उसे निरन्तर हेय समझते हैं।

ज्ञानी होनेके वाद जव तक पूर्ण वीतराग नहीं होता तब तक वीचमें साधक स्वभाव होता है। आत्मस्वभावके समझ लेने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता, किन्तु पुरुषार्थ करना पड़ता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोकको दूर करते हुए अस्थिरताके कारण कुछ लचक आ जाती है,-कुछ आसक्ति रह जाती है। ज्ञानी समझता है कि संयोगजनित पुण्य-पापादि मुझे शरण नहीं हैं, किन्तु मेरा चैतन्यमूर्ति स्वभाव ही मुझे शरणभूत है। ऐसी प्रतीति होने पर भी अल्प आसक्ति रह जाती है। अनन्तानुवन्धी कपायके दूर हो जानेसे अल्प आसक्ति रह जाती है; वह अल्प आसक्ति क्रमशः स्थिरताके द्वारा दूर करके केवलज्ञानको प्राप्त कर लेगा। अत्यागभाव आत्माकी पर्यायमें होता है, किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्माका अनुभव अत्यागभावसे भिन्न हैं, इसलिये वह आत्माका स्वरूप नहीं है किन्तु जड़ है। आसक्तिमें मेरा त्रिकाल स्वभाव नहीं है ऐसी दृष्टिके वलसे वह छूट जाती है, इसलिये जड़ है।

आत्माकी पहिचानके विना कोई शरणभूत नहीं है। मरते समय आंखकी पलक भी नहीं हिला सकता, अर्थात् वह आँख भी शरणभूत नहीं होती, शरीरका कोई अंग शरणभूत नहीं होता, वड़े वड़े वैद्य और डाक्टर भी शरणभूत नहीं होते, दवा-औपधोपचार भी शरणभूत नहीं होते, व्यर्थ ही कॉडलिवर जैसी अपवित्र औपधियाँ खाकर दुर्गतिमें चला जायेगा, किन्तु वे औपधियाँ तुझे नहीं वचा सकेंगी, कोई पर वस्तु तुझे शरण नहीं हो सकती, मात्र भगवान आत्मा ही तुझे शरणभूत है। पर, परके स्थानपर है, परमाणु, परमाणुके और चैतन्य, चैतन्यके घर है, इसप्रकार विभाजन करके स्वाश्रय द्वारा स्थिर होना ही शरणभूत

भ्रान्तिका भाव। आत्माका स्वभाव भूलकर संयोगी भावको अपना मानना मिथ्यात्व है, वे सब पुद्गलके परिणाम हैं, आत्मस्वभाव नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, किन्तु चैतन्यके अविकारी अनुभवसे उनका अनुभव भिन्न है, इसलिये वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु जड़ हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग—यह चारों प्रत्यय अर्थात् आस्रव जीवके नहीं हैं। आत्मामें जो मलिन पर्याय होती है वह और मलिनताका कारण प्राप्त करके जो नवीन कर्म आते हैं सो आस्रव है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, इन्द्रपद, देवपद इत्यादिमें सुख मानना, और अपनेमें जो सुख है उसे भूल जाना सो मिथ्यात्व है, अशुद्ध निश्चयनयसे मिथ्यात्व अपने चैतन्यकी अवस्थामें होता है, और जड़में वे भाव नहीं होते। किन्तु वह मिथ्याभाव आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये जो संयोगी भाव होता है वह उसीका है अर्थात् जड़का है। वह अपने चैतन्यका स्वभाव नहीं है ऐसा स्वसन्मुख होकर जानना, मानना और स्वरूपमें स्थिर होना स्वतन्त्र सुखका उपाय है।

"ते नरा सुखमिच्छन्ति नेच्छन्ति सुख कारणं"

सर्व जीव सुख चाहते हैं किन्तु सुखके कारणोंको ढूँढ़नेकी इच्छा नहीं करते, सुख तो आत्माके पवित्र स्वभावमें है किन्तु लोग परमें सुखकी कल्पना करते हैं। आत्मा द्रव्य क्या है, उसकी पर्याय क्या है? यह जानकर उसकी प्रतीति कर। जो द्रव्य है उसमें गुण और पर्याय भी होती है, तथा जो गुण होता है सो अपना प्रयोजनभूत कार्य किया करता है, जैसे-ज्ञानगुण जाननेका, और चारित्रगुण रमणताका कार्य करता है, इसी प्रकार अनन्त गुण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं, वह पर्याय है। सिद्धोंमें भी अनन्त गुणकी अनन्त पर्यायें प्रति समय होती ही रहती हैं, प्रत्येक गुण अपना अपना कार्य किया करता है आत्मा ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणोंका पिंड है उसका परिचय कर, सुख तेरे आत्मामें है परमें नहीं। आत्मा टंकोत्कीर्ण सच्चिदानन्द मूर्ति है, इसका विश्वास न करके परका विश्वास करना सो मिथ्यात्व है। देहमें विराजमान चैतन्यप्रभुका अनादर करके परका आदर करता है अर्थात् पिताके शत्रुसे मेल रखकर पिताका अनादर करता है। इसी

प्रकार चैतन्यमूर्ति परमात्मस्वभावका अनादर करके विरोधी तत्त्वके साथ मेल रखना–उसे अपना मानना सो शत्रुसे प्रीति करनेके समान है; संयोगीभावका अनादर करना सो पिताका अनादर करनेके समान है।

अविरतिका अर्थ है अत्याग भाव। ज्ञानीको विषयोंकी रुचि नहीं होती किन्तु रुचिके छूट जाने पर भी कुछ आसक्ति रह जाती है, वही अविरति भाव है। अज्ञानीको त्रिकाल पर वस्तुके प्रति रुचि रहती है और ज्ञानीको नहीं रहती, किन्तु अस्थिरताके कारण वर्तमानमें क्षणिक आसक्ति रहती है, उसे निरन्तर हेय समझते हैं।

ज्ञानी होनेके बाद जब तक पूर्ण वीतराग नहीं होता तब तक वीचमें साधक स्वभाव होता है। आत्मस्वभावके समझ लेने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता, किन्तु पुरुषार्थ करना पड़ता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोकको दूर करते हुए अस्थिरताके कारण कुछ लचक आ जाती है,-कुछ आसक्ति रह जाती है। ज्ञानी समझता है कि संयोगजनित पुण्य-पापादि मुझे शरण नहीं हैं, किन्तु मेरा चैतन्यमूर्ति स्वभाव ही मुझे शरणभूत है। ऐसी प्रतीति होने पर भी अल्प आसक्ति रह जाती है। अनन्तानुवन्धी कषायके दूर हो जानेसे अल्प आसक्ति रह जाती है; वह अल्प आसक्ति क्रमशः स्थिरताके द्वारा दूर करके केवलज्ञानको प्राप्त कर लेगा। अत्यागभाव आत्माकी पर्यायमें होता है, किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्माका अनुभव अत्यागभावसे भिन्न है, इसलिये वह आत्माका स्वरूप नहीं है किन्तु जड़ है। आसक्तिमें मेरा त्रिकाल स्वभाव नहीं है ऐसी दृष्टिके वलसे वह छूट जाती है, इसलिये जड़ है।

आत्माकी पहिचानके विना कोई शरणभूत नहीं है। मरते समय आँखकी पलक भी नहीं हिला सकता, अर्थात् वह आँख भी शरणभूत नहीं होती, शरीरका कोई अंग शरणभूत नहीं होता, वड़े वड़े वैद्य और डाक्टर भी शरणभूत नहीं होते, दवा-औषधोपचार भी शरणभूत नहीं होते, व्यर्थ ही कॉडलिवर जैसी अपवित्र औषधियाँ खाकर दुर्गतिमें चला जायेगा, किन्तु वे औषधियाँ तुझे नहीं वचा सकेंगी, कोई पर वस्तु तुझे शरण नहीं हो सकती, मात्र भगवान आत्मा ही तुझे शरणभूत है। पर, परके स्थानपर है, परमाणु, परमाणुके और चैतन्य, चैतन्यके घर है, इसप्रकार विभाजन करके स्वाश्रय द्वारा स्थिर होना ही शरणभूत

है। मेरा आत्मा ही मुझे उत्तर देगा, इसके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी और श्वास आदि कोई भी शरणभूत नहीं है। भगवान आत्माके अतिरिक्त कोई भी तुझे शरणभूत नहीं है, ऐसा जानना-मानना और उसमें स्थिर होना ही शरणभूत है।

कषायके चार प्रकार हैं—क्रोध-मान-माया और लोभ। इनमेंसे क्रोध और मान द्वेषमें, तथा माया और लोभ रागमें समाविष्ट होते हैं। चारों कषाय आत्माके नहीं हैं वे पुद्गलके परिणाम हैं। उनका अनुभव चैतन्यके अनुभवसे भिन्न है। कषाय चैतन्यकी अवस्थामें होते हैं किन्तु चैतन्यका स्वभाव नहीं है, इसलिये वह पुद्गल परिणाम है।

जब पिता पुत्रको साथमें रखना चाहता है तब बड़े प्यारसे 'मेरा पुत्र, मेरा पुत्र' कहा करता है, और जब अलग करना चाहता है तब भाव बदल जाते हैं, मानों वह उसका पुत्र ही नहीं है। इसीप्रकार आत्मा अज्ञानावस्थामें कषायोंको अपना मानता है, किन्तु जहाँ ज्ञान हुआ कि भावोंमें भेद आ जाता है कि यह क्रोधादिक मेरे नहीं हैं।

अज्ञानी जीव अज्ञानवश यह मानता है कि यह मेरा ग्राम है, यह मेरा मुहल्ला, यह मेरी गली है, और यह मेरा मकान है; किन्तु हे भाई! क्या यह सब कभी किसीके हुए हैं? जैसे 'घीका घड़ा' मात्र बोलनेकी एक रीति है, कहीं घड़ा घीका नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा शरीरवान है यह भी एक बोलनेकी रीति है; आत्मा कभी शरीरी नहीं होता। क्रोधादि कषाय भी आत्माके नहीं हैं क्योंकि वे सब पुद्गलके परिणाम हैं। यह द्रव्यदृष्टिसे कथन है। वह आत्माकी पर्यायमें होती है किन्तु द्रव्यके स्वभावमें नहीं होती इसलिये जड़ कहा है। क्रोधादिका विकार त्रिकाल मेरे स्वभावमें नहीं है ऐसी दृष्टिके बलसे वह छूट जाता है, इसलिये उसे जड़ कहा है।

योग = आत्मप्रदेशोंके कम्पनको योग कहते हैं। जहाँ प्रदेशोंका कम्पन होता है, वहाँ कर्मके रजकण आत्मामें प्रवेश करते हैं। जब आत्मप्रदेश अस्थिर होते हैं तब कर्मके रजकण आत्मप्रदेशमें बँधते हैं। केवलज्ञानियोंके भी आत्मप्रदेशोंका कम्पन होता है, इसलिये वहाँ भी एक समयका आस्रव मात्र होता है।

जब घीमें मैल होता है तब घी मलिन दिखाई देता है, किन्तु उसके दूर हो जाने पर निर्मल दिखाई देता है, इसीप्रकार आत्मामें जब आस्रवका मैल होता है तब मलिन दिखाई देता है, किन्तु उसे दूर करने पर निर्मलता प्रगट हो जाती है। वे सब मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योगरूप आस्रव पुद्गलके परिणाम हैं, वे आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं। आत्माके वेदनसे वह वस्तु भिन्न है। आत्मानुभवके समय वे आस्रव छूट जाते हैं, अनुभवके समय उस आस्रवकी कोई वस्तु साथमें नहीं आती, इसलिये आत्माके वेदनसे वे सब वस्तुएँ भिन्न हैं।

जब जन्म हुआ तब शरीरका कोई नाम नहीं था, किन्तु माँ-बापने शरीरका नाम रख दिया और उसे यह मालूम हो गया कि यह मेरा नाम है, फिर वह उस नामका ऐसा अभ्यासी हो गया कि जहाँ उसे किसीने बुलाया कि पन्नालाल! तो तत्काल दृढ़ता पूर्वक उत्तर देता है कि 'जी'! किन्तु यदि कोई उसके आत्माको बुलाये कि हे आत्मन्! तो उसका कोई उत्तर नहीं देता, क्योंकि उसे यह खबर ही नहीं कि स्वयं कौन है। वह अपनेको भूला हुआ है, और पर-शरीरके नामका अभ्यासी हो गया है। किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू अपनेको भूल गया सो क्या यह तेरा लक्षण है? जैसे यदि पुत्रके बुरे लक्षण हो गये हों तो उसे पिता समझाते हुये कहता है कि बेटा! तुझे ऐसे उल्टे लक्षण शोभा नहीं देते। इसी प्रकार आत्मा, यह शरीर मेरा है, प्रतिष्ठा मेरी है, राग मेरा है, इत्यादिरूपसे परको अपना मानकर विपरीत मान्यता, अविरति और कषाय इत्यादिके विपरीत लक्षणमें रत हो रहा है, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि यह तेरे आत्माका लक्षण नहीं है, भगवान आत्मा ज्ञानलक्षणयुक्त जागृतज्योति चैतन्य-स्वरूप है, और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग यह चारों आस्रव पुद्गलके परिणाम हैं, इसलिये जड़ हैं, यह आस्रव चैतन्यके अनुभवसे भिन्न है, चैतन्यका अनुभव चैतन्य स्वरूपसे शुद्ध है।

अब तेरहवीं बात कहते हैं—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप जो आठ कर्म हैं, सो वे भी जीवके नहीं हैं। आठों कर्म आत्मासे बाह्य हैं, वे आत्माके भीतर प्रविष्ट नहीं हैं, परन्तु वे बाह्य निमित्तरूप अवश्य हैं। यदि बाह्य निमित्तरूप न हों और ज्ञानकी हीनादिक अवस्था न होती हो तो समस्त जीवोंमें ज्ञानके विकासका जो अन्तर दिखाई देता वह नहीं दिखना चाहिये।

ज्ञानावरणीय कर्मः—

किसी मनुष्यकी बुद्धि ऐसी तीव्र होती है कि वह जो कुछ एक बार पढ़ लेता है वह सबका सब याद हो जाता है, और किसीकी बुद्धि इतनी मन्द होती है कि वह वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी अक्षर-ज्ञान नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि तीव्रबुद्धि-मनुष्यने पहले कषाय कम की थी इसलिये उसके ज्ञानावरणीय कर्मका कम बन्ध हुआ, और इसीसे वर्तमानमें ज्ञानका विकास अधिक दिखाई देता है; और मन्दबुद्धि-मनुष्यने पहले कषाय अधिक की थी इसलिये ज्ञानावरणीय कर्मका अधिक बन्ध हुआ था जिससे उसके ज्ञानका विकास बहुत कम दिखाई देता है। श्रीमद्‌राजचन्द्रजी किसी भी पुस्तकको एकबार पढ़कर याद कर लेते थे; उन्होंने मात्र सोलह वर्षकी आयुमें 'मोक्ष माला' आदिकी ऐसी सुन्दर रचना की थी कि पचास वर्षका साधु भी नहीं कर सकता। उनका ऐसा बहुत अच्छा ज्ञानका विकास था, इसप्रकार कम-बढ़ विकास होना पूर्वकृत ज्ञानावरणीय कर्मके अधिक या कम बन्ध पर आश्रित है। सम्यक्‌ज्ञान प्रगट करना अपने वर्तमान पुरुषार्थके आधीन है। सम्यक्‌ज्ञान पूर्वकृत विकासके अनुसार नहीं होता, किन्तु अपने वर्तमान पुरुषार्थसे ही होता है।

सबके ज्ञानका विकास एक-सा नहीं, किन्तु कम-बढ़ दिखाई देता है, इससे ज्ञानावरणीय कर्म सिद्ध होता है। जब अपने ज्ञानकी अवस्था हीन परिणमित होती है तब ज्ञानावरणीय कर्मको निमित्त कहा जाता है, किन्तु वह कर्म आत्माके स्वभावमें नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्मः—

दर्शन सामान्य एकरूप देखता है। यह चैतन्य भिन्न है, और जड़ भिन्न है, ऐसे भेद करके अर्थात् विशेष करके न देखे किन्तु जड़ सामान्य एकरूप अभेद देखे सो दर्शन है। यह प्रतीतिरूप दर्शनकी बात नहीं, किन्तु अवलोकनरूप दर्शनकी बात है। ऐसा दर्शनका व्यापार ज्ञानी-अज्ञानी सबके होता है। छद्मस्थ दशामें प्रथम दर्शनोपयोग होता है। उसका काल अंतर्मुहूर्त है। किसी भी वस्तुका ज्ञान होता है उसके पूर्वकी दशा छद्मस्थ जीवका दर्शनोपयोग है।

(१) जब बालकका जन्म होता है, तब तत्काल ही उसे सब एक-सा मालूम होता है, सामान्य भेद किये बिना सब एक समान मालूम होता है, किन्तु जब उसे पालनेमें सुलाते हैं तब उसे उसके स्पर्शका अनुभव होता है, और वह रोने लगता है, इसप्रकार उसे भेद करके ज्ञान होता है।

(२) जब कोई अपनेको नाम लेकर बुलाता है, तब उसे जाननेसे पूर्व उस ओर उपयोग उन्मुख होता है, वह सामान्य-दर्शन है, तत्पश्चात् यह जान लिया कि कौन बुला रहा है, सो यह विशेष ज्ञान है।

इन दृष्टान्तोंसे यह ज्ञात होता है, कि एक वस्तुको जानते हुए उस ओरसे दूसरी वस्तुको जाननेकी ओर जो उपयोग जाता है, उसमें उस दूसरी वस्तुको जाननेसे पूर्व होनेवाला उपयोगका व्यापार दर्शनोपयोग है। एक विचारमेंसे दूसरे विचारकी ओर उपयोग जाते हुए दूसरे विचारमें उपयोग पहुँचनेसे पूर्व होनेवाला बीचका व्यापार दर्शनोपयोग है। पर विषयसे रहित मात्र आत्माका सामान्य व्यापार दर्शनोपयोग है। सामान्य एकरूप चैतन्यव्यापार दर्शन है, और विशेष भेद करके जानना सो ज्ञान है। दर्शनगुणको आवरण करनेवाला दर्शनावरणीय कर्म है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

वेदनीय कर्मः—साता और असाताके भेदसे वेदनीय कर्मके दो प्रकार हैं। पूर्वभवमें हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिके अशुभ परिणाम हुए हों तो उनके निमित्तसे असाता वेदनीय कर्मका बन्ध होता है, और

किन्तु यह साता वेदनीय कर्म संयोग मात्र है। यह सातामें सुख मानना या न होना आत्माके गुणको घात है। असाता वेदनीय कर्म ऐसी सामग्रीका संयोग कराता है, किन्तु उस प्रतिकूलताका प्रतिकार करना या न करना आत्माके गुणको घात है। उस प्रतिकूलताके संयोगको इन्द्र, नरेन्द्र या धरणेन्द्र कोई भी टालनेको समर्थ नहीं है।

पूर्वभवमें दया, दान या व्रत इत्यादिके शुभभाव किये थे तो उसके निमित्तसे साता वेदनीय कर्मका बन्ध होता है। साता वेदनीय कर्म साताका संयोग कराता है, किन्तु उसमें अनुकूलता मानना या न मानना आत्माके गुणको घात है। और पाँवसे ठोकर मारे और सोने-चाँदीका भण्डार निकल आवे तो वह पुण्यका संयोग है, किन्तु उसमें सुख मानना आत्माके गुणका अनादर है। साता-असातावेदनीय कर्म आत्माका स्वभाव नहीं है, वह तो पुद्गलका परिणाम है। धर्मात्माको भी कभी बाहरसे असाताका और कभी साताका संयोग होता है, किन्तु यह सब पूर्वकृत कर्मानुसार होता है। महापापीको भी रोग न हो, और धर्मात्माको रोग हो, तो यह सब पूर्वकृत कर्मप्रकृतिका संयोग है। सनत्कुमार चक्रवर्तीको मुनि होने पर भी सातसौ वर्ष तक गलित कोढ़का भयंकर रोग रहा था, किन्तु वे ऐसी प्रतीतिपूर्वक आत्मसमाधिमें -आत्मानन्दमें लीन रहे कि रोग मेरा स्वरूप नहीं है, यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं तो परसे भिन्न चिदानन्द आत्मा हूँ। ऐसे भानपूर्वक आत्माकी समाधि, आनन्द, लीनताको रोग नहीं रोक सकता। इसप्रकार धर्मात्मा चक्रवर्तीके शरीरमें मुनि होते हुए भी ऐसा रोग था, और उधर नित्य पशुवध करनेवाले कसाईका शरीर निरोग हो सकता है, यह पापानुबन्धी पुण्यका फल है। पूर्वभवमें कषायोंको कुछ मन्द किया और उसमें अभिमान किया था, जिसके फलस्वरूप कषायोंको मन्द करनेसे मनुष्य हुआ और निरोग शरीर मिला, किन्तु वह मरकर नरकमें जानेवाला है सो यह पापानुबन्धी पुण्य है। साता और असाता-वेदनीय कर्म आत्मामें नहीं है, वह संयोगी वस्तु है, आत्माका स्वभाव नहीं है।

मोहनीय कर्मः—इस कर्मकी २८ प्रकृतियाँ हैं; जब आत्मा भ्रान्तिकी अवस्थामें प्रवर्त्त होता है तब यह कर्म निमित्त होता है।

काम, क्रोधादिके भाव स्वयं करता है, तब यह कर्म निमित्त होता है, किन्तु वास्तवमें मोहनीय कर्म आत्मामें नहीं है। और जो आत्मामें नहीं है, वह आत्माको हानि कैसे करेगा? आत्मामें मोहकर्म नहीं है, तथापि यह माने कि मुझे मोहकर्म हानि पहुँचाता है—तो ऐसी विपरीत मान्यताके लिये भी जीव स्वतन्त्र है। किन्तु त्रैकालिक अकषाय ज्ञानतत्त्वको देखो तो वास्तवमें मोहनीय कर्म आत्मामें है ही नहीं, इसप्रकार मोहका विश्वास न करना और आत्माका विश्वास करना ही आत्माका स्वरूप है।

आयुकर्म:—शरीरकी स्थितिका नाम आयु है। आयुकर्म भी आत्माके नहीं है, वह तो अक्षयस्थितिस्वरूप है। शरीरकी स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा उससे अलग हो जाता है, उसके बाद वह एक समयको भी नहीं रुक सकता। जितनी शारीरिक स्थिति (आयु) पहलेसे लेकर आया है उसमें एक पलभरकी भी घटा-बढ़ी कोई नहीं कर सकता। चाहे जितना उपाय किया जाये किन्तु शरीरकी स्थिति जो बँध जाती है, उसी प्रकार रहती है, उसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता।

कुछ लोग कहा करते हैं कि पर्वतकी अमुक गुफामें ५०० या ७०० वर्षके योगी विद्यमान हैं, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है, वर्तमानमें इतनी आयु नहीं होती। कुछ लोग कहा करते हैं कि श्वास-निरोध करके बैठनेसे मरण नहीं होता, किन्तु यह भी व्यर्थ है। चाहे जितना श्वासनिरोध करे, किन्तु जब आयुस्थिति पूर्ण होना होगी, तब वह पूर्ण हुए बिना नहीं रहेगी। आयु कोई कम-बढ़ नहीं कर सकता। जब सर्प काटता है और मनुष्य मर जाता है तब लोग यह समझते हैं कि बेचारा बेमौत मर गया; किन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि जब आयु पूर्ण हो रही हो तो विष चढ़ जाता है और वह मर जाता है; यदि आयु शेष होती है तो विष उतर जाता है और वह जीवित रहता है, इसप्रकार आयुकी स्थितिके अनुसार ही सब कुछ होता है।

आयुकर्मके चार प्रकार हैं—मनुष्यायु, देवायु, तिर्यंचायु और नरकायु। यह आयुकर्म भी आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गलका परिणाम है। ऐसे पृथक् आत्माकी श्रद्धा कर, यही तेरा स्वरूप है।

नामकर्मः—शारीरिक बाह्य संयोगोंका मिलना, शरीरादिकी रचना-का होना, अच्छा कण्ठ मिलना, शरीरकी हड्डियोंका सुदृढ़ होना, यश-अपयशका होना, शरीरके विविध आकारोंका होना, इत्यादि सब नाम-कर्मका फल है। नामकर्मकी ९३ प्रकृतियाँ हैं। वह सब पुद्गलके परिणाम हैं, आत्माका स्वरूप उनसे भिन्न है।

गोत्रकर्मः—ऊँच-नीच कुलमें जन्म लेनेमें गोत्र कर्म कारण है। किसीका जन्म भंगीके यहाँ होता है, तो किसीका ब्राह्मणके यहाँ। वह गोत्रकर्म आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्मा भंगी या ब्राह्मण नहीं है। यह सब गोत्रकर्मके कारण प्राप्त बाह्य फल है, यह पुद्गलके परिणाम हैं, मैं आत्मा तो ज्ञानानन्द हूँ, ऐसा विश्वास कर। गोत्र तो अनन्तबार आये और गये, किन्तु आत्मप्रतीतिके बिना गोत्रको अपना माना इसलिये चौरासीमें भ्रमण करना पड़ा; इसलिये संयोगीदृष्टिका त्याग कर और चिदानन्द भगवान आत्मा पर ही दृष्टि रख तथा उसीकी श्रद्धा कर।

अंतराय कर्मः—जो कर्म दानादिक करनेमें विघ्न डालता है, सो वह अंतराय कर्म है। इसके पांच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म। यह अंतराय कर्म भी तुझमें नहीं है। तेरा स्वरूप आनन्दघन, अनन्त वीर्यसे परिपूर्ण है, यह विचारकर पुरुषार्थ करके वीतरागता प्रगट कर। अन्तराय कर्म जड़ है वह तुझमें नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि हमारे पास सम्पत्ति तो है, किन्तु दानान्तराय कर्म टूटे तो दान दिया जाये? किन्तु यह सब व्यर्थ है यदि तू तृष्णा कम करे तो दानान्तराय कर्म बाधक नहीं हो सकता स्वयं पुरुषार्थ करके आत्माकी यथार्थ प्रतीति करना सो स्वयं अपने को दान देना है, यह अभ्यन्त दान है।

लाभान्तराय कर्मका उदय आत्मामें नहीं है, लाभान्तराय कर्मका उदय हो तो बाह्य वस्तु न मिले, किन्तु अंतरंग-आत्मामें लाभ लेनेमें लाभान्तराय कर्म बाधक नहीं होता। किन्तु बाह्यमें रुपया पैसा न मिले बाह्य अनुकूलता न मिले इत्यादि सब लाभान्तराय कर्मका उदय है आत्माका परिचय करके निजानन्द स्वरूप प्रगट करनेमें लाभान्तराय क

बाधा नहीं देता। लाभान्तराय कर्म जड़ है, वह आत्मामें नहीं है।

जिसका एकवार भोग किया जाय वह भोग है। भोगान्तराय कर्म आत्माके पुरुषार्थ करनेमें बाधा नहीं देता, और वह आत्माका आनंद लेनेमें भी बाधक नहीं होता; किन्तु वह बाह्य संयोगोंमें बाधक होता है। महान सम्पत्तिशाली होने पर भी शारीरिक रोगके कारण दो रोटियां भी न खा सके तो यह भोगान्तराय कर्मका उदय है। उसके उदयके समय शांति रखनेमें भोगान्तराय कर्म बाधा नहीं डालता।

जो बारंबार भोगा जा सके वह उपभोग है। आत्माके एक गुणकी अनन्त पर्यायें होती हैं, इस अपेक्षासे गुण बारम्बार भोगा जाता है। उपभोगान्तराय कर्म आत्माके आनन्दको बारम्बार भोगनेमें बाधा नहीं देता, आत्माके आनन्दका बारम्बार भोग करना सो उपभोग है। बाह्य वस्तु बारम्बार न भोगी जा सके सो उपभोगान्तराय कर्मका उदय है, किन्तु वह उपभोगान्तराय कर्म आत्मस्वरूपको बारम्बार भोगनेसे रोकता नहीं है। स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता तव उपभोगान्तराय कर्मको निमित्त कहा जाता है।

वीर्यान्तराय कर्म जड़ है। यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो वह बाधक नहीं होता, किन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ न करे तो वीर्यान्तराय कर्मको निमित्त कहा जाता है। अंतराय कर्म तेरा स्वरूप नहीं है।

संसारी जीवके साथ आठ कर्म लगे हुए हैं, उनकी १४८ प्रकृत्तियाँ हैं, एक एक प्रकृति अनंत परमाणुओंका पिंड है। आत्माके आवृत होनेमें आत्मासे विरुद्ध प्रकारके रजकण ही निमित्त होते हैं।

आचार्यदेवने ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म कहकर, आठों कर्म हैं—ऐसा व्यवहार कहा है। यद्यपि वे सब कर्म हैं अवश्य, किन्तु वे आत्मामें नहीं हैं। और उन कर्मोंके निमित्तसे आत्मामें होनेवाली ज्ञानादिगुणकी अपूर्ण अवस्था भी है, परन्तु वह आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

अब चौदहवीं बात कहते हैं—

जो पर्याप्ति, योग्य और तीन शरीरके योग्य वस्तु (पुद्गल स्कन्ध) रूप नोकर्म है सो सब जीवके नहीं है। क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न है। आहार, शरीर, इन्द्रिय,

श्वासोच्छ्वास भाषा और मन यह छह पर्याप्तियां हैं। जब जीव माताके उदरमें आता है तब पर्याप्ति बँधती हैं, इसलिये वह पुद्गलका स्वरूप है, आत्माका स्वरूप नहीं। इसप्रकार शरीर, आहार ग्रहण, भाषाका बोलना इत्यादि सब आत्माका स्वरूप नहीं है। भीतर जो आठ पँखुड़ियोंके कमलके आकार मन है, वह भी पुद्गलकी रचना है आत्माकी नहीं। आत्माके अतिरिक्त बाहरका जो जो संयोग मिलता है, वह सब पुद्गलका स्वरूप है आत्माका नहीं। इसप्रकार ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरता करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे।

आहार लेना, श्वासोच्छ्वास लेना, भाषा बोलना, इत्यादि छह पर्याप्तियाँ प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रियके बँधती हैं, जोकि सब पुद्गलकी रचना है, वे पर्याप्तियाँ आत्मामें नहीं हैं। आत्मा आहार नहीं लेता, श्वासादिको नहीं हिलाता, भाषा नहीं बोलता, आत्माके लिये मन सहायक नहीं है, आत्माके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं। आत्माका स्वरूप ऐसा निराला है, किन्तु जो अभिमान करता है कि—यह सब मेरा है, मैं इसका कर्ता हूँ, सो मिथ्यात्व है। मात्र जो वस्तु संबंध रूपसे पाई जाती है, उसे अपने रूप माने तब तक हित नहीं होता। संयोगी वस्तुके साथ आत्माका वास्तवमें संबंध है ही नहीं। परवस्तु स्वतन्त्र परिणामी द्रव्य है, उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिये अपने स्वाधीन तत्त्वकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रमणता करता सो यही मोक्षका कारण और हितका उपाय है।

पहले जो पाँच शरीरोंकी बात आयी थी, उसमें शरीरकी बात कही गई है, और इस पर्याप्तिके कथनमें औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीर योग्य पुद्गलोंको लिया है। छह पर्याप्ति योग्य और तीन शरीर योग्य, वस्तुरूप नोकर्म है, ऐसा कहा है। पहले माताके उदरमें शरीर, इंद्रिय इत्यादिके सूक्ष्म पुद्गल बँधते हैं। छह पर्याप्तियाँ और तीन शरीर बँधते हैं यह कहकर आचार्यदेवने व्यवहार कहा है, और छह पर्याप्ति योग्य होनेकी चैतन्यकी अवस्था भी है ही। इसप्रकार चैतन्यकी अशुद्ध अवस्थाका व्यवहार बताया है, परन्तु वह सब आत्माके नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

अब पन्द्रहवीं बात कहते हैं—जो कर्मोंके रसकी शक्तियोंके (अविभाग प्रतिच्छेदोंके) समूहरूप वर्ग है, वह सब जीवके नहीं है, क्योंकि

वह पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न है।

जब आत्मा शुभाशुभभाव करता है तब कर्मबन्ध होता है। कर्मपरमाणुओंमें जो रस देनेकी (फल देनेकी) शक्ति बँधती है, उसे अनुभाग-(रस) कहते हैं। प्रत्येक कर्मके रजकणमें फल देनेकी शक्ति है। जिन रजकणोंमें समान फल देनेकी शक्ति होती है, उसे अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं। उन अविभाग प्रतिच्छेदोंके समूहको वर्ग कहते हैं। अनुकूलताका मिलना और प्रतिकूलताका दूर होना इत्यादि सब कर्म-रसका फल है। कर्मोंके रसकी शक्ति परमाणुकी अवस्था है, जड़की अवस्था है। आत्मा इनसे भिन्न है, इस प्रकारकी प्रतीतिका होना हित और सुखका मार्ग है।

कर्मरसके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें यह कहा गया है कि कर्मरस आत्माको अनुभवरस लेनेसे रोकता नहीं है, किन्तु तू अपने पुरुषार्थकी मंदतासे अटक जाता है। यद्यपि कर्मरसके अविभाग-प्रतिच्छेद हैं अवश्य, किन्तु वे किसीको पुरुपार्थ करनेसे नहीं रोकते। कर्म रस कहकर आचार्यदेवने सर्वज्ञ भगवानके श्रीमुखसे निकला हुआ व्यवहार बताया है। यह सारा कथन करके आचार्यदेवने जैनदर्शनका सम्पूर्ण व्यवहार उपस्थित किया है। सर्वज्ञ भगवानके श्रीमुखसे विनिर्गत ऐसा व्यवहार जैनदर्शनके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

अब सोलहवें कथनमें कहते हैं कि—उन वर्गोंके समूहरूप वर्गणा" जीवके नहीं है।

समान शक्तिवाले वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। भगवान आत्मा वर्गणाके समूहरूप नहीं है, वर्गणा पुद्गल द्रव्यकी रचना है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्थिर होना सो मोक्षका उपाय है।

सत्रहवें कथनमें स्पर्धककी बात है। मन्द-तीव्र रसयुक्त कर्म-दलोंके विशिष्ट न्यासरूप (वर्गणाओंके समूहरूप) स्पर्धक जीवके नहीं हैं। यहाँ न्यास (जमाव) कहकर यह कहा है कि कोई तीव्र रससे कोई मन्द रससे या ऐसे ही अनेकानेक प्रकारसे भिन्न भिन्न कालमें बांधे गये कर्म सब एक साथ उदयमें आ जायें, सो उसे न्यास कहते हैं। इन परमाणुओंके स्पर्धक रूपी हैं और भगवान आत्मा अरूपी है। वे स्पर्धक पुद्गलद्रव्यकी रचना हैं। भगवान आत्मामें वे स्पर्धक नहीं हैं, वे सब पुद्गलके समूह आत्मामें नहीं हैं। आत्माका अनुभव उससे भिन्न है।

अब अठारहवें कथनमें अध्यात्मस्थानकी बात है। जब स्व-परका एकत्व अध्यास हो, तब विशुद्ध चैतन्यपरिणामसे पृथक्त्व जिनका लक्षण है, ऐसे अध्यात्मस्थान जीवके नहीं हैं।

अध्यात्मस्थान अर्थात् अध्यवसाय और अध्यवसाय अर्थात् विकारीभाव। मूल पाठमें जो विशुद्ध शब्द है, उसका अर्थ शुभ परिणाम नहीं है। किन्तु वहाँ शुद्ध स्वभावकी बात है। उस विशुद्ध परिणामसे भिन्न जो पुण्य, पाप, शरीर, वाणी और मनकी क्रिया है उसे और अपने आत्माको एकरूप माननेका अध्यवसाय विपरीत अध्यवसाय है।

शरीर, वाणी और बाह्य निमित्त मेरी सहायता करेंगे, ऐसा भाव अध्यवसाय है। जब तक वह भाव होता है, तब तक कर्मबन्ध करता है और संसारमें परिभ्रमण करता है। स्व-परके एकत्वका भाव अध्यवसाय है। निर्मल पवित्र स्वभावको भूलकर परको अपना मानना सो विपरीत पुरुपार्थ है, कृत्रिम भाव है। आत्मा आनन्दघन, टंकोत्कीर्ण अकृत्रिम स्वरूप है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणताको भूलकर परमें एकत्वबुद्धि करना सो अध्यवसाय है, वह अध्यवसाय आत्माके स्वभावमें नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं। अध्यवसाय अपनी चैतन्यकी अवस्थामें होता है, किन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है।

स्व-परके एकत्वके अध्यासवाले विकारी परिणामोंसे चैतन्यके निर्मल परिणाम भिन्न हैं। विकारी परिणाम लक्ष्य है, और निर्मल चेतनापरिणामसे भिन्न उसका लक्षण है। आत्मा लक्ष्य है और निर्मल चेतनापर्याय उसका लक्षण है। चैतन्यके निर्मल परिणामसे अध्यवसायका भिन्न लक्षण है। वे सभी अध्यवसायस्थान जीवके नहीं हैं। स्व-परके एकत्वकी बुद्धिको ही मुख्यतया अध्यवसाय कहते हैं। अस्थिरताके अध्यवसायको मुख्यतया अध्यवसाय नहीं कहते। आचार्यदेवने पृथक्त्व लक्षण बताकर यह बताया है कि यह अध्यवसानस्थान अवश्य हैं, और इसप्रकार व्यवहार बताया है; किन्तु वे परिणाम आत्माके निर्मल परिणामोंसे भिन्न हैं, यह कहकर परमार्थ बताया है। अध्यवसाय चैतन्यकी अवस्थामें होता है, पुद्गलके परिणामोंमें नहीं; किन्तु उस अध्यवसानका पुद्गलकी ओर झुकाव है, इसलिये उसे पद्गल परिणाम कहा है।

परको अपने रूप माने और परसे अपनेको लाभ-हानि होना माने सो यह वीतरागमार्ग नहीं है। आत्मा अखण्ड ज्ञानमूर्ति स्वतन्त्र स्वभाव है; उसका परसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध मानना सो भगवान सर्वज्ञका परमार्थ मार्ग नहीं है, किन्तु वह अपनी स्वच्छन्दतासे माना हुआ मार्ग है। भीतर एक भी पुण्य-पापकी वृत्ति उत्पन्न हो वह मेरी है, और मैं उसका हूँ इसप्रकार एकमेक रूपसे मानना सो मिथ्या अध्यवसाय है, विपरीत शल्य है, वह भगवान आत्माका स्वभाव नहीं, और वह वीतरागमार्ग नहीं है। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञानके होने पर अपना स्वभाव ही अपना माना जाता है, और परका स्वभाव पर ही माना जाता है। अपने स्वभावको पररूप और परके स्वभावको अपनेरूप न माने सो ऐसी निर्मल श्रद्धा-ज्ञान ही मोक्षका सर्व प्रथम उपाय है।

अब उन्नीसवीं बात कहते हैं—भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके रसका परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे अनुभागस्थान समस्त जीवोंके नहीं हैं, अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्ति। भिन्न प्रकृतियोंमें भिन्न भिन्न रस होता है। किसी कार्यकी स्थिति कम और रस अधिक होता है, किसी प्रकृतिका रस कम और स्थिति अधिक होती है। जैसे—शरीरमें कहीं छोटीसी फुन्सी हुई हो, और उसकी पीड़ा अधिक किन्तु स्थिति कम हो। और कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनकी स्थिति अधिक, और रस थोड़ा हो, वे सब प्रकृतियाँ विपरीत मान्यताके कारण कषायभावसे बँधती हैं, वह सब रजकणकी अवस्था है, वह सम्पूर्ण राग पर्याय शरीरमें होती है, आत्मामें नहीं। फल देनेकी शक्ति कर्ममें होती है, आत्मामें नहीं। प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध, और अनुभागबंध पुद्गलकी रचना है, आत्मस्वभावकी नहीं। आत्मस्वभावकी रचना ज्ञान और आनन्द है। जैसे पुद्गलमें अनुभाग है उसी प्रकार आत्मामें भी है। आत्माका अनुभाग अर्थात् आत्मामें आनन्दरस है, वह रस परसे भिन्न अलौकिक है, वह पुद्गलके जड़ अनुभागसे सर्वथा भिन्न है। पुद्गलका अनुभाग जड़ है।

अब बीसवीं बात कहते हैं—कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाओंका कम्पन जिसका लक्षण है, ऐसे योगस्थान भी समस्त

जीवके नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे अनु-भूतिसे भिन्न हैं।

आत्मामें योगके निमित्तसे कम्पन होता है। मनोयोग, वचन-योग और काययोगका जो कम्पन कहा है या निमित्तको योग कहा है, आत्मामें जो इन तीनों योगके आलम्बनसे आत्मप्रदेशोंका कम्पन होता है। प्रदेशोंका कम्पन होना भी आत्माका स्वभाव नहीं, किन्तु विकारी भाव है।

नावके ऊपरका पाट घूमता है तब उस पर बैठी हुई मक्खी भी घूमती हुई मालूम होती है, किन्तु वास्तवमें मक्खी अपनी जगह नहीं बदलती, पाटके घूमनेसे ही वह भी घूमती हुई दिखाई देती है। इसीप्रकार आत्मा हिलता नहीं है, किन्तु मन, वचन, कायके योगका पाट फिरता है—कांपता है, इसलिये साथ ही आत्मा भी हिलता हुआ, कांपता हुआ प्रतीत होता है, और उसका आकार होता हुआ दिखाई देता है। कम्पन आत्माका स्वरूप नहीं है। मन-वचन-कायका कम्पन पर है, उसके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका कम्पन होता है, वह आत्माका मूल स्वरूप नहीं है, किन्तु परनिमित्तसे होनेवाला योगगुणका विकार है। प्रदेशोंका कम्पन आत्माका स्वभाव नहीं, किन्तु जड़के निमित्तसे होनेवाला विकार है, इसलिये वह जड़ है, आत्माके घरका नहीं है। जिसे निराला आत्मस्वरूप जानना हो, वह इस भिन्नताको जाने बिना सत्के मार्ग पर नहीं जा सकेगा।

अब इक्कीसवीं बात कहते हैं—भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा बन्धस्थान सभी जीवोंके नहीं हैं, भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम होनेका कारण जीवमें होनेवाले विविध प्रकारके विकारी परिणाम हैं। जीवमें जैसे भिन्न भिन्न प्रकारके परिणाम होते हैं, वैसे जड़में भी भिन्न भिन्न प्रकारके प्रकृतिके परिणाम होते हैं, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई किसीका कर्ता नहीं सब अपने अपने कारणसे स्वतन्त्र परिणमित होते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रकृतियाँ सब पुद्गलमय हैं और जीवके विकारी परिणाम भी पुद्गलकी ओरके हैं, इसलिये वे भी पुद्गलके परिणाम कहे गये हैं।

प्रकृतिका बन्ध पुद्गलमें होता है। बन्ध आत्मामें नहीं होता।

बंध होना पुद्गलका स्वभाव है, आत्माका नहीं। बन्ध और आत्माकी विकारी पर्यायका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध भी आत्माकी स्वभावदृष्टिसे नहीं है। वह बन्ध पुद्गलका स्वभाव है, और भाव-बन्ध जीव पर्यायकी योग्यता है। आत्मअनुभव उस बन्धसे अलग है।

बाईसवाँ कथनः—अपने फलको उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्म अवस्था जिनका लक्षण है, ऐसे उदयास्थान भी जीवके नहीं हैं, किन्तु वे रजकणोंमें फलते हैं, आत्मामें नहीं। वे कर्म अपनेमें फल उत्पन्न करनेको समर्थ हैं परमें नहीं। उनकी शक्ति आत्मामें फल उत्पन्न करनेकी नहीं है। कर्म स्वयं अपनी अवस्थाएँ उत्पन्न करते हैं आत्माकी नहीं। कर्मोके फलका आत्मामें कोई असर नहीं होता। एक तत्त्वका फल दूसरे तत्त्वमें कभी नहीं हो सकता। कर्मकी अवस्था न तो आत्मामें आ सकती है, और न आत्माकी कार्यमें, यदि वस्तुदृष्टिसे देखा जाये तो दोनोंकी अवस्थायें भिन्न भिन्न हैं। १४८ प्रकृतियोंके उदयकी अवस्था सब जड़की है। अज्ञानी मान रहा है कि कर्म फल देते हैं, तब राग-द्वेष होता है, किन्तु कर्मका फल जड़में होता है, और राग-द्वेष तेरे आत्माकी पर्यायमें होते हैं, इसलिये कर्मफल तुझे राग-द्वेष नहीं कराता, किन्तु तू ही विपरीत मान्यतामें युक्त हो जाता है, तब राग-द्वेष होता है। जब राग-द्वेष आत्माकी अवस्थामें होता है, तब कर्म फल मात्र निमित्तरूपसे विद्यमान होता है इसलिये यदि वस्तु-दृष्टिसे देखा जाये तो कर्मका फल आत्मामें नहीं आता कर्मका फल आत्माका लक्षण नहीं किन्तु ऐसे पृथक् तत्त्वका श्रद्धान्-ज्ञान करना आत्माका लक्षण है। आत्माका ज्ञान-आनन्द-रमणता इत्यादि स्वरूप आत्मामें है, ऐसा भेदज्ञान करना ही मुक्तिका उपाय है।

तेईसवाँ कथन—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है, वे मार्गणास्थान भी समस्त जीवोंके नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके परिणाममय हैं, इसलिये आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं। इन चौदह मार्गणाओंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

गतिका फल जड़में होता है, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैं गति

[illegible]

[illegible] यह कहा जाता है कि मनुष्य गतिके बिना मोक्ष नहीं होता, केवलज्ञान नहीं होता और मनुष्य गतिमें ही मोक्ष होता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ज्ञान गतिमेंसे नहीं, किन्तु स्वभावसे होता है। ऐसे तो मनुष्य गति अनन्तबार मिल चुकी, तथापि मोक्ष नहीं हुआ इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य गति मोक्ष नहीं देती, किन्तु जब स्वभाव जागृत होता है तब मोक्ष होता है। हाँ, इस सम्बन्ध अवश्य है कि जब मोक्ष होता है, तब मनुष्य गति निमित्त होती है; किन्तु गति मोक्ष नहीं देती, इसलिये चारों गतियाँ आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा गतिवान हो तो वह गति रहित नहीं हो सकेगा। गति जड़ है और आत्मासे भिन्न है।

पंचेन्द्रियाँ भी जड़ हैं, जड़का स्वभाव है। यह तो अपनी आँखोंसे ही दिखाई देता है कि इन्द्रियाँ जड़ हैं तथा उन्हें अपना मानना सो स्पष्ट भूल है। यह जो इन्द्रियाँ दिखाई देती हैं वे पुद्गल परमाणुओंका पिंड हैं, चैतन्यका स्वभाव नहीं। जो वस्तु अपनी होती है, वह कभी छूटती नहीं है, किन्तु इन्द्रियाँ तो छूट जाती हैं, इसलिये वे अपनी नहीं किन्तु पर हैं, जड़ हैं, चैतन्यका अनुभव उनसे भिन्न है।

अनन्त कालसे असत्‌के मार्गमें भटक रहा है, इसलिये चौरासीके चक्करमें फँस रहा है। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण, शरीर जड़ हैं। उन शरीरोंको अपना मानना, विपरीत दृष्टि है आत्मा

ज्ञानमूर्ति है, उसे न मानकर दूसरेको अपना मानना, संसारमें परिभ्रमण करनेका मार्ग है।

योग भी आत्माका स्वभाव नहीं है, और वह आत्मामें नहीं है। योगके पन्द्रह प्रकार हैं। उनका व्यापार आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें परका निमित्त होता है। इसलिये योग जड़ है, वह आत्मानुभवसे भिन्न है।

वेद आत्मामें नहीं है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है। वेदके तीन प्रकार हैं:—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद—यह तीनों आत्मामें नहीं हैं। आत्मा तो ज्ञायकमूर्ति है, उसकी श्रद्धा न करके जो स्त्री-पुरुष और नपुंसक वेदको अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा वेद-विकार रहित है। यदि ऐसा न माने तो स्वतन्त्र होनेका उपाय नहीं मिलेगा। निर्मल दृष्टि हुए विना निर्मलताके पंथ पर नहीं जा सकता, और इसलिये स्वरूपमें लीन होकर निर्विकार स्वरूप प्रगट नहीं कर सकता। वेद आत्माका स्वभाव नहीं है आत्माके निर्मल अनुभवसे वह भिन्न है, इसलिये जड़ है।

कषाय भी आत्माका स्वभाव नहीं है। कषायके चार भेद हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमेंसे क्रोध और मानका द्वेषमें तथा माया और लोभका रागमें समावेश होता है। यह सब आत्माका स्व-भाव नहीं है। आत्मा अविनाशी ज्ञान और आनन्दकी मूर्ति है, और क्रोध-मानादि क्षणिक विकारी भाव हैं। वे पर संयोग जनित भाव हैं इसलिये परके हैं अपने नहीं। मैं कषायका नाशक हूँ इसलिये अकषाय स्वभाव हूँ। जो अपनेको कषायवान मानता है, वह कषाय दूर करनेका प्रयत्न क्यों करेगा? यदि यह लक्षमें ले कि मैं अकषाय स्वभाव हूँ तो कषायको दूर करनेका प्रयत्न हो सकता है। यद्यपि कषाय आत्माकी पर्यायमें होती है, तथापि वह दूर करनेसे दूर हो सकती है, इससे सिद्ध हुआ कि वह पर है, और आत्माके निराकुल अनुभवसे भिन्न है, इसलिये जड़ है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान—पाँचों ज्ञानके भेद भी आत्माका स्वभाव नहीं हैं। यहाँ यह बताया गया है कि सम्यक्-दृष्टि जीव आत्माको कैसा मानता है। मात्र अपने पूर्णरूप अखंड आत्माको लक्षमें लेना जो सम्यक्दर्शनका विषय है। ज्ञानके पांच

प्रकारोंको लक्षमें लेना सम्यक्‌दर्शनका विषय नहीं है, वे पाँचों प्रकार आत्मामें नहीं हैं। साधकदशामें एक पर्यायसे दूसरी पर्याय निर्मलतया बढ़ती जाती है, सो वह कर्मकी अपेक्षा रखती है। कर्मकी अपेक्षाके बिना ज्ञानमें भी भंग नहीं पड़ता। यद्यपि यह पाँचों भंग चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, किन्तु वे कर्मकी अपेक्षाके विना नहीं होते, इसलिये वे जड़ हैं। पांच भेदोंकी ओर दृष्टि लगानेसे रागोत्पत्ति होती है, रागादि पुद्‌गल कर्मके निमित्तसे होता है अतः ज्ञानके पांच भेदको भी पुद्‌गलके परिणाम कहा है। अखंड आत्मामें वे पाँचों भंग नहीं हैं, इसलिये वे पुद्‌गलके हैं ऐसा भी कहा है।

केवलज्ञानकी प्राप्तिमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान स्वसन्मुखताका कार्य करता है। बीचमें किसीको अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होता है और किसीके इन दोनोंके हुए बिना ही सीधा केवलज्ञान हो जाता है।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा जानता है, श्रुतज्ञानमें मन निमित्त है, अवधि और मनःपर्ययज्ञान मन और इन्द्रियोंके बिना सीधे ही आत्माके द्वारा मर्यादितरूपसे पर पदार्थोंको जानते हैं, और केवलज्ञान सीधा आत्मासे प्रत्यक्षरूपसे समस्त लोकालोकको जानता है। ऐसे पाँच प्रकारके ज्ञानके भेद भी अखंड आत्माका स्वरूप नहीं हैं। ऐसा सम्यक्‌दर्शनका विषय है। अखंड आत्माको लक्षमें लेना ही सम्यक्‌दर्शन है। पाँचों ज्ञान, ज्ञानगुणकी पाँच अवस्थाएँ हैं। मोक्षमार्गको सिद्ध करनेमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी पर्याय बीचमें आती है, परन्तु उन भंगों पर लक्ष देनेसे राग होता है। भंग दृष्टिका विषय नहीं है, किन्तु दृष्टिका विषय अभेद है।

मात्र ज्ञायकको लक्ष्यमें लिया जाये तो उसमें भङ्ग नहीं होता मात्र निरपेक्ष आत्माको लक्षमें लेनेकी यह बात है। ज्ञानकी पाँच पर्यायोंमें निमित्तके सद्‌भावकी और अभावकी अपेक्षा होती है। ज्ञानकी उन पाँचों पर्यायोंके भेदसे रहित निरपेक्ष आत्माको लक्षमें लेना, सम्यक्‌दर्शनका विषय है। पाँचों ज्ञानकी पर्यायें आत्मामें न हों, सो बात नहीं है, क्योंकि पाँचों प्रकारकी पर्यायें आत्मामें होती हैं। परन्तु उन पर लक्ष देनेसे राग होता है, अखण्ड आत्मा पर दृष्टि डालनेसे राग नष्ट हो जाता है। पाँच ज्ञानकी पर्यायोंको सम्यक्‌ज्ञान जानता है, किन्तु दृष्टिका विषय अखण्ड आत्मा ही है। दृष्टि उन पाँच प्रकारके

पर्याय भेदको स्वीकार नहीं करती, पाँच पर्यायोंके भेदों पर लक्ष देनेसे राग होता है और अखण्ड आत्मा पर जो दृष्टि होती है, उसके बलसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। पाँच प्रकारके भेद दृष्टिका विषय नहीं हैं और उनमें परकी अपेक्षा आती है, इसलिये वे आत्माका स्वरूप नहीं किन्तु पुद्गलके परिणाम हैं। तीर्थंकर देवने आत्माके स्वभावकी घोषणा करते हुए कहा है कि आत्माका एक प्रकार है; उसमें पाँच ज्ञानगुणकी अवस्थाओं पर लक्ष देना परमें लक्ष देनेके समान है। अभेद एक प्रकारसे आत्माको लक्षमें लेनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है, भेद पर लक्ष देनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती।

अखंड एक आत्मामें शरीरके रजकण, आठ कर्मोंके प्रकार और राग–द्वेषकी विकारी अवस्था तो क्या, किन्तु ज्ञानगुणके पाँच भेद भी नहीं हैं। यद्यपि पाँच प्रकारकी पर्यायें आत्मामें होती हैं किन्तु वे दृष्टिका विषय नहीं हैं। उनमें परकी अपेक्षा होती है, इसलिये पाँच प्रकारके भेद आत्मामें नहीं हैं। अभेद अखण्ड आत्मा पर दृष्टि डालनेसे पाँचों ज्ञानकी निर्मल अवस्था प्रगट होती है, किन्तु यदि पाँच प्रकारके भेदों पर लक्ष दिया जाये तो वह पाँच प्रकारकी अवस्था प्रगट नहीं होती।

आत्मामें ज्ञानगुण संपूर्ण अनादि अनन्त है, उसमें अवधिज्ञान इत्यादि पाँच प्रकारकी दृष्टि करना सो भेददृष्टि, खण्डदृष्टि और पुद्गलके आश्रयकी दृष्टि है, तथा अपने एकत्वको देखना वह अभेददृष्टि, स्वाश्रयी दृष्टि है।

मतिज्ञानके द्वारा पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्तसे विचार होता है। यद्यपि यह विचार अपने द्वारा होता है, किन्तु उसमें इन्द्रियों और मनका निमित्त होता है। मैं शांत हूँ, समाधिस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, इत्यादि जानना सो श्रुतज्ञान है। अवधिज्ञान अमुक प्रकारसे मर्यादाको लेकर इंद्रिय और मनके विना प्रत्यक्षरूपसे पदार्थोंको जानता है, परन्तु वह उपयोगके लगाने पर ही जानता है, एक ही साथ सब कुछ नहीं जानता। मनःपर्ययज्ञान भी इन्द्रियों और मनकी सहायताके विना दूसरेको मनोगत पर्यायोंको जानता है, किन्तु यह ज्ञान भी जब उपयोग डालता है तभी जानता है, एक साथ सबको नहीं जानता, क्रमशः ज्ञात होनेसे यह ज्ञान भी अपूर्ण है, पराधीन है, इसमें कर्मका निमित्त है। यह मनःपर्ययज्ञान छट्ठे–सातवें गुणस्थानोंमें झूलते हुए नग्न

जो न्यूनाधिक पर्याय होती है, उसमें परकी अपेक्षा होती है। पाँच प्रकारके भेदों पर लक्ष जानेसे जो राग होता है, वह राग परमार्थ-दृष्टिके विषयमें स्वीकार्य नहीं है। शुद्धनय द्वारा देखा जाये तो चैतन्य भगवान स्वयं त्रैकालिक एकरूप सामान्य ज्ञान प्रकाश बिम्ब है, उसमें पाँच प्रकारके भेद परमार्थदृष्टिके विषयमें नहीं होते। सातवीं गाथामें जैसी मात्र ज्ञायककी बात कही थी, वैसी ही यहाँ है। सातवीं गाथामें यह कहा है कि गुणके भेद आत्मामें नहीं हैं और यहाँ यह कहा है कि गुणकी अवस्था आत्मामें नहीं है।

अनादिकालसे तूने अपने स्वरूपका अभ्यास ही नहीं किया, और जितना अभ्यास किया है वह सब बाहरकी ही क्रिया है। यथार्थ तत्त्वकी प्राप्तिकी प्रीति नहीं की, और यह बात भी नहीं सुनी कि यथार्थ तत्त्व क्या है? तब फिर सुने बिना विचार भी कहाँसे आ सकता है? तथा विचार किये बिना ज्ञान कहाँसे हो सकता है। और ज्ञानके बिना उसमें लीनतारूप चारित्र कहाँसे हो सकता है। एवं चारित्रके बिना मुक्ति भी कहाँसे हो सकती है। मेरे ध्रुव स्वरूपमें वेद-विकार या कषाय नहीं है, ऐसा जानने और माननेके बाद स्वरूप लीनताका प्रयत्न होता है। उस प्रयत्नको व्यवहार कहते हैं, किन्तु वह व्यवहार, जोकि यह अखण्ड स्वरूप—निश्चय स्वरूप कहलाता है, वह दृष्टिमें आनेके बाद होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानकी पर्याय स्वयं ही व्यवहार है, किन्तु दृष्टिके विषयमें अखण्डस्वरूप होनेके बाद स्वरूपलीनतारूप चारित्रके प्रयत्नका व्यवहार होता है।

मान्यताके बदल जाने पर, राग-द्वेपको छोड़नेका इच्छुक होता हुआ वह यह मानता है कि—मेरे स्वरूपमें राग-द्वेप या शुभाशुभ भाव नहीं हैं। ऐसा समझनेके बाद वह राग-द्वेपसे नहीं चिपटता, किन्तु उससे मुक्त होता जाता है। जिसने अपने स्वभावको नहीं जाना—माना, वह राग-द्वेपसे चिपकता ही रहता है, जब कि शुभाशुभ भावको अपना मान रखा है तब उनसे कैसे मुक्त हो सकता है? मेरे स्वभावकी शक्ति ही अलग है, इसप्रकार अपने त्रैकाल अखंड स्वभावकी स्वीकृतिके बिना, विकारीकी स्वीकृति नहीं छूट सकती। मैं आनन्दकन्द हूँ ऐसे स्वभावकी शक्तिको जिसने स्वीकार किया, वह कहता है कि मेरे

स्वभावमें पुण्य-पाप नहीं है, जो पर्यायमें होता है उसका नाश करनेके लिये मैं तैयार हुआ हूँ। वह नाश करनेके लिये तैयार हुआ तब कहलाया जा सकता है; कि वह आत्मस्वरूपको स्वीकार करे। वह मनसे नहीं, श्रवणसे नहीं, शास्त्रसे नहीं, किन्तु आत्मासे आत्माको स्वीकार करे तब कहलाता कि वह राग-द्वेषको—शुभाशुभ भावको नाश करके लिये, और गुणोंको प्रगट करनेके लिये तैयार हुआ है।

अपने ध्रुव और अविनाशी स्वभावकी सामर्थ्य देखकर उसके बलसे कहे कि-मुझमें राग-द्वेप नहीं है, वह राग-द्वेषको दूर करनेका इच्छुक है। किन्तु पहले जैसे राग-द्वेषके भाव करता हो, वैसेके वैसे ही करता रहे, किसी भी प्रकारकी मन्दता न हो और कहे कि मेरे स्वभावमें राग-द्वेप नहीं है, तो ऐसा कहने वाला सर्वथा मिथ्या है, वह स्वभावको समझा ही नहीं है। इसप्रकार कह कहकर क्या कुछ किसीको बताना है? जिसे अपने स्वभावकी श्रद्धा जम गई है, उसका राग-द्वेप कम हुए विना नहीं रहता। मेरे स्वभावमें राग-द्वेप नहीं है, ऐसी श्रद्धा हुई कि उसके बलसे वह राग-द्वेषका नाश अवश्य करेगा। ज्ञानी समझता है कि परोन्मुखता मुझे हितकारी नहीं है, परोन्मुखतामें शुभाशुभ भाव होते हैं, इसलिये परोन्मुखता मुझे हितकारी नहीं है, किन्तु स्वसन्मुखका झुकाव ही हितकारी है क्योंकि उसमेंसे मात्र समाधि ही प्रवाहित होती है। सम्यक्दर्शनका उत्कृष्ट परिणमन ही मुक्ति है।

परोन्मुख जीवोंको मात्र परमें ही रुचि हो रही है, उसमें कभी ऐसा स्वप्न तक नहीं आया कि आत्मा मुक्त हो गया है। वह भाव कहांसे आ सकता है? क्योंकि जितने गीत गाये हैं वे सब परके ही गाये हैं। आत्माके प्रेमके गीत नहीं गाये, उसकी रुचि नहीं की, श्रद्धा नहीं की, मैं निर्विकल्प वीतराग स्वरूप हूँ, इसप्रकार जाना-माना नहीं, और फिर कहता है कि मेरे स्वप्नमें विमान आया था, और मैं उसमें बैठा था, इसलिये अब मेरी भी कोई गिनती होनी चाहिये। किन्तु भाई! तू अनन्त बार स्वर्गमें हो आया फिर भी कल्याण नहीं हुआ तब यदि स्वप्नमें विमान आ गया तो क्या हो गया? तूने आत्माके स्वभाव माहात्म्यकी बात सुननेके भावसे नहीं सुनी इसलिये इन व्यर्थकी दूसरी बातोंमें महिमा मालूम होने लगती है, इसलिये आत्माके

स्वभावकी वात अंतरंगसे रुचि प्रगट करके समझ ।

स्वयं आत्मा ज्ञायक स्वभावसे अखंड है, इसप्रकार लक्षमें ले लेना, श्रद्धामें ले लेना ही सम्यक्दर्शनका विषय है। आत्मा ज्ञानमूर्ति अखंडानन्द सामान्य है, इसप्रकार श्रद्धा करना ही सम्यक्दर्शन है, यही मोक्षका उपाय है. और यही हितका मार्ग है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

आत्माका स्वभाव एक रूप स्थिर रहता है, उसका विश्वास करना मोक्षदशा प्रगट करनेका कारण है। शरीर-वाणी-मन और कर्मके निमित्तसे जो भाव होता है, उसका विश्वास करनेसे आत्मस्वभाव प्रगट नहीं होता, किन्तु देव-शास्त्र-गुरुने जो आत्मस्वभाव कहा है, उसका विश्वास-श्रद्धा करनेसे आत्मस्वभाव प्रगट होता है। आत्मस्वभावकी श्रद्धाके साथ ही सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा होती है किन्तु आत्मस्वभावकी श्रद्धाके विना मात्र देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धासे आत्मस्वभाव प्रगट नहीं होता। देव-शास्त्र-गुरुसे कहीं मोक्षदशा प्रगट नहीं होती, किन्तु उन्होंने जो मोक्षमार्ग बताया है उसका विश्वास, ज्ञान और तद्नुसार आचरण करनेसे आत्मामेंसे मोक्षपर्याय प्रगट होती है। मोक्षपर्यायके प्रगट होनेमें देव-शास्त्र-गुरुका निमित्त होता है, किन्तु वे मोक्षपर्यायको प्रगट नहीं कर देते।

भीतर जो आकुलता हो रही है, वह दुःख है, उस आकुलताको नाश करनेका उपाय शरीर, वाणी, पुण्य-पापके परिणाम अथवा देव-शास्त्र-गुरुमें नहीं हैं, किन्तु भीतर जो निर्विकार अनाकुल पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव भरा पड़ा है, उसका विश्वास-श्रद्धा करनेसे आकुलता दूर होती है, और विकारी पर्याय दूर होकर निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उस निर्मल पर्याय पर दृष्टि रखनेसे भी मोक्ष पर्याय प्रगट नहीं होती, क्योंकि वह सब निर्मल अवस्था, अवस्थामेंसे नहीं आती किन्तु अंतरंगमें जो ध्रुवस्वभाव भरा हुआ है, उसीमेंसे आती है; इसलिये पर्याय पर दृष्टि डालनेसे शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती किन्तु जो पूर्ण ऐश्वर्य-मय त्रिकाली सामान्य द्रव्य है उस पर अभेद दृष्टि डालनेसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

पहले कहा जा चुका है कि मार्गणाका अर्थ ढूंढना है। मैं मति-ज्ञानी हूं, श्रुतज्ञानी हूं, अवधिज्ञानी हूं, मनःपर्ययज्ञानी हूं और

केवलज्ञानी हूँ, इसप्रकार ढूंढना सो ज्ञानमार्गणा है, निश्चयसे वह तो जीवका स्वरूप नहीं है। यह यथार्थ वस्तुदृष्टिकी बात है। दृष्टिका विषय क्या है यह बात है। दृष्टि भेदको स्वीकार नहीं करती किन्तु ज्ञानमें वे भेद ज्ञात अवश्य होते हैं, तथापि दृष्टिका विषय भेद नहीं है।

मोक्ष पर्यायके प्रगट करनेमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, पाँच शरीर, संस्थान, संहनन, अष्टकर्म, पर्याप्ति, तत्त्वकी अप्राप्ति रूप मोह, योगका कम्पन, गति, इन्द्रियाँ, कषाय, शुभराग, देव-शास्त्र-गुरु और पूजा-भक्तिका शुभ विकल्प इत्यादि कोई भी धर्मका आधार नहीं है; इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानके पाँच भेद भी धर्मके आधार नहीं हैं. सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी निर्मल अवस्था भी धर्मका आधार नहीं है, वह दृष्टिका विषय नहीं है। वह निर्मल अवस्था एकरूप सदा स्थायी पूर्ण सामर्थ्यवान द्रव्यमेंसे आती है, प्रवाहित होती है। समस्त अवस्थाओंकी सम्पूर्ण शक्तिवाला जो मैं हूँ उसकी श्रद्धा करनेसे धर्म प्रगट होता है। सम्यक्‌दर्शन स्वयं पर्याय है, जो कि धर्मका आधार नहीं है, किन्तु उस दृष्टिसे किया गया सम्पूर्ण द्रव्यका जो विषय है वह धर्मका आधार है।

आत्मामें जो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रकी जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है, उस अवस्थाको दृष्टि करनेसे भी निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती है, क्योंकि निर्मल अवस्था भी निर्मलतारूपसे प्रतिक्षण बदलती रहती है, और द्रव्य एकरूप ध्रुवस्वभाव है, सम्पूर्ण अवस्थाओंकी शक्ति द्रव्यमें भरी पड़ी है,—इसलिये द्रव्य पर दृष्टिपात करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। जो निरन्तर बदलता रहे उस पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। इसप्रकार परिपूर्ण वस्तुका विषय करनेसे उस विषयके बलसे प्रथम मोक्षमार्ग और अंतिम केवलज्ञान प्रगट होता है। धर्मके प्रारम्भमें भी दृष्टिका विषय है, और अंतमें केवलज्ञानको प्रगट करनेवाला भी वह है।

श्रद्धाका विषय स्थायी होता है, किन्तु श्रद्धाकी और रमणतादिकी पर्याय बदल जाती है। उस श्रद्धा और रमणताकी जाति भले ही एक हो, किन्तु वह दूसरे क्षण बदल जाती है। जो बदलती है, अर्थात् जिसका उत्पाद-व्यय होता है, उसका आधार पर्याय नहीं है। पर्यायका आधार पर्याय नहीं होती किन्तु द्रव्य होती है। जो प्रतिक्षण [illegible] जाती है उसमें वह शक्ति नहीं है, कि वह पूर्ण पर्यायको प्रगट कर

सके। साधक अवस्थाकी अपूर्ण पर्यायमेंसे पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह वस्तुमेंसे प्रगट होती है। मैं एक शुद्ध ज्ञायक हूँ ऐसी दृष्टिके वलसे पूर्ण पर्याय या निर्मल दशा प्रगट होती है।

विकारी अवस्थाका नाश करके सम्पूर्ण निर्विकार अवस्था प्रगट करनी हो तो उसका कारण ढूँढ ! सम्पूर्ण अवस्थाके प्रगट होनेमें कौन कारण है ? क्या शरीरादि उसके कारण हैं ? पुण्य-पापके भाव उसके कारण हैं, अथवा अपूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी पर्याय उसका कारण है ? अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्थाके प्रगट करनेमें कदापि कारण नहीं हो सकती, अवस्थामेंसे अवस्था कभी भी प्रगट नहीं होती, किन्तु भीतर जो पूर्ण स्वभाव विद्यमान है, उस पर दृष्टिका वल लगानेसे पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी अपूर्ण अवस्था केवल-ज्ञानकी पूर्ण अवस्थाका अनंतवाँ भाग है। उस अनंतवें भागकी पर्यायमें शक्ति नहीं है कि वह अनन्त गुनी पर्यायको प्रगट कर सके। मोक्ष-मार्गकी अवस्था अनन्तवाँ भाग है, और केवलज्ञानकी पूर्ण अवस्था उससे अनन्त गुनी है। अनन्तवें भागकी अवस्थामेंसे अनन्त गुनी अवस्था प्रगट नहीं हो सकती। जव पूर्ण अवस्था प्रगट होती है, तव शरीर और विकारादि तो क्या किन्तु अपूर्ण अवस्था भी नहीं रहती, मात्र पूर्ण अवस्था चालु रहती है, जिसका नाम मोक्ष है। जव अपूर्ण अवस्था मिटती है, तव पूर्ण अवस्था उत्पन्न होती है, इसलिये अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्थाका कारण नहीं है, किन्तु पूर्ण अवस्था प्रगट होनेसे पूर्व अपूर्ण अवस्था वीचमें आती है। अपूर्ण अवस्थाके विना पूर्ण अवस्था प्रगट नहीं होती, इतना अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्थाके साथ सम्वन्ध है, किन्तु अपूर्ण पर्याय पूर्ण पर्यायकी साधक नहीं है, हाँ, वह वीचमें आती है इसलिये अपूर्ण पर्यायको पूर्णताकी साधक पर्याय कहा जाता है, वह व्यवहार है। परन्तु वास्तवमें अंतरंगमें जो परिपूर्ण स्वभाव भरा हुआ है, उस पर दृष्टिका वल लगानेसे संपूर्ण पर्याय प्रगट होती है।

पर्याय प्रगट होती है, वस्तु नहीं; क्योंकि वस्तु तो अनादि अनन्त प्रगट ही है, उसे कोई प्रगट नहीं करना चाहता; किन्तु पर्यायको प्रगट करना चाहता है। लोग कहते हैं कि विकार नहीं चाहिये इसका अर्थ

यह हुआ कि निर्विकार आत्मा नास्ति है। वस्तु अनादि अनन्त प्रगट है, जो है, उसका नाश नहीं होता, और जो नहीं है, वह नवीन नहीं होती। मात्र रूपान्तर होता है—पर्याय बदलती है।

जो पर्याय प्रगट होती है, वह वस्तुमेंसे होती है, क्यों? पर्यायमेंसे पर्याय प्रगट नहीं होती। चतुर्थ गुणस्थानकी दशामें तेरहवें गुणस्थानकी दशा प्रगट करनेकी शक्ति नहीं है, किन्तु सम्यक् श्रद्धाकी (चतुर्थ गुणस्थानकी) पर्यायसे किये गये विषयमें वह शक्ति है। सम्यक्श्रद्धा तो पर्याय है, उसने अखण्ड वस्तुका श्रद्धान किया है, इसलिये अखण्ड वस्तु सम्यक्श्रद्धाका विषय है, उस वस्तुके विषयमें तेरहवें गुणस्थान प्रगट करनेकी शक्ति है, क्योंकि वस्तुमेंसे पर्याय प्रगट होती है, इसलिये वस्तुका विषय करने पर उसमेंसे पर्याय प्रगट हो जाती है; पर्यायमेंसे पर्याय प्रगट नहीं होती। सम्यक्श्रद्धा द्रव्य नहीं, गुण नहीं किन्तु पर्याय है, और द्रव्य अनन्तगुणोंका पिंड है। श्रद्धागुण अनादि अनन्त है, उसकी दो अवस्थाएँ हैं,—सम्यक्श्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा। इसलिये सम्यक्-दर्शन पर्याय है, और पर्याय व्यवहार है। विपरीत मान्यताके नाशमेंसे सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं होता, क्योंकि नाशमेंसे उत्पाद नहीं होता। नाशको उत्पादका कारण कहना व्यवहार है। किन्तु वास्तवमें जो नित्य अस्ति स्वभाव भरा पड़ा है, उसमेंसे सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। सामान्य एकरूप स्वभाव पर दृष्टि डालनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यक्दर्शन, पाँचवेंमें श्रावकत्व और छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें मुनित्व होता है; सो वह भी गुण नहीं किन्तु पर्याय है, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, भी गुण नहीं किन्तु पर्याय है, क्योंकि वह प्रगट होती है। पर्याय, पर्यायका कारण नहीं होती, नाश उत्पादका कारण नहीं होता। चौथा गुण बदलकर पाँचवाँ होता है, इसलिये चौथा गुणस्थान पाँचवें गुणस्थानका कारण नहीं है, क्योंकि नाश उत्पत्तिका कारण नहीं होता, किन्तु उत्पत्तिका मूल कारण सामान्य स्वभाव है। केवलज्ञानका मूल कारण भी सामान्यरूप वस्तु है। सम्यक्दर्शनकी पर्यायके बलसे केवलज्ञान प्रगट नहीं होता किन्तु वह सामान्यरूप वस्तुके बलसे प्रगट होता है। सम्यक्दर्शनकी पर्याय

भी मैं एक संपूर्ण पदार्थ वर्तमानमें हूँ—इसका विषय करनेसे प्रगट
होती है।

सम्यक्दर्शनका विषय सम्यक्दर्शनकी पर्याय नहीं किन्तु अखण्ड
द्रव्य है। सम्यक्दर्शनका आश्रय भूतार्थ है। देव-शास्त्र-गुरु तो क्या
किन्तु सम्यक्दर्शन-ज्ञान आदिकी निर्मल पर्याय भी सम्यक्दर्शनका
आश्रय नहीं है। निर्मल पर्याय पर भी लक्ष देनेसे राग होता है और
अखण्ड द्रव्य पर लक्ष देनेसे राग छूटता है, इसलिये सम्यक्दर्शनका
आश्रय अखण्ड द्रव्य है। एक गुणका लक्ष करना भी सम्यक्दर्शनका
विषय नहीं, किन्तु अनन्त गुणोंकी पिंड रूप वस्तु सम्यक्दर्शनका विषय है।

जब हम क्षायिक पर्याय पर विचार करते हैं, तो—क्षायिक पर्याय-
के प्रगट होने पर उस पर लक्ष देनेकी आवश्यकता नहीं रहती, और
उसके प्रगट होनेसे पूर्व, लक्ष कहाँ दिया जावे? जिसका अस्तित्व ही प्रगट
नहीं उस पर लक्ष देना कैसा? इसलिये लक्ष देना द्रव्य पर ही सम्भव
है। अभेद स्वभावकी अपेक्षासे भेद अभूतार्थ है। यहाँ अभूतार्थका अर्थ
यह नहीं है कि पर्यायके भेद सर्वथा हैं ही नहीं। पर्याय है अवश्य,
किन्तु उस पर लक्ष देनेसे रागी जीवको राग होता है, इसलिये वह
हेय है, और एक मात्र सम्यक्दर्शनका विषयभूत द्रव्य ही आदरणीय है।

दृष्टिका विषय त्रैकालिक एकरूप सामान्य है। वह दृष्टि प्रगट या
अप्रगटके भेदको स्वीकार नहीं करती। उस दृष्टिके विषयमें वस्तु प्रगट
ही है। पर्याय दृष्टिके विषयमें वस्तुकी पर्याय प्रगट है या अप्रगट
—ऐसा भेद-विकल्प होता है, किन्तु वस्तु दृष्टिका विषय पारिणामिक
भाव है। अपेक्षित पर्याय पर्यायार्थिकनयका विषय है।

वस्तु दृष्टि पर्यायभेदको स्वीकार नहीं करती, इसलिये मति, श्रुत,
ज्ञानादिकी पर्याय नहीं है, ऐसा नहीं; क्योंकि वह पर्याय है, और
र उसे जानता है। ज्ञान दृष्टिके विषयको जानता है, और पर्यायको
जानता है, वह प्रमाणज्ञान है। द्रव्य स्वयं वर्तमानमें ही परिपूर्ण
। ऐसे व्यक्त-अव्यक्तके भेदसे रहित द्रव्यके परिपूर्ण अभेदको विषय
करे तो श्रद्धा मिथ्या है, और जो पर्याय प्रगट है, या त्रैकालिक
शक्ति अप्रगट है, उसे न जाने तो ज्ञान मिथ्या है। जो ज्ञान श्रद्धाके

इसीप्रकार सम्यक्दर्शन रूपी अवस्थायें आत्माके त्रिकाली सामान्य स्वभाव पर है, उस सामान्यरूप वस्तुको लक्षमें लेनेसे [illegible] केवलज्ञानकी पर्याय प्रगट होती है। अमुक अंशमें निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसपर एकाग्रता करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु सम्पूर्ण अवस्थाको शक्ति रूपसे एक समयमें, सम्पूर्ण त्रिकाल है, उसपर दृष्टि करनेसे पूर्णता प्रगट होती है। उसके लक्षसे मोक्ष-मार्ग प्रगट होता है, उसके लक्षसे मुक्ति प्रगट होती है। इसप्रकार अवस्था प्रगट होती है, द्रव्य नहीं, क्योंकि द्रव्य तो सदा प्रगट ही है किन्तु जो अवस्था प्रगट होती है, क्या वह कर्मके निमित्तपर दृष्टि रखनेसे होती है? अमुक अंशमें निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, क्या उस पर दृष्टि रखनेसे प्रगट होती है? अथवा जो अखण्ड स्वभाव भरा है, उसपर दृष्टि रखनेसे प्रगट होती है? जिसे निर्मल अवस्था प्रगट करनी है, उसे पूर्ण अखण्ड स्वभाव त्रिकाल अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि जमानेसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है। यह सम्यक्-श्रद्धाका विषय है, इसलिये अवस्थामेंसे ढूंढना छोड़ दे और वस्तुमें दृष्टि डाल, तब ही अवस्था प्रगट होगी, अवस्थामें ढूंढनेसे राग होता है और राग विकार है, इसलिये ज्ञानमार्गणा पुद्गलका परिणाम है।

आचार्यदेवने 'जिनके लक्षण हैं' कहकर ज्ञानमार्गणा और ज्ञानकी पाँच पर्यायें हैं अवश्य–इसप्रकार व्यवहार बताया है; परन्तु साथ ही वे अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं हैं यह कहकर परमार्थ बताया

। इसी प्रकार सभी २९ कथनोंमें समझ लेना चाहिये। ज्ञानमार्गणा क्ष है, और भेद उसका लक्षण है; यह सब आत्माके नहीं हैं, योंकि अभेद आत्माका वह लक्ष और लक्षण नहीं हैं, इसलिये ज्ञान-ार्गणा भी जीवके नहीं हैं।

अव संयम मार्गणाके सम्बन्धमें कहते हैं। संयमके सात भेद हैं—ामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, ांयमासंयम और असंयम। अविरतभावको असंयम कहते हैं। आत्माकी तीति न हो, और जो आसक्ति है सो मैं हूँ, वह मेरा भाव है, ऐसी ान्यता मिथ्यादृष्टिके होती है। आसक्ति तो है ही, और मान्यता भी वेपरीत है, इसलिये वह मिथ्यात्वका असंयम है, और जिसे आत्माकी प्रतीति है, वह आसक्तिके परिणाम मेरा स्वरूप नहीं हैं ऐसा मानता है, उसे आसक्तिकी रुचि नहीं है, तथापि आसक्तिके परिणाम छूटे नहीं हैं; यह चौथी भूमिकाका असंयम है।

पाँचवें गुणस्थानमें आसक्तिका आंशिक त्याग होता है और कुछ अंशोंमें आसक्ति रह जाती है, उसे संयमासंयम कहते हैं। सामायिक, चारित्र छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती नग्न दिगम्बर मुनिके होता है। वे संतमुनि ज्ञान-दर्शन-चारित्रकी रमणतामें लीन होते हैं, वह सामायिक चारित्र है।

नग्न दिगम्बर मुनि स्वरूप-रमणतामें अत्यन्त लीन रहते हैं, किन्तु कभी कहीं अल्प वृत्तिमें कुछ शिथिलता हो जाये तो वे गुरुके पाससे छेद अर्थात् प्रायश्चित लेते हैं, और स्वयं स्थिर हो जाते हैं-यह छेदोपस्थापना चारित्र है।

जिन संत मुनियोंको संयमलब्धि प्रगट हुई हो, जिससे कि वे वनस्पति और पानी इत्यादि पर चलते हैं, फिर भी उनके शरीरसे हिंसा नहीं होती—यह उनका परिहारविशुद्धि चारित्र है, परिहार-विशुद्धि चारित्रमें ऐसी लब्धि होती है।

दसवें गुणस्थानवर्ती संत-मुनिके सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है। चारित्रकी विशेष निर्मल पर्याय हो गई हो, और लोभका अंतिमसे अंतिम अत्यन्त अल्पांश रह गया हो, ऐसी विशेष चारित्रकी दशाको सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहते हैं।

जैसा चारित्रका स्वरूप है, वैसा सम्पूर्ण प्रगट हो जाये सो

और उसमें परकी अपेक्षा होती है, इसलिये संयममार्गणा पुद्गल-परिणाम है।

संयमको परका आधार नहीं है। क्या संयमको शरीरका आधार है, या कर्म, विकारी पर्याय अथवा निर्मल पर्यायका आधार है? किसीके आधार पर संयम नहीं है, किन्तु संयम अर्थात् आंतरिक स्थिरतारूप चारित्रगुण भरा हुआ है, और चारित्रगुण अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्मा है, उसके आधारसे वह प्रगट होता है। पंच महाव्रतोंके शुभ परिणामके आधारसे भी संयम नहीं होता। जब संयम प्रगट होता है, तब शुभ परिणाम बीचमें आते हैं, किन्तु उनके आधारसे संयम नहीं होता, और संयमकी प्रगट होनेवाली स्थिर पर्यायके आधार पर भी संयम प्रगट नहीं होता, किन्तु त्रिकाल स्थिरताके बिम्ब, आत्मा पर दृष्टिके बलसे स्थिरता प्रगट होती है। संयमके प्रकार गुण नहीं किन्तु पर्याय हैं, क्योंकि वे भेद हैं, इसलिये जो त्रैकालिक द्रव्य विद्यमान है उसपर दृष्टि डालनेके बलसे संयम प्रगट होता है। इसलिये संयम-मार्गणाके भेद आत्माके नहीं हैं।

चन्द्रमा स्वयं सोलह कलाओंसे परिपूर्ण है। उसमें नित्य राहु आड़े आता है, और वह ज्यों ज्यों हटता जाता है त्यों त्यों चन्द्रमाकी एक एक कला प्रगट होती जाती है। चन्द्रमामें द्वितीया, तृतीया और चतुर्थीकी कलाके भेद स्वतः नहीं हैं, क्योंकि चन्द्रमा तो सदा सम्पूर्ण है, किन्तु राहु उसके आड़े आता है, और वह क्रमशः हटता जाता है, इसलिये दूज, तीज, चौथ इत्यादिकी कला प्रगट होनेमें निमित्तकी अपेक्षा होती है। इसीप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान है, उसमें जो पांचवें, छट्ठे, सातवें इत्यादि गुणस्थानके भेदोंकी कलायें है, वे अखण्ड आत्माकी अपेक्षासे नहीं हैं, किन्तु कर्मरूपी राहु आड़े आता है जो पुरुषार्थके द्वारा हटता जाता है, इसलिये संयमकी कलाके भेद हो जाते हैं, किन्तु अभेद आत्माकी अपेक्षासे वे भेद नहीं होते। उपरोक्त गुणस्थानोंके संयमकी जो कला प्रगट होती है, उसपर दृष्टि न डालकर सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखना ही सम्पूर्ण कलाओंके प्रगट होनेका कारण है। इसलिये संयमके भेदोंमें आत्माको ढूंढना, विकल्पका कारण है। अतः मुझे सामायिक या छेदोपस्थापनादि चारित्र

होती हैं किन्तु वे श्रद्धाका विषय नहीं है। दृष्टागुण आत्मामें सदा त्रिकाल विद्यमान है, उसकी चार अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओं पर दृष्टि न रखकर सामान्य एकरूप आत्मापर दृष्टि रखना सो सम्यक्-दर्शन है। सम्यक्दर्शनका विषय अभेद एकरूप आत्मा है।

धर्मकी पहली सीढ़ी कैसी होती है, यह जाने बिना यह मान ले कि मैं तो ऊपरकी सीढ़ी पर पहुँच गया सो इससे कहीं ऊपरकी सीढ़ी प्राप्त नहीं हो जाती।

जो अकेला स्वभावभाव है सो मैं हूँ, अनादि-अनन्त एक प्रकार मैं हूँ, दर्शनगुण मेरा एक अखण्ड परिपूर्ण है, इस प्रकार पूर्ण गुणोंकी प्रतीतिके बिना गुणोंकी पूरी अवस्था प्रगट नहीं होती। पूर्ण आत्माकी प्रतीतिके बिना पूर्णको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ नहीं होता. और ऐसे पुरुषार्थके बिना चारित्र या केवलज्ञान नहीं होता।

इस गाथामें मात्र स्वभावभावकी अलौकिक बात कही है। यदि इसके सुननेमें कुछ समय तक भलीभाँति ध्यान रखे तो ऐसा उच्च प्रकारका शुभभाव हो सकता है कि जो सामायिक, प्रतिक्रमण आदिकी क्रियामें भी नहीं हो सकता। यदि इस पर ठीक ध्यान रखे तो उससे जो शुभभाव हो उससे उच्च पुण्यबन्ध होता है। यदि इसे अंतरंगसे समझकर स्वीकृति आये तो निर्जरा होती है। इसे सुनकर यथार्थ निर्णय करे कि अहो! यह तो अपूर्व बात है, चैतन्यस्वरूप तो भिन्न अद्भुत और अपूर्व है, बस मेरा स्वरूप ऐसा ही है, इसमें स्थिर होनेसे मैं अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लूँगा—ऐसा स्वविषय लक्षमें आ जाये और अंतरंगसे स्वीकृति आये तो उसका फल अवश्य प्राप्त होता है।

इसे सुनते समय यदि इधर-उधर ध्यान चला जाता है तो आत्माका स्वभाव अज्ञात-सा मालूम होता है, किन्तु यह तो तेरे आत्माका ही विषय चल रहा है, यह सम्यक्दर्शनकी बात चल रही है, और मुक्ति प्राप्त करनेकी पहली सीढ़ीकी बात चल रही है। यह बात अक्षरज्ञान वालोंकी ही समझमें आये ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह अनक्षरीज्ञान है, इसलिये इसे अपढ़ व्यक्ति भी समझ सकता है। भगवानके समवशरणमें हिरन शेर, चीता इत्यादि एक ही साथ बैठकर उपदेश सुनते हैं और वे भगवानकी दिव्यध्वनि सुनते-सुनते [illegible] आत्मस्वरूपमें एकाग्र हो जाते हैं, वहां [illegible]

दे तो वीतराग हो जाये ।

पहले अभेद अखण्ड आत्माकी यथार्थ प्रतीति करना सो मुक्तिकी ी सीढ़ी है। यदि पहले प्रतीतिमें सम्पूर्ण आत्माको लक्षमें ले तो थरताका राग दूर करके वीतराग हो सकता है। यदि प्रथम प्रतीतिमेंसे भेदके लक्षको दूर न कर सके तो फिर अस्थिरताको दूर करके राग कहाँसे हो सकेगा ? इसलिये यहाँ पहले यथार्थ प्रतीति करने- वात कही है। यद्यपि उपरोक्त सात प्रकारके भेद होते हैं किन्तु अखण्डस्वभावकी प्रतीतिमें सहायक नहीं होते इसलिये लेश्यामार्गणा माके नहीं है। आत्मामें अवस्थाभेद पर दृष्टि न रखकर एक ान्य चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि रखी जाये तो वह अखण्ड स्वरूप है।

भव्यमार्गणा—भव्य अर्थात् योग्य, और अभव्य अर्थात् अयोग्य। दोनों भेद दृष्टिके विषयमें स्वीकार नहीं हैं, इसलिये यह भेद माके नहीं हैं।

अभव्यका अर्थ मोक्षप्राप्तिके लिये अयोग्य जीव है, ऐसे अभव्य तिके जीव अनादि-अनन्त हैं। यद्यपि वे थोड़े ही हैं—भव्योंसे न्तवें भाग हैं, तथापि वे अनन्त हैं, अर्थात् भव्य जीव अभव्योंसे न्तानन्तगुने हैं। अभव्य जीव चार गतियोंके दुःखोंमें पिसे जा रहे किन्तु उनपर सच्चे उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे चिकने घड़े पानी नहीं ठहरता उसी प्रकार अभव्य जीवके हृदयमें सत्का देश स्पर्श ही नहीं करता। अभव्य जीव आत्मस्वरूपको समझनेके ये अयोग्य होते हैं, और भव्य जीव उसके लिए योग्य होते हैं। भव्य जीव विपरीत वीर्य वाले होते हैं, उनका परिणमन-चक्र कभी ीं बदलता।

आचार्यदेव कहते हैं कि—भव्य-अभव्यके भेदका विचार छोड़, गके विकल्पको छोड़, और अभेद आत्माकी श्रद्धा कर! जहाँ अभेद त्माकी श्रद्धा हुई वहाँ तू योग्य ही है, भव्य ही है, इसलिये तू द-भङ्गमें मत पड़। तू अन्तरंगसे जिज्ञासु होकर, हमारा मार्ग मझनेके लिये आया है, इसलिये तू अभव्य हो ही नहीं सकता। किन्तु तू भव्य ही है। अब तू दो प्रकारके रागके भेदोंमें मत पड़, और उनके रागको छोड़कर यह प्रतीति कर कि मैं ज्ञायक ही हूँ,

यही मोक्षका मार्ग है। [भव्य-अभव्यको मार्गणाओंमें आत्म [illegible] ढूँढना छोड़ दे क्योंकि उसमें राग है, और राग [illegible] नहीं है। भव्य-अभव्यकी मार्गणा आत्माके नहीं है, [illegible] आत्माकी श्रद्धा करके उसीमें लीनता कर—यही मोक्षका उपाय है।

इस देहमें रहनेवाला आत्मा देहसे भिन्न है। आत्माका जिसे कल्याण करना हो उसे यह जानना चाहिये कि कल्याणका मूल उपाय क्या है, शरीर-वाणी इत्यादि पर हैं, वे पर [illegible] आत्माको सहायता दें या लाभ करें ऐसा त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। आत्मा आत्मारूपसे है, और पररूपसे नहीं है, तथा जो जिसरूप स्वयं नहीं है वह उसकी सहायता कैसे करेगा? आत्माकी पर्यायमें क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि जो विकारी भाव हैं वे आत्मकल्याणमें सहायता नहीं कर सकते, क्योंकि जो बन्धनमें सहायक होते हैं वे अबन्धमें सहायता कैसे कर सकते हैं? त्रैकालिक मुक्तस्वरूप द्रव्य है, उसपर दृष्टि रखे तो मुक्त अवस्था प्रगट हो।

दूधके रजकण मीठे होते हैं, उसीमेंसे खट्टे हो जाते हैं, यह उनकी एक अवस्था है। आम खट्टा था, उसमेंसे मीठा हो गया, यह भी उसकी एक अवस्था है। खट्टी और मीठी--दोनों अवस्थाओंके समय रसगुण शक्तिरूप सदा बना रहता है। एक परमाणुमें भी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्तगुण विद्यमान हैं। उसकी वर्तमान समयमें एक पर्याय होती है, अन्य सब अनन्त पर्यायें द्रव्यमें शक्तिरूपसे भरी पड़ी हैं। पहले अनन्त पर्यायें हो चुकी हैं, और भविष्यमें अनन्त पर्यायें होंगी, यह सब पर्यायें द्रव्यमें भरी पड़ी हैं। यह सब पुद्गलकी क्षण-क्षणमें होनेवाली अवस्थाएँ हैं। उन सब अवस्थाओंमें गुण सदा विद्यमान होता है।

जैसे परमाणु अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है उसी प्रकार आत्मा भी अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है। उन गुणोंमेंसे वर्तमान एक गुणकी एक अवस्था होती है। वर्तमान समयमें भी अनन्त गुणोंकी अनन्त अवस्थाएँ होती हैं। आत्माकी जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है, वह वर्तमान समयकी होनेवाली पर्याय पर दृष्टि डालनेसे प्रगट नहीं होती किन्तु अनन्त गुणोंके पिण्डभूत आत्मा पर दृष्टि डालनेसे प्रगट होती है।

दूधमें मिठास पर्यायका नाश होकर खटासकी उत्पत्ति होती है, किन्तु खटासकी उत्पत्ति उस नाशमेंसे नहीं होती किन्तु भीतर जो रसगुण विद्यमान है वह खटासकी उत्पत्तिका कारण है। जिस समय खटासकी पर्याय है, उस समय मिठासकी नहीं है, तब जो नहीं है, वह उत्पत्तिका कारण कैसे हो सकता है। इसलिये सामान्य रसगुण ही उत्पत्तिका कारण है।

शरीरमें जो यह रक्तकी अवस्था है वह पहले अपनी दूसरी पानी इत्यादिकी अवस्था थी, वह बदलकर यह रक्तकी अवस्था हुई है, इसप्रकार प्रत्येक पदार्थमें प्रति समय पर्याय हुआ करती है, ऐसा वस्तुका स्वभाव है। उस पर्यायके प्रगट होनेका कारण द्रव्य है, क्योंकि पर्यायमें-से पर्याय प्रगट नहीं होती। आत्मामें भी प्रतिसमय पर्यायें होती रहती हैं। यदि पर्यायोंमें परिवर्तन न हो तो संसार अवस्थाका नाश होकर मोक्षपर्याय न हो; अथवा विपरीत मान्यताका नाश होकर सच्ची मान्यता न हो। तात्पर्य यह है कि आत्मामें अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। किन्तु जो अवस्था नाश हो चुकी है, वह उत्पत्तिका कारण नहीं होती. किन्तु जो अखण्ड गुण है, वही उत्पत्तिका कारण होता है। पर्याय उत्पत्तिका कारण नहीं होती।

सम्यक्त्वमार्गणा—इसमें मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इत्यादि सब पर्यायें हैं—भेद हैं। दृष्टिका विषय इन भेदोंको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि द्रव्यपर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

मैं विकारी हूँ; यह विकार मेरा नहीं है, इसप्रकार अविकारीके बलसे विकारका नाश होता है। यदि भीतर वीतराग सुखरूप स्वभाव सदा न हो तो विकारका नाश किसके आश्रयसे होगा? अविकारी स्वभावके अस्तित्वपर दृष्टि हो तब ही विकारका नाश होता है।

शरीरादिकी सहायता स्वभावकी पर्याय प्रगट करनेमें काम नहीं आती। जो शुभाशुभ विकल्प होते हैं—विकार होते हैं वे अविकारका कारण कहांसे हो सकते हैं? अब रही निर्मल अवस्था सो वह भी मोक्षका कारण परमार्थसे नहीं होती, परन्तु मैं सदास्थायी गुणमूर्ति

क्षायिक सम्यक्त्व भी एक अवस्था है, जोकि सादि-अनन्त और आत्मा अनादि-अनन्त है। इसलिये उस पर्याय जितना ही आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व—यह सब पर्याय हैं, जोकि वर्तमान एक समयकी हैं। एक एक समय होकर लम्बा काल हो जाये यह बात अलग है, किन्तु वर्तमान पर्याय तो एक ही समयकी होती है। इसलिये वह अखंड आत्माका स्वरूप नहीं है। उस पर्याय पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक पर्यायसे द्रव्य पकड़ा जाता है, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है, उस रागसे आत्माका स्वरूप नहीं पकड़ा जाता। रागको वह स्वरूपगोचर नहीं है, इसलिये इस अपेक्षासे आत्माका स्वरूप क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावोंसे अगोचर है। उस पर्यायसे आत्माका स्वरूप पकड़ा जाता है, किन्तु उस पर्यायका विषय सम्पूर्ण द्रव्य है। पर्यायके भेदको सम्यक्‌दर्शनकी पर्याय स्वीकार नहीं करती, और द्रव्यपर दृष्टि डालनेसे रागका नाश होता है, पर्याय प्रति समय बदलती रहती है और द्रव्य सदा सत् है, इसलिये उसपर दृष्टि डालनेसे निर्विकल्प ध्यान होता है।

वस्तु अभेद है और दृष्टिका विषय भी अभेद है। आत्मा अभेद है, उसमें इन छह प्रकारके रागोंकी सहायता नहीं है। आत्मा छह प्रकारसे ढूंढे कि मैं क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ, उपशम सम्यक्त्वी हूँ, इत्यादि सो यह विचार अरागी स्वभावके प्रगट करनेमें सहायक नहीं होते, प्रत्युत रागमें अटक जाता है, और स्वभावपर दृष्टि करे तो स्वभावपर्याय प्रगट होती है, वह छह प्रकारकी अवस्था एकके बाद एक क्रमशः होती है। वह अवस्थायें अनादि-सांत, सादि-सांत और सादि-अनन्त है, तथा मैं अखण्ड ज्ञायकमूर्ति आत्मा अनादि-अनन्त हूँ। इसके विषयके बलसे श्रद्धा-ज्ञान और रमणता होती है। उन छह प्रकारके रागोंमें अटक जाना आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये वे पुद्‌गलके परिणाम हैं, इसप्रकार छहों पर्यायोंको पुद्‌गलका परिणाम कहा है। वे पर्यायें आत्माकी अवस्थामें होती हैं—जड़में नहीं, किन्तु उपरोक्तानुसार वे सब पौद्‌गलिक परिणाम हैं।

आत्मामें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय अखंड स्वभावका आश्रय लेनेपर प्रगट होती है। विकारका अथवा निर्मल पर्यायका आश्रय लेनेपर मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती।

सम्यक्दर्शनकी पर्याय भी सम्यक्दर्शनका विषय नहीं है, गुणोंके भेद भी सम्यक्दर्शनका विषय नहीं हैं, किन्तु संपूर्ण आत्मा सम्यक्-दर्शनका विषय है। मैं क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ या उपशमसम्यक्त्वी हूँ इसप्रकार ढूंढना भी सम्यक्दर्शनका विषय नहीं है। क्षायिक सम्यक-दर्शन प्रगट करूँ, केवलज्ञान प्रगट करूँ या सिद्ध पर्याय प्रगट करूँ, इसप्रकार पर्यायके प्रगट करनेका लक्ष भी सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है। ज्ञान समस्त भेदोंको जानता है, किन्तु सम्यक्दर्शनका तो सम्यग्दर्शनकी पर्याय पर भी लक्ष नहीं है। अनन्त गुणोंकी अनन्त पर्यायें और अनन्त गुणोंके पिण्ड आत्माका वर्तमानमें अस्तित्व है, उस-पर अभेददृष्टि करना सो सम्यग्दर्शन है, सिद्ध पर्यायका साधकदशामें प्रगट अस्तित्व ही नहीं, तब फिर जिसका अस्तित्व ही नहीं उसका आश्रय कैसे लिया जा सकता है? इसीप्रकार केवलज्ञान पर्याय वर्तमानमें प्रगट नहीं है तब फिर उसका आश्रय भी कैसे लिया जा सकता है? जो नहीं है, उस पर लक्ष नहीं दिया जा सकता, इसलिये एकाग्रता नहीं हो सकती। जो पर्याय नहीं है, अर्थात् जिस पर्यायका वर्तमानमें अभाव है, उस पर लक्ष कहाँसे दिया जा सकता है? एकाग्रता कैसे हो सकती है? इसलिये परिपूर्ण द्रव्यका प्रति समय अस्तित्व है, उस पर लक्ष दिया जा सकता है, एकाग्रता हो सकती है, और निर्मल पर्याय प्रगट हो सकती है।

आमके पेड़की प्रत्येक शाखा, प्रत्येक डाली, प्रत्येक टहनी और प्रत्येक गुच्छेको पानी देनेसे आम पैदा नहीं होते किन्तु उस वृक्षकी जड़में पानी दिया जाता है, जिससे उस वृक्षमें उत्पन्न होनेवाले और उत्पन्न हुए समस्त आमोंको पानी पहुँच जाता है, तथा प्रति वर्ष आमकी अच्छी पैदावार होती है. इसीप्रकार आत्मामें जो निर्मल पर्याय प्रगट होती हैं, उन प्रत्येक पर्यायों पर दृष्टि डालनेसे आत्मामें केवल-ज्ञान इत्यादिकी निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। उन भेदोंपर लक्ष देनेसे प्रवृत्तिका पार नहीं रहेगा। समस्त पर्यायोंका मूल या बीजभूत

क्रोध, मान, विषय इत्यादिके अशुभ परिणाम आत्मामें नहीं हैं, ऐसे निराले आत्माकी श्रद्धा करनेसे अशुभ पर्याय छूटकर निर्मल पर्याय होती है। अशुभ परिणाम आत्माकी पर्यायमें होते हैं, जड़में नहीं, किन्तु वे आत्माका स्वभाव नहीं हैं; इस अपेक्षासे उन्हें जड़का कहा है। उन अशुभ आदि परिणामों पर लक्ष रखनेसे वे नहीं छूटते किन्तु त्रैकालिक अखण्ड आत्मस्वभावकी श्रद्धा करनेसे छूटते हैं। अशुभ परिणामोंकी शरण लेनेसे नहीं किन्तु अखण्ड आत्माके शुद्ध स्वभावकी शरण लेनेसे हित होता है।

दृष्टि डालनेसे संयमकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अवस्थाके प्रगट करनेमें आत्माके स्थायीपनका आश्रय होता है। संयमकी पर्याय स्थिरता आदि अनन्त गुणोंके पिण्ड आत्माके आश्रयसे प्रगट होती है, परन्तु स्थिरताकी पर्यायके आश्रयसे भी स्थिरताकी पर्याय प्रगट नहीं होती।

मैं अखण्ड स्वभावसे परिपूर्ण हूँ-ऐसी श्रद्धा करनेसे गुणोंकी निर्मल पर्याय प्रगट होगी किन्तु अवस्था पर लक्ष रखनेसे विकल्प किया करेगा तो अवस्था निर्मल नहीं होगी। निर्मल अवस्था प्रगट करनेका आश्रय द्रव्य है। अस्थिरताको क्रमशः दूर करके स्थिरता हो सो वह भी आत्माका अखण्ड स्वभाव नहीं है। भीतर थोड़ी-थोड़ी संयमपर्याय बढ़ती जाये उसपर लक्ष देनेसे संयम प्रगट नहीं होता, किन्तु अखण्ड द्रव्यके आश्रयसे प्रगट होता है। संयमकी क्रमशः पर्याय बढ़ती जाती है, उसमें कर्मोंकी निवृत्तिकी अपेक्षा होती है, इसलिये वे संयमलब्धिस्थान आत्माके नहीं हैं। इससे पूर्व मार्गणाके कथनमें संयमके छह भेद बताये गये हैं, और यहाँ संयमलब्धिस्थानमें संयमके क्रमशः बढ़ते हुए परिणाम लिये गये हैं। संयमके स्थान असंख्यात भी हैं और अनंत भी हैं। वे सब संयमके प्रकार चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, जड़में नहीं; किन्तु उस पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग विकार है, और विकार आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये संयमलब्धिस्थान आत्माके नहीं हैं।

सब अपनी अपनी कल्पनासे माने हुए धर्मको मानते हैं; किन्तु इससे वह सच्चा धर्म नहीं हो जाता। जैसे बालक मिट्टीके हाथीको सच्चा हाथी मानते हैं, इसलिये वह सच्चा हाथी नहीं हो जाता। वस्तुका स्वभाव जैसा है, वैसा जाने बिना ही मान ले तो उससे कहीं उसका फल यथार्थ नहीं होता, किन्तु वस्तुके स्वभावको यथावत् माने तो उसका सच्चा फल होता है।

२८ वाँ कथन—पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और सैनी तथा असैनी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे सभी जीवस्थान जीवके नहीं हैं।

पर्याप्तिके छह प्रकार हैं, उनके कारण आहार लिया जाता है, बोला जाता है। उपरोक्त छह प्रकार सबमें पूर्णतया बंधे सो पर्याप्ति और अपूर्णतया बंधे सो अपर्याप्ति है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति--यह सब वादर और सूक्ष्म होते हैं। इनमेंसे जो सूक्ष्म हैं वे समस्त लोकमें सर्वत्र भरे हुए हैं। ऐसे सूक्ष्म शरीरमें तू अनन्तवार हो आया, जोकि तेरी ही भूलका कारण है, एकेन्द्रियादि समस्त जीवोंमें तू अनन्तवार हो आया है। आत्मा ज्ञायकमूर्ति, निर्मल, ज्ञानघन है। उसके यह चौदह प्रकारके जीवस्थान नहीं हैं, वे जीवस्थान क्रमके संयोगको लेकर हैं। इसलिये वे पुद्गलके परिणाम हैं, वे आत्मामें नहीं हैं।

२९ वाँ कथन—इसमें गुणस्थानोंका स्वरूप कहा है। आत्माकी पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होनेसे पूर्व चौदह अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें चौदह गुणस्थान कहते हैं। इनमेंसे अंतिम ध्येय तक पहुँचनेकी सच्ची सीढ़ी चतुर्थ गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है। उन १४ गुणस्थानोंका संक्षिप्त स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है।

१–मिथ्यात्व गुणस्थान—शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभभावको करने योग्य या अपना माने, तथा अपने स्वभावको अपना न माने सो मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह आत्माका स्वरूप नहीं है।

२–सासादन—सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके वाद जब पुनः गिरता है, तब मिथ्यात्व गुणस्थानमें पहुँचनेसे पूर्व वीचकी अवस्थाको सासादन गुणस्थान कहते हैं। उस सासादन गुणस्थानमें अत्यंत अल्प समयकी अवस्था होती है। जैसे:—पका हुआ आम डालसे गिरे और पृथ्वीको स्पर्श करनेसे पूर्व वीचमें जितना समय लगता है, उतना वीचका अल्पकाल है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनसे छूटकर मिथ्यात्व गुणस्थानमें पहुँचनेके पूर्व वृक्षसे छूटे आमकी भांति कुछ समय लगता है, उतना काल सासादन-सम्यक्त्वीका है। सासादन गुणस्थान भी आत्माका स्वभाव नहीं है।

३–मिश्र—मिश्र गुणस्थानके भी अत्यंत सूक्ष्म परिणाम होते हैं, इसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। वे मिश्र गुणस्थानके परिणाम सम्यक् मिथ्यात्वरूप होते हैं—यह गुणस्थान भी आत्माका स्वरूप नहीं है।

४–अविरत सम्यक्दृष्टि—आत्मा परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप एकरूप है, यह राग-द्वेषादि विकार मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा तो सम्पूर्ण

चिदानन्दस्वरूप है—ऐसी प्रतीति चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यक्दृष्टिको होती है; किन्तु ऐसी पृथक् प्रतीति होने पर भी पंचेन्द्रियके विषयोंकी, हिंसादिकी और कीर्ति-प्रतिष्ठाकी आसक्ति नहीं हटती क्योंकि उनके इतनी स्वरूपस्थिरता प्रगट नहीं हुई है, इसलिये अभी वहाँ आसक्ति और अविरति विद्यमान है, इसलिये इस गुणस्थानको अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। सम्यग्दर्शन भी एक अवस्था है, इसलिये उस अवस्थाके आश्रयसे पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट नहीं होता। पर्यायके आश्रयसे नहीं किन्तु वस्तुके आश्रयसे आगे बढ़ा जा सकता है। पर्याय जितना ही अखण्ड आत्मा नहीं है, इसलिये चौथा गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है।

५—देशविरत—आत्मा चिदानन्दस्वरूप है—ऐसी प्रतीति होने पर चतुर्थ गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषाय दूर हो जाती है, और यहाँ पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यान कषायकी चौकड़ी दूर हो जाती है। आत्मा परसे भिन्न है—ऐसी प्रतीति होनेके बाद स्वतत्त्वके आलंबन-के बल अनुसार पंचेन्द्रियके विषयोंका और हिंसादिका सहज ही एक-देश त्याग हो जाता है। आत्मस्वभावका सहज स्वाद लेने पर विषय-कषाय और हिंसादिकी आसक्ति एकदेश कम हो जाती है। इसे पाँचवाँ देशव्रत गुणस्थान कहते हैं। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, जोकि-द्रव्याश्रयसे प्रगट होती है। अवस्था पर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग आत्माका स्वरूप नहीं है, इसलिये गुणस्थान भी आत्माका स्वरूप नहीं है। यद्यपि गुणस्थानकी पर्याय आत्मामें होती है, जड़में नहीं, किन्तु उस अवस्था जितना ही आत्मा नहीं है। उस अवस्था पर लक्ष देनेसे राग होता है और राग परोन्मुखभाव है, इसलिये परका है, इस अपेक्षासे कहा है कि पांचवाँ गुणस्थान भी आत्माके नहीं है।

६-७—प्रमत्ताप्रमत्तविरत—मुनिदशा प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त-संयतके भेदसे दो प्रकारकी होती है। मुनिदशामें ऐसी सम्पूर्ण बाह्य नग्नता होती है जैसी माताके उदरसे तत्काल जन्मे हुए बालककी होती है। मुनिदशामें एक भी वस्त्रका ताना-बाना नहीं होता। जब मुनि छट्ठे गुणस्थानमें होते हैं तब उनके शास्त्रस्वाध्याय, उपदेश और

आहार-ग्रहण आदिका विकल्प होता है, और [illegible] होते हैं तब आत्माके निर्विकल्प अनुभवका [illegible] निज [illegible] होकर अपने स्वभावका अनुभव करता है। अप्रमत्तदशामें बाहरका किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं होता। [illegible] ध्यानमें लीन मुनिके सातवाँ गुणस्थान होता है। मुनि क्षणमें सातवें और क्षणमें प्रमत्त गुणस्थानमें [illegible] बार आया-जाया करते रहते हैं। यह मुनियोंकी आंतरिक दशा है। जब वे प्रमत्तदशामें होते हैं, तब उपदेश देने, महाव्रतोंका निर्दोष पालने और आहार ग्रहण करने इत्यादिके विकल्प उठते हैं, इसीप्रकार वे क्षणभर बाहर रहकर पुनः अप्रमत्तध्यानमें लीन होकर निर्विकल्प आनन्दमें झूलने लगते हैं।

इसप्रकार मुनिदशामें स्वरूपध्यान विशेष होता है, केवलज्ञान प्राप्त करनेकी निकटताका साक्षात् कारण भी यही होता है। छट्ठे गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरणीय चौकड़ीका अभाव होता है। छट्ठा और सातवाँ गुणस्थान—दोनों अवस्थाएं हैं, इसलिये वे आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं हैं। आत्मा पर दृष्टि डालनेसे अवस्था प्रगट नहीं होती किन्तु अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि डालनेसे प्रमत्त और अप्रमत्त मुनिदशा प्रगट होती है। उसके प्रगट होने पर उसमें कर्मोंके अभावकी अपेक्षा आती है, इसलिये वह निरपेक्ष आत्माका स्वरूप नहीं है। मात्र निरपेक्ष दृष्टिके विषयमें ऐसे परापेक्षाके भेद लागू नहीं होते, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है। केवलज्ञानकी सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होनेसे मुनित्वकी साधकदशा बीचमें आती है, गुणस्थानकी संपूर्ण पर्याय आत्मामें होती है, और गुणस्थान चैतन्यकी अवस्थामें होते हैं जड़में नहीं, तथापि उस अवस्था-भेदपर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग विकार है, विकार परनिमित्तसे चैतन्यकी पर्यायमें होता है, और इसीलिये उसे पुद्गलका परिणाम कहा है। चौदह गुणस्थान कहकर आचार्यदेवने जैनशासनका संपूर्ण व्यवहार बनाये रखा है। सर्वज्ञ भगवान कथित ऐसा अपूर्व व्यवहार अन्यत्र कहीं नहीं है—यह बताया है। गुणस्थानकी पर्याय बीचमें आती है, यह कहकर व्यवहार बताया है, और वह पर्याय आत्माकी अखण्ड स्वरूपकी दृष्टिके विषयमें नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है। दृष्टि गुणस्थानके भेदको स्वीकार

नहीं करती—इसलिये गुणस्थानको पुद्गलका परिणाम कहा है।

८–अपूर्वकरण—इस गुणस्थानमें अत्यंत विशेष ध्यान होता है। वहाँ भी बाह्य लक्ष नहीं होता और परिणामोंकी निर्मल धारा बहती है, जो कि दो प्रकारकी है–एक धारा कषायका समूल क्षय करती है—जिसे क्षपकश्रेणी कहते हैं, और दूसरी धारा कषायका उपशम करती है—उसे उपशमश्रेणी कहते हैं। इन दोनों श्रेणियोंके जितना ही अखण्ड आत्मा नहीं हैं। यह गुणस्थान-भेदका लक्षण है, अभेद आत्माका लक्षण नहीं है। गुणस्थानके भेदों पर लक्ष देनेसे राग होता है—इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है।

९–अनिवृत्तिकरण—निर्मल परिणामधारा पर चढ़ते-चढ़ते, पीछे न गिरे सो अनिवृत्ति गुणस्थान है। यहाँ निर्मल परिणामकी दो धाराएँ होती हैं। जो कषायको मूलमेंसे दूर करती है सो क्षपक-धारा है, और जो कषायको शांत करती है, वह उपशम धारा है। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, इसलिये आत्माका अखण्डस्वरूप नहीं है।

१०–सूक्ष्मसांपराय— यहाँ सूक्ष्म लोभका थोड़ासा उदय रहता है। इस गुणस्थानमें वीतरागताकी निर्मलता और ध्यानकी विशेषता अधिक होती है, किंतु सूक्ष्मसांपराय (कषाय) अबुद्धिपूर्वक होता है। यह गुणस्थान भी जीवकी एक अवस्था है, जो कि अखण्ड वस्तु पर दृष्टि रखनेसे प्रगट होती है, किन्तु इसके आश्रयमें राग होता है, और राग आत्माका स्वरूप नही है। गुणस्थान भेदका लक्षण है, वह अभेद आत्माका स्वरूप नहीं है, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नही है।

११–उपशान्तमोह—इस गुणस्थानमें परिणाममें वीतरागता होती है, और कषाय सर्वथा उपशान्त होती है, वह उपशान्तमोह गुणस्थान भी एक अवस्था है, और जो अवस्था है सो भेदका लक्षण है, अभेद आत्माका नहीं, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नही है। गुणस्थानकी पर्याय चैतन्यकी अवस्थामें होती है—जड़में नही, किन्तु गुणस्थानके भंगमें पर निमित्तकी अपेक्षा होती है—इसलिये उसे जड़का कहा है।

१२–क्षीणमोह—इस गुणस्थानमें जैसीकी तैसी निर्मल वीतराग

दशा प्रगट होती है, और मोहका सर्वथा मूलमेंसे क्षय होता है। इस गुणस्थानमें पहुँचा हुआ जीव फिर नीचे नहीं जाता, वह तो अन्तर-मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहता है। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, इसलिये अभेद आत्माका लक्षण नहीं है।

१३–सयोगकेवली—इस गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट होता है, जिससे समस्त तीनकाल और तीनलोक हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। केवलज्ञानयुक्त देहधारीको सयोगकेवली कहते हैं। जब भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त करके यहाँ विहार कर रहे थे तब वे सयोग केवली कहलाते थे, और वर्तमानमें विदेह क्षेत्रमें सीमंधर भगवान सयोगकेवलीकी अवस्थामें विराजमान हैं। केवलज्ञान भी एक अवस्था है, उस केवलपर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, केवल पर्याय सादि-अनन्त है और आत्मा अनादि-अनन्त है, इसलिये केवल पर्याय भी भेदका लक्षण है, अभेद आत्माका नहीं। अतः गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है। तेरहवाँ गुणस्थान योगोंके कम्पनको लेकर होता है, और कम्पन विकार है, तथा विकार पुद्‍गलका परिणाम है, इस अपेक्षासे तेरहवें गुणस्थानको पुद्‍गलका परिणाम कहा है।

१४–अयोगकेवली—यहाँ मन, वचन, कायके योगका कम्पन रुक जाता है, और अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पाँचों अक्षरोंके बोलनेमें जितना समय लगता है, मात्र उतने ही समयकी देहकी स्थिति रह जाती है, यह गुणस्थान भी एक विकारी अवस्था है। चौदहवें गुण-स्थानमें प्रतिजीवी गुणका परिणमन होता है, जो कि विकार है और विकार पौद्‍गलिक परिणाम हैं, इसलिये इस अपेक्षासे इस गुणस्थानको भी पुद्‍गलपरिणाम कहा है।

उपरोक्त सभी गुणस्थानोंकी अवस्था भेदका लक्षण हैं, अभेद आत्माका नहीं। गुणस्थान चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं जड़की पर्यायमें नहीं, किन्तु उसके भेद पर लक्ष देनेसे राग होता है, जो कि आत्माकी पर्यायमें होता है, वह आत्माका स्वरूप नहीं है। राग पर निमित्तसे होनेवाला विकार है, परोन्मुखभाव है, इसलिये वह पर है. इसलिये गुणस्थानके पर्यायके भेदोंको भी पुद्‍गलका परिणाम कहा है। अखण्ड

वस्तुदृष्टि गुणस्थानके भेदोंको स्वीकार नहीं करती, इसलिये उसे पुद्गलका परिणाम कहा है। आचार्यदेवने 'गुणस्थान जिनका लक्षण है', कहकर यह सिद्ध किया है कि—गुणस्थान हैं, यदि कोई गुणस्थानोंको सर्वथा न मानता हो तो उससे कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान कथित जैनशासनका गुणस्थान इत्यादिका व्यवहार है। ऐसा अपूर्व व्यवहार अन्यत्र कहीं नहीं है; यह सिद्ध करके व्यवहार बताया है। परन्तु उस भेदपर लक्ष देनेसे राग होता है, जो कि अभेद आत्माका लक्षण नहीं है, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है, और भेदसे दृष्टि हटाकर अभेद पर दृष्टि रखनेको कहा है।

इन समस्त कथनमें 'लक्षण' है, यह कहकर आचार्यदेवने जैनशासनका समस्त व्यवहार बतलाया है। जो इस व्यवहारको नहीं मानता वह महा मिथ्यात्वी है। गुणस्थान इत्यादि लक्ष है, और उनके भेद लक्षण हैं। यद्यपि वे सब भेद हैं अवश्य, किन्तु अखण्ड वस्तुकी दृष्टि उन्हें स्वीकार नहीं करती। उन भेदों पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। उन भेदों जितना ही अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

चौदह गुणस्थान मोह और योगके कारण उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे पुद्गलके परिणाम हैं, यह बात इस अध्यात्मशास्त्रमें ही नहीं, किन्तु व्यवहारनयके शास्त्र श्री गोम्मटसार इत्यादिमें भी यही कहा है। मोह और योग विकार हैं, विकार आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये गुणस्थान पुद्गलके परिणाम हैं।

गुणस्थानमें जो निर्मल पर्याय होती है, वह चैतन्यमें मिल जाती है, स्वमें अभेद होती है, उसे पुद्गलका परिणाम नहीं कहा है; किन्तु गुणस्थान मोह और योगके कारण उत्पन्न होते हैं, इसलिये उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा है।

इस वस्तुतत्त्वको धैर्यपूर्वक समझना चाहिये। ऐसा दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त करके भी यदि सत्की शरण न ली तो फिर अनन्तकालमें यह मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है। यहाँ तेरा कोई शरणभूत नहीं है, एकमात्र अखण्ड पूर्ण स्वभाव ही शरणभूत है। आचार्यदेवने

एकमेक होते हुए दिखाई नहीं देते। वे विकारीभाव अपनी अवस्था पुरुषार्थकी मन्दतासे क्षणमात्रके लिये होते हुए दिखाई देते हैं। शुभाशुभ विकारीभाव चैतन्यके निर्विकार स्वभावमेंसे प्रगट नहीं होते वे चैतन्यके स्वभावमें हैं ही नहीं। मैं केवलज्ञान अवस्था प्राप्त करूँगा सिद्धअवस्था प्राप्त करूँगा—ऐसे राग मिश्रित विचार भी चैतन्यस्वभाव नहीं हैं। इसप्रकार एक सर्वोपरि तत्त्व ही सम्यग्दृष्टिको दिखाई देत है। अखण्ड परिपूर्ण तत्त्वपर दृष्टि रखनेसे केवलज्ञान और सि पर्याय प्रगट होती है। किन्तु उस अवस्था पर लक्ष देनेसे निर्म अवस्था प्रगट नहीं होती।

ज्ञानी अर्थात् भगवानके भक्तको एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखा देता है, कि–अंतरंग एकाकार स्वरूप ही मेरा ज्ञान है, यही मेरा दर्श चारित्र और सुख है। सम्यग्दृष्टिको अन्तरदृष्टिमें देखने पर ज्ञानवि . चैतन्य ही सर्वोपरि तत्त्व दिखाई देता है। जिसे साधक स्वभाव-आंतरिक लीनता हो वही भगवानका भक्त है। जब अंतरंगमें स्थिर नहीं हुआ जा सकता तब अशुभभाव दूर करनेके लिये शुभभाव होने पर गुणोंका बहुमान होता है, और तब वह देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति इत्यादिमें लग जाता है। यद्यपि ज्ञानी इसप्रकार पूजा, व्रत, दयादिके शुभभावोंमें युक्त होता है, किन्तु उसकी यह आन्तरिकदृष्टि जागृत रहती है कि भीतर अकृत्रिम चैतन्यस्वरूप शाश्वत विद्यमान है, उसमें जो नवीन-नवीन कृत्रिमभाव होते हैं, वे चैतन्यका स्वरूप नहीं हैं।

अंतरंगदृष्टिसे आत्माको पहिचाने विना यदि किसीको दान दे-दे तो भी धर्म नहीं होता। व्यक्त मानादिकका कोई भाव न हो और शुभभाव हो तो पुण्यबन्ध होता है, परन्तु आत्मप्रतीतिके विना यथार्थ तृष्णा नहीं छूटती। मैंने दूसरेको जो वस्तु दी है, उसका स्वामीभाव रखकर अर्थात् यह वस्तु मेरे अधिकारकी है, मैं इसका स्वामी हूँ अर्थात् मैं और यह वस्तु एक है, ऐसी दृष्टिसे यथार्थ तृष्णा नहीं छूटती। यथार्थ तृष्णा तो तब छूटती है, जब ऐसी प्रतीति हो जाये कि पर वस्तु पर मेरा कोई अधिकार नहीं, मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, रागका एक अंश भी मेरा स्वभाव नहीं है, अनन्त संतोष मेरा स्वरूप है, जो पर है मैं नहीं हूँ, रागादिक भी मैं नहीं हूँ, मैं तो मात्र

वीतराग स्वरूप हूँ, इत्यादि ।

परमार्थनय अभेद ही है, इसलिये उस दृष्टिसे देखने पर भेद नहीं दिखाई देता; उस नयकी दृष्टिमें पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है, इसलिये वे सब वर्णादिक तथा रागादिकभाव पुरुषसे भिन्न ही हैं।

आत्माको रागयुक्त जानना सो व्यवहारनय है, मात्र त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव शुद्ध है—ऐसा जानना सो परमार्थनय है। आत्मामें शरीर, वाणी, मन नहीं हैं, और प्रतिक्षण जो राग-द्वेषकी अवस्था होती है, उसे भी परमार्थदृष्टि स्वीकार नही करती। चैतन्य अभेद धातु है, उसमें राग-द्वेष नही है, और श्रावक, मुनि, केवली तथा सिद्धकी अवस्थाके भेदोंको भी परमार्थदृष्टि स्वीकार नहीं करती। 'चैतन्यधातु तो चैतन्य ही है', 'वह है सो है', इसमें परमार्थदृष्टि अवस्थाके भेदोंको स्वीकार नहीं करती।

जैसे सोना, सोना ही है, ऐसा लक्षमें लेने पर उसके आकार भी उसमें आ जाते हैं; इसी प्रकार अभेद चैतन्यधातु चैतन्य ही है, वह अपने अस्तित्वरूपसे स्वतःसिद्ध जैसी है सो वैसी है—ऐसा स्वीकार करने पर समस्त पर्यायके आकार उसमें अभेदरूपसे समाजाते हैं। यह परमार्थदृष्टिका विषय है। तीर्थंकरदेवने भेद-अभेदके स्वरूपका ज्योंका त्यों वर्णन किया है।

वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव हैं उनका विशेपस्वरूप जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे ज्ञात करना चाहिये।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि-यदि यह वर्णादिकभाव जीवके नही है तो अन्य सिद्धान्त ग्रंथोंमें ऐसा क्यों कहा है कि वे जीवके हैं?

समाधानः— जिन शास्त्रोंमें कर्मोंके निमित्तकी अपेक्षाका कथन मुख्यतासे होता है, वे व्यवहारनयके शास्त्र कहलाते हैं और जिनमें मुख्यतासे आत्माके परमार्थ स्वरूपका कथन होता है वे निश्चयनयके शास्त्र कहलाते हैं। आत्माकी अवस्था तथा पुण्य-पाप, स्वर्ग-नर्क इत्यादिको बतानेवाले व्यवहारनयके शास्त्र हैं। अशुद्ध अवस्था आत्मामें होती तो है किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये अभूतार्थ है। पर्यायको बतानेवाला नय व्यवहारनय है, और उसे बतानेवाले शास्त्र व्यवहार-नयके शास्त्र हैं। पर निमित्तकी अपेक्षासे जो भेद होते हैं, उन्हें गौण

करके मात्र अभेद आत्माका स्वरूप बतानेवाला नय परमार्थनय है, व उसे बतानेवाले शास्त्र परमार्थनयके शास्त्र हैं। परमार्थदृष्टिसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है, और मुक्ति प्राप्त होती है।

अब यहाँ शिष्यके प्रश्नका उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं:—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६

अर्थः—वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव कहे गये हैं, वे व्यवहारनयसे तो जीवके हैं, परन्तु निश्चयनयके मतमें उनमेंसे कोई भी जीवके नहीं है।

यह वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शसे लेकर गुणस्थानपर्यंतके भाव व्यवहारनयसे आत्माके हैं। जैसे पानीका घड़ा व्यवहारसे कहा जाता है, क्योंकि पीतलके घड़ेके साथ पानीका सम्बन्धरूप व्यवहार है, किन्तु वास्तवमें घड़ा तो पीतलका ही है, वह पानीका नहीं होता; इसी प्रकार वर्णादिक और मोहादिक भावोंका आत्माके साथ पर्याय मात्रका सम्बन्ध है, उस अपेक्षासे वे भाव आत्माके हैं, ऐसा व्यवहारनयसे कहा जाता है, परन्तु यदि आत्माके स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो वे कोई भाव आत्माके नहीं हैं, अर्थात् निश्चयनयसे वे भाव आत्माके नहीं हैं।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, इसलिये जैसे सफेद रूईसे निर्मित वस्त्र लाल रंगसे रंगा गया हो तो वह लाल रंग उस वस्त्रका औपाधिकभाव कहलाता है; इसी प्रकार पुद्गलके संयोगवश अनादिकालसे जिसकी बन्ध पर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीवके औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन करके प्रवर्तमान होता हुआ (व्यवहारनय) दूसरेके भावको दूसरेका कहता है।

सफेद वस्त्रको सफेद ही जानना सो सच्ची दृष्टि है किन्तु उसके रंगे जाने पर उसे रंगीन मानना व्यवहार है। क्योंकि सफेद वस्त्रको रंगकी उपाधिवाला जाना इसलिये वह व्यवहारनय है। वास्तवमें वह रंग वस्त्रका स्वरूप नहीं है इसलिये वह पर्यायाश्रित व्यवहार है। वस्त्रमें जो लाल रंग है सो औपाधिकभाव है, वह वस्तुका सहज

स्वभाव नहीं है । लोग प्रायः निश्चय और व्यवहारमें गड़वड़ा जाते हैं किन्तु यदि उसका ज्ञान करे और जो अपेक्षा है, उसे भलीभांति समझे तो सारी गड़वड़ी मिट जाये ।

आत्माका स्वभाव सफेद वस्त्रकी भांति स्वच्छ, निर्मल और परमात्माकी भांति शुद्ध है । जैसे स्वच्छ-सफेद वस्त्रपर रंग चढ़ गया है, उसी प्रकार आत्मामें कर्मोंकी उपाधिका रंग चढ़ा हुआ है, किन्तु यह रंग क्षणिक है, स्थायी नहीं है, कृत्रिम है वर्तमान समय तक ही सीमित है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है । अनादि संयोगवश यह वन्ध-पर्याय प्रसिद्ध है, इसका कारण यह है कि अज्ञानीकी दृष्टि बंधपर ही है; इसलिये उसे प्रसिद्ध कहा है, किन्तु वह वन्धपर्याय संयोगवश है, आत्मामें मिली हुई-एकमेक नहीं है । सम्बन्धके कारण प्रसिद्ध है आत्माका स्वभाव नहीं है । मैं पशु हूँ, मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ इत्यादि संयोगवश होनेवाला औपाधिकभाव है । औपाधिक-भावके अवलम्वनसे प्रवर्तमान व्यवहारनय दूसरेके भावको दूसरेका कहता है ।

मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, इसप्रकार जड़के संयोगसे होनेवाले औपाधिकभाव प्रसिद्ध हैं, और इसप्रकार अनादिकालसे वन्धपर्याय प्रसिद्ध है । वस्त्रके रंगमें और आत्माके कर्म संयोगमें इतना अन्तर है कि—स्वच्छ वस्त्र पर नया रंग चढ़ाना पड़ता है, और आत्माके साथ कर्मका संयोग अनादिकालसे चला आ रहा है । ऐसा नहीं है कि आत्मा पहले वस्त्रकी भांति सर्वथा स्वच्छ था और फिर उसपर कर्मका रंग चढ़ गया है । किन्तु जो यह शरीर है सो मैं हूँ, राग मैं हूँ, और मैं ही वोलता-चालता हूँ, इसके अतिरिक्त आत्मा और क्या हो सकता है ? ऐसी भ्रान्ति अनादिकालसे संयोगवश बनी हुई है, अर्थात् स्वयं संयोगाधीन हो गया है, कहीं कर्मके संयोगने आत्माकी पर्यायको अशुद्ध नहीं किया है । राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि करके अनादिकालसे स्वयं संयोगवश हो रहा है, कहीं परवस्तुने अपने अधीन नहीं किया है । जैसे वट और वीजमेंसे पहले कौन था, ऐसा विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि—अनादिकालसे दोनों एक साथ हैं, और खानमेंसे सोना

पत्थर दोनों एक ही साथ निकलते हैं इसी प्रकार अनादिकालसे आत्मा और कर्मबन्धका संयोग आदि चला आ रहा है।

आत्माको परकी उपाधिके कारण व्यवहारसे राग-द्वेप, शरीर-मन-वाणी वाला कहा जाता है। जैसे वस्त्रको रंगवाला कहना परका उपाधि-भाव है, वस्त्रका वास्तविक स्वभाव नहीं है, इसी प्रकार राग-द्वेपादि भावको आत्माका कहना परकी उपाधिके कारण होता है, वह अपने स्वभावके अवलम्बनसे नहीं होता, इसलिये वह व्यवहार है, वह दूसरेके भावको दूसरेका कहता है, अर्थात् राग-द्वेप संयोगीभाव है, कर्मनिमित्तक भाव है, उसे दूसरेका अर्थात् आत्माका कहना सो व्यवहार है। जो व्यवहारनय कहता है, वह वस्तुका सच्चा स्वरूप नहीं है।

शास्त्रोंमें व्यवहारिक दृष्टिसे ऐसा कथन आता है कि—तूने ऐसे पाप किये इसलिये तू नरकमें गया, चार गतियोंमें परिभ्रमण किया और वहाँ ऐसी प्रतिकूलता पाई कि तेरे दुःख देखकर दूसरोंको भी रोना आ गया तथा कभी पुण्यके कारण बड़ा राजा हुआ, कभी लाखों-करोड़ों रुपये कमाये, कभी देवगतिमें गया, जहाँ अनेक अनुकूल सामग्री प्राप्त की इत्यादि। किन्तु यह सब निमित्तकी ओरकी बात है वह आत्माके मूल स्वभावकी बात नहीं है। रंगको वस्त्रका रंग कहना यथार्थ दृष्टि नहीं है, क्योंकि वास्तवमें वह रंग वस्त्रका नहीं, किन्तु व्यवहारसे उस पर्यायमें रंग लगा हुआ है। व्यवहार सर्वथा मिथ्या नहीं होता। यदि आत्मामें व्यवहारसे भी विकार न हुआ हो तो विकारका निषेध करके आत्माको अलग बतानेकी बात ही न रहे; इसलिये व्यवहार है अवश्य। जैसे वस्त्रका रंग वस्त्रमेंसे उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु बाहरसे आकर लगा है, उसी प्रकार विकार आत्मामेंसे उद्भुत नहीं हुआ किन्तु निमित्तके आश्रयसे आया है। वह आत्माका मूल स्वभाव नहीं किन्तु परकी उपाधि है। यदि पुण्य-पापके भाव आत्मामें न हुए हों तो फिर यह कैसे कहा जायेगा कि यह भाव तेरे नहीं हैं? इसलिये व्यवहारसे वे भाव आत्मामें हुए हैं किन्तु वे उसका स्वभाव नहीं हैं; इसलिये उन्हें परका कहा है। यद्यपि राग-द्वेप होते अवश्य है किन्तु वे आत्माका स्वभाव नहीं हैं।

संसार आत्माकी पर्यायमें है; स्त्री-पुत्रादिमें नहीं। पर पदार्थोंको अपना माननेकी जो अरूपी विकारी अवस्था है, सो संसार है। अवस्थादृष्टिसे आत्माकी पर्यायमें संसार है, आत्माके मूलस्वभावमें वस्तुदृष्टिसे संसार नहीं है।

यदि ध्यान लगाकर इसे समझे तो बालक भी समझ सकता है, क्योंकि यह अपने ही घरकी बात है, किन्तु धर्मके नामपर लोग बहुत चक्करमें पड़ गये हैं तथापि यदि वे समझनेका प्रयत्न करें तो यह अपनी ही–निजकी बात है।

जैसे हाथीके दांत दो प्रकारके होते हैं, उनमेंसे बाहरके बड़े-बड़े दांत बाह्य दिखाव और बनाव–शृङ्गारके लिये होते हैं, तथा भीतरके दांत चबानेके काममें आते हैं, इसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले पुण्य–पापके भाव जो कि बाहरसे दिखाई देते हैं, आत्माकी शांतिके काम नहीं आते, किन्तु वे बाह्य बातोंके अथवा भव धारण करनेके काम आते हैं, एवं अनुकूलता प्रतिकूलता तथा शरीर, मन, वाणी इत्यादिके काम आते हैं, किन्तु चैतन्यतत्त्वका मूल स्वरूप ऐसा नहीं है, यह सब परकी उपाधि है, उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हो सकता। जैसे हाथीके भीतरके दांत चबानेके काम आते हैं, उसी प्रकार आत्माके सम्पूर्ण अखण्ड स्वभावकी प्रतीति आत्माकी शांति प्रगट करनेके काम आती है।

निश्चय अर्थात् सत्य, और व्यवहार अर्थात् आरोप। वास्तवमें पराश्रयभावको अपना कहना सो व्यवहार है। जो अपनी वस्तु है वह अपनेसे अलग नहीं हो सकती; जिस भावसे स्वर्ग मिलता है, जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी विकार है, वह तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये चैतन्य भगवान आत्माको पहिचान।

जिसने पहले आत्माको नहीं जाना उससे कहते हैं कि तुझमें जो राग-द्वेष और हर्ष-शोकके भाव होते हैं, सो वे तेरी अवस्थामें होते हैं, और फिर तत्काल ही आत्माका स्वरूप बतलाकर कहते हैं कि वे तेरे स्वभावमें नहीं हैं, किन्तु वे परके हैं, जड़के हैं।

पहले यह कहकर कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि भाव तेरी

ऐसे परिपूर्ण स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान होनेके बाद भी जहाँ तक साधकदशाकी निम्न भूमिका है, वहाँ तक व्यवहारके भंग होते हैं। किन्तु उन्हें वह हेय मानता है, आदरणीय नहीं। उनसे अपनेको लाभ होना नहीं मानता किन्तु यह जानता है कि अभी अवस्था अपूर्ण है। यदि व्यवहारको भी आदरणीय माने तो व्यवहार और निश्चय दोनों एक हो जायें, क्योंकि दोनोंको आदरणीय माननेसे दोनोंका स्वरूप एक हो गया, दोनों अलग नहीं रहे, इसलिए निश्चय व्यवहारका निषेध करता है। व्यवहारके स्वरूपको ज्ञान जैसा है वैसा जानता है। अपूर्ण अवस्था है, पूर्ण होना शेष है, इसप्रकार ज्ञान सब कुछ जानता है। यदि ज्ञान जैसेको तैसा न जाने तो वह मिथ्या कहलाता है। अपूर्ण अवस्था है ऐसा जाने तो उसे दूर करनेका पुरुषार्थ जागृत हो; वास्तवमें वीर्यको जागृत करनेवाली दृष्टि है। उस निश्चयदृष्टिके बलसे अपूर्ण अवस्था दूर होकर पूर्ण अवस्था प्रगट होती है।

मैं अखण्ड परिपूर्ण हूँ, ऐसी दृष्टिका विषय साध्य है, जिसके बलसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होता है। श्रद्धा साधन है और श्रद्धाका लक्ष परिपूर्ण है साध्य है। साध्यको लक्षमें लेनेसे साधन प्रगट होता है, किन्तु साधनसे साध्य प्रगट होता है यह कहना सो व्यवहार है। पूर्ण अवस्थाके प्रगट करनेमें लक्षबिन्दुरूप जो साध्य है वह निश्चय-साधन है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पर्याय व्यवहार-साधन है। क्योंकि अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्थाकी सहायक नहीं होती, इसलिये निश्चय साधन तो दृष्टिका विषय है।

वर्ण, गंधसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भेद कहे गये है, उन भेदोंके विचार निम्नदशामें–मोक्षमार्गमें–साधकदशामें आते है, किन्तु वे विचार राग-मिश्रित है इसलिये उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा है, क्योंकि आत्मामें वैसे भंग नहीं हैं। जो ऐसे स्वरूपको समझता है, वही सच्चा जैन है। जैन कोई गोल या परिकर नही है, किन्तु जिसे अज्ञान, राग-द्वेष जीतना है उसे ऐसे अखण्डस्वरूपकी श्रद्धा अवश्य करनी होगी, इसीसे राग-द्वेष जीते जायेंगे, उन्हें जीतनेवाला ही सच्चा जैन है और भगवानका सच्चा भक्त है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो ! वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत

जो भेद कहे हैं, वे निश्चयसे जीवके क्यों नहीं हैं? इसका कारण क्या है? उसके उत्तर स्वरूप आचार्यदेव कहते हैं कि:—

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

अर्थः—इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध जल और दूधके एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग-सम्बन्धकी भाँति समझना चाहिये। वे जीवके नहीं हैं क्योंकि जीव उनसे उपयोगगुणसे अधिक है, अर्थात् वह उपयोगगुणके द्वारा अलग ज्ञात होता है।

वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंतके जो भाव हैं, उन सब भावोंका आत्माके साथ दूध और पानीकी भाँति एक ही स्थानमें रहनेका सम्बन्ध है। जैसे जल-मिश्रित दूधका जलके साथ परस्पर एक ही क्षेत्रमें रहनेका सम्बन्ध है, तथापि दूध अपने स्वलक्षणभूत व्याप्त होनेके कारण जलसे अधिकरूप पृथक् प्रतीत होता है। दूध और पानीके एक ही क्षेत्रमें एकत्रित रहने पर भी दोनों मूल स्वभावसे भिन्न हैं। उस जल-मिश्रित दूधको उबालनेसे पानी जल जाता है और दूधका मावा बन जाता है। दूध और पानी एक ही स्थानमें रहने पर भी दूधका लक्षण दूधको बतलाता है, दूधका लक्षण दूधमें व्याप्त है इसलिये दूध अपने दूधके गुणसे टिका हुआ है। जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसा ही दूधका पानीके साथ सम्बन्ध न होनेसे निश्चयसे पानी और दूध एक नहीं हैं।

इसी प्रकार वर्णादिके साथ जीवका एक ही स्थानपर रहनेरूप संबंध है तथापि उपयोगगुण द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे पृथक् प्रतीत होता है, वर्णादिक २९ कथनोंको पुद्गलका परिणाम कहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, और गुणस्थानके भेद इत्यादि—सब अवस्थाके भेद कर्मके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा है, परन्तु वे मति-ज्ञानादिक सम्पूर्ण निर्मल अवस्थाएँ चैतन्यमें होती हैं इसलिये उन्हें चैतन्यका परिणाम कहा है, वे पुद्गलके परिणाम नहीं हैं किन्तु उन

भेदों पर लक्ष जानेसे राग होता है, इसलिये उस रागको पुद्गलका परिणाम कहा है। आत्माके अखण्ड स्वभावमें अवस्थाके भेद नहीं होते परन्तु भेद उन पुद्गल कर्मोंका आश्रय करनेसे होते हैं, अतः उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा है।

आचार्यदेवने टीकामें कहा है कि स्वलक्षणभूत उपयोगगुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकतया प्रतीत होता है। यहाँ स्वलक्षणभूत उपयोगगुण कहकर त्रैकालिक उपयोग कहना चाहते हैं। आत्मा, उसके गुण और उसकी पर्याय तीनों अखण्ड हैं। स्वभावभूत उपयोग कहकर यह बताया है कि वह त्रिकालमें रहनेवाला है। द्रव्य, उसका गुण और उसकी वर्तमान पर्याय यह तीनों विद्यमान हैं, परिपूर्ण हैं, द्रव्यकी शक्तिरूप-कारणशुद्ध उपयोगरूप पर्याय भी परिपूर्ण है, यदि द्रव्यका वर्तमान—द्रव्यरूप पर्याय परिपूर्ण न हो तो द्रव्यकी अखण्डता सिद्ध नहीं होती, इसलिये द्रव्यकी पर्याय अनादि-अनन्त परिपूर्ण है, निरपेक्ष है। द्रव्य, गुण और उनकी पर्याय भी निरपेक्ष है। उन तीनों निरपेक्षोंको लेकर द्रव्य अखण्ड सिद्ध होता है। अधिक अर्थात् जुदा—सभी द्रव्योंसे अलग कहा है। वह समस्त पर द्रव्योंकी अवस्थासे भी भिन्न है। जब कि अन्य द्रव्यसे अधिक कहा है, तब अधिक पूरा होगा या अधूरा? अधिक कहकर परिपूर्णता ही सिद्ध की है, वह द्रव्य-गुण और पर्याय सभी प्रकारसे परिपूर्ण है। इसप्रकार उपयोग-गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकतया [illegible] है। कुन्दकुन्दाचार्यने मूल पाठमें भी 'उवओगगुणाधि[illegible]' [illegible] है। इसमें अत्यन्त रहस्य भर दिया है।

आत्मा उपयोग-लक्षणसे व्याप्त है, इसलिये [illegible] अवस्थाके द्वारा व्याप्त नहीं हुआ। [illegible] तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, ऐसा वर्णादिक [illegible] नहीं है, इसलिये निश्चयसे वर्णादिक पुद्गलपरिणाम [illegible] है। गुणस्थान और मार्गणास्थान [illegible] पर्यायोंमें प्रगट होते हैं सो [illegible] उन पर्यायों पर लक्ष [illegible] राग होता है [illegible] है। सिद्ध जीवोंको सिद्धस्वभाव [illegible]

नहीं, और जिस अपेक्षासे निश्चयनय है उस अपेक्षासे व्यवहारनय नहीं है। दोनोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, इसलिये दोनों नय अविरोध हैं, और दोनोंको अविरोधसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है। व्यवहार-नयसे आत्माकी पर्यायमें अशुद्धता होती है, गुणस्थान इत्यादि भेद हैं—ऐसा वह कहता है। उस व्यवहारनयको यथावत् न जाने तो भी साधकदशाका पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। सम्यग्ज्ञान-प्रमाणज्ञान दोनों नयोंका स्वरूप यथावत् जानता है, इसलिये साधकता यथार्थतया सिद्ध होती है।

जैसे व्यवहारसे कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, उसी प्रकार भगवान अरहंतदेव जीवोंमें बन्धपर्यायसे स्थितिको प्राप्त कर्म और नो-कर्मका वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्मकी जीवमें स्थिति होनेसे उसका उपचार करके व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि 'जीवका यह वर्ण है' तथा निश्चयसे सदा जिसका अमूर्तस्वभाव है और जो उपयोगगुणके द्वा अन्य द्रव्योंसे अधिक है, ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है।

आत्मा एकरूप नित्यस्थायी है, उसमें परका संयोग क्षणमा रहता है, नित्यस्थायी आत्मामें विकारी पर्यायकी एक समयकी स्थिति है; इसलिये यह विकारी पर्याय जीवकी है, पर संयोगसे होनेवाले भाव जीवके हैं यह उपचारसे कहा जाता है, आत्माके स्वभावमेंसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे मार्गमेंसे मनुष्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु मार्गमें मनुष्योंकी स्थिति उतने समय मात्रकी है, इसलिये उतने सम्बन्धसे मनुष्य लुटते हैं, तथापि उपचारसे यह कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, इसीप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो एक ही समयकी पर्यायमें है, आत्माकी पर्यायमें पर संयोगसे होनेवाले भावोंकी एक समयकी स्थिति होनेसे उतने सम्बन्धसे वे भाव उपचारसे जीवके हैं ऐसा कहा जाता है, किन्तु उन भावोंकी उत्पत्ति जीवके स्वभावमेंसे नहीं होती। जैसे मार्गपर मनुष्य आते-जाते हैं, उसी प्रकार आत्मामें राग-द्वेषका उत्पाद-व्यय होता है, उसकी एक समयमात्रकी स्थिति है, इसलिये वे आत्माके हैं—ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है, किन्तु वे आत्माके त्रिकाल अविचल स्वभावमें नहीं हैं। आत्माका सदा अमूर्त स्वभाव है, और वह उपयोगगुणके द्वारा अन्य द्रव्योंसे अधिक है।

अमूर्त कहकर वर्ण-गंध इत्यादिसे अलग किया है, और सदा उपयोग-गुणसे अधिक है, यह कहकर यह बताया है कि—वह अपूर्ण या विकारी नहीं किन्तु परिपूर्ण है। आचार्यदेवने उपयोगगुणसे अधिक कहकर आत्माको परसे भिन्न बताया है। जो परसे भिन्न होता है वह परिपूर्ण ही होता है, अपूर्ण नहीं। आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्यायसे परिपूर्ण है। और आत्माका स्वरूप परिपूर्ण है, इसलिये वह गुणस्थान और मार्गणा-स्थानकी पर्याय जितना नहीं है। आत्मा एक समयकी वर्तमानमें होनेवाली समल-निर्मल सापेक्षपर्यायसे भिन्न है, वर्तमानमें होनेवाली सापेक्षपर्यायको भी अलग करता है। वर्तमानमें आत्माकी निरपेक्ष पर्याय परिपूर्ण है, इसलिये परनिमित्तके सद्भाव-अभावकी अपेक्षासे होनेवाली वर्तमान पर्यायोंको भी अलग करता है, यह द्रव्यदृष्टिका विषय है।

आचार्यदेवने कहा है कि–'ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है,' इसमें जो 'कोई भी' शब्द है, उसका अर्थ यह है कि सर्वार्थसिद्धि या तीर्थंकरप्रकृति बाँधनेका राग किसी भी आत्मामें नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। और इसी प्रकार यह 'कोई भी' शब्द सर्वत्र लगाना चाहिये, अर्थात् गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि कोई भी आत्मामें नहीं है,—ऐसा समझना चाहिये।

आचार्यदेवने यह कहकर कि तू उपयोगगुणसे अधिक है, यह बताया है कि तू इस स्वरूप है, अर्थात् यहाँ अस्तिकी बात कही है। और मार्गणास्थान इत्यादि तुझमें नहीं है यह कहकर नास्तिकी बात कही है। एक समयमात्रका भाव तुझमें आये और जाये ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो द्रव्य-गुण-पर्यायसे परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप है। यह द्रव्यदृष्टिका विषय है, और सम्यक्‌का कारण है। यह स्वरूप शास्त्रोंके ज्ञानके प्रकाशसे समझमें नहीं आता, किन्तु स्वसन्मुख जीवके समझमें आता है।

जीवमें ज्ञानका जो विकास दिखाई देता है वह [illegible] गया है। उस विकासके अनुकूल निमित्त [illegible] है वहाँ वहाँ अज्ञानी जीवोंको ऐसा मालूम होता है कि [illegible] विकसित हुआ है। अज्ञानी जीवोंके उस विकासका [illegible]

नहीं, और जिस अपेक्षासे निश्चयनय है उस अपेक्षासे व्यवहारनय नहीं है। दोनोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, इसलिये दोनों नय अविरोध हैं, और दोनोंको अविरोधसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है। व्यवहार-नयसे आत्माकी पर्यायमें अशुद्धता होती है, गुणस्थान इत्यादि भेद हैं—ऐसा वह कहता है। उस व्यवहारनयको यथावत् न जाने तो भी साधकदशाका पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। सम्यग्ज्ञान–प्रमाणज्ञान दोनों नयोंका स्वरूप यथावत् जानता है, इसलिये साधकता यथार्थतया सिद्ध होती है।

जैसे व्यवहारसे कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, उसी प्रकार भगवान अरहंतदेव जीवोंमें बन्धपर्यायसे स्थितिको प्राप्त कर्म और नो-कर्मका वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्मकी जीवमें स्थिति होनेसे उसका उपचार करके व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि 'जीवका यह वर्ण है' तथापि निश्चयसे सदा जिसका अमूर्तस्वभाव है और जो उपयोगगुणके द्वारा अन्य द्रव्योंसे अधिक है, ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है।

आत्मा एकरूप नित्यस्थायी है, उसमें परका संयोग क्षणमात्र रहता है, नित्यस्थायी आत्मामें विकारी पर्यायकी एक समयकी स्थिति है; इसलिये यह विकारी पर्याय जीवकी है, पर संयोगसे होनेवाले भाव जीवके हैं यह उपचारसे कहा जाता है, आत्माके स्वभावमेंसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे मार्गमेंसे मनुष्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु मार्गमें मनुष्योंकी स्थिति उतने समय मात्रकी है, इसलिये उतने सम्बन्धसे मनुष्य लुटते हैं, तथापि उपचारसे यह कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, इसीप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो एक ही समयकी पर्यायमें है, आत्माकी पर्यायमें पर संयोगसे होनेवाले भावोंकी एक समयकी स्थिति होनेसे उतने सम्बन्धसे वे भाव उपचारसे जीवके हैं ऐसा कहा जाता है, किन्तु उन भावोंकी उत्पत्ति जीवके स्वभावमेंसे नहीं होती। जैसे मार्गपर मनुष्य आते-जाते हैं, उसी प्रकार आत्मामें राग-द्वेषका उत्पाद-व्यय होता है, उसकी एक समयमात्रकी स्थिति है, इसलिये वे आत्माके हैं—ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है, किन्तु वे आत्माके त्रिकाल अविचल स्वभावमें नहीं हैं। आत्माका सदा अमूर्त स्वभाव है, और वह उपयोगगुणके द्वारा अन्य द्रव्योंसे अधिक है।

अमूर्त कहकर वर्ण-गंध इत्यादिसे अलग किया है, और सदा उपयोग-गुणसे अधिक है, यह कहकर यह बताया है कि—वह अपूर्ण या विकारी नहीं किन्तु परिपूर्ण है। आचार्यदेवने उपयोगगुणसे अधिक कहकर आत्माको परसे भिन्न बताया है। जो परसे भिन्न होता है वह परिपूर्ण ही होता है, अपूर्ण नहीं। आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्यायसे परिपूर्ण है। और आत्माका स्वरूप परिपूर्ण है, इसलिये वह गुणस्थान और मार्गणा-स्थानकी पर्याय जितना नहीं है। आत्मा एक समयकी वर्तमानमें होनेवाली समल-निर्मल सापेक्षपर्यायसे भिन्न है, वर्तमानमें होनेवाली सापेक्षपर्यायको भी अलग करता है। वर्तमानमें आत्माकी निरपेक्ष पर्याय परिपूर्ण है, इसलिये परनिमित्तके सद्भाव-अभावकी अपेक्षासे होनेवाली वर्तमान पर्यायोंको भी अलग करता है, यह द्रव्यदृष्टिका विषय है।

आचार्यदेवने कहा है कि-'ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है,' इसमें जो 'कोई भी' शब्द है, उसका अर्थ यह है कि सर्वार्थसिद्धि या तीर्थंकर-प्रकृति बाँधनेका राग किसी भी आत्मामें नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। और इसी प्रकार यह 'कोई भी' शब्द सर्वत्र लगाना चाहिये, अर्थात् गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि कोई भी आत्मामें नहीं है,—ऐसा समझना चाहिये।

आचार्यदेवने यह कहकर कि तू उपयोगगुणसे अधिक है, यह बताया है कि तू इस स्वरूप है, अर्थात् यहाँ अस्तिकी बात कही है। और मार्गणास्थान इत्यादि तुझमें नहीं है यह कहकर नास्तिकी बात कही है। एक समयमात्रका भाव तुझमें आये और जाये ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो द्रव्य-गुण-पर्यायसे परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप है। यह द्रव्यदृष्टिका विषय है, और सम्यक्‌का कारण है। यह स्वरूप [illegible] मनके प्रकारसे समझमें नहीं आता, किन्तु स्वसन्मुख ज्ञानके द्वारा समझमें आता है।

जीवमें ज्ञानका जो विकास दिखाई देता है वह पुरुषार्थसे प्रगट हुआ है। उस विकासके अनुकूल निमित्त भी मिलते हैं [illegible] वहाँ अज्ञानी जीवोंको ऐसा मालूम होता है कि उन निमित्तोंसे [illegible] विकसित हुआ है। अज्ञानी जीवोंके उस विकासका झुकाव [illegible]

भगवान अरहंतदेवने वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंतके भाव व्यवहारसे जीवके कहे हैं, तथापि उपयोगगुणके द्वारा स्वयं अधिक है, ऐसे स्वभावमें पूर्ण या अपूर्णका आश्रय नहीं है, पूर्णके आश्रयसे वह निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस भंग-भेदके लक्षणसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती।

व्यवहारनयके शास्त्रोंमें मुख्यतया व्यवहारका कथन होता है, और निश्चयनयके शास्त्रोंमें मुख्यतयासे निश्चयका कथन होता है तथा निश्चयके कथनमें व्यवहारका और व्यवहारके कथनमें निश्चयका कथन गौणरूपसे होता है। यहां गौण कहा है, सर्वथा अभाव नहीं कहा। जहाँ निश्चयकी अपेक्षासे वात चल रही हो वहां यदि कोई व्यवहारकी वात लाकर रखे, और शास्त्रमें जो स्वाश्रयकी अपेक्षासे वात चल रही हो उसे लक्षमें न ले तो वह परमार्थका स्वरूप समझे बिना व्यवहारको भी कुछ नहीं समझा है। क्योंकि परमार्थ स्वरूप समझने-के वाद ही व्यवहार यथार्थतया समझा जा सकता है। परमार्थके विना समझा गया व्यवहार, व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास है।

भावार्थकारने दोनोंकी सन्धि की है कि-पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु उसे कथंचित् असत्यार्थ समझना चाहिये। आत्मामें राग-द्वेष है ही नहीं या गुणस्थान है ही नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु वे एक समयमात्रके लिये हैं, और वे त्रिकालके अखण्ड शक्तिसे परिपूर्ण द्रव्यमें नहीं हैं इसलिये यह कहा है कि गुणस्थान इत्यादि आत्मामें नहीं हैं। जब अभेद स्वरूपको मुख्य करके कहा जाता है तब अवस्थाभेद गौण हो जाता है। द्रव्यमें जो निर्मल पर्यायें होती हैं उनसे द्रव्य अभेदरूप है, किन्तु उनके भेदों पर लक्ष देनेसे राग होता है, इसलिये यह कहा है कि—उन पर्यायोंके भेद आत्मामें नहीं हैं, और आत्मा अपने अनन्त गुण और अनन्त पर्यायोंसे अभिन्न एक पिण्डरूप है, ऐसी अभेद द्रव्यदृष्टिमें कोई भी भेद प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये किसी प्रकारके भेद द्रव्यमें नहीं है इसप्रकार निषेध किया जाता है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यवहारके कोई भेद हैं ही नहीं, वे हैं अवश्य किन्तु वे द्रव्यदृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते।

सुवर्णकारकी दृष्टि मात्र सुवर्ण पर ही होती है कि यह सौटंची है या नहीं, इसके बाद ही वह सोनेकी कारीगरी पर ध्यान देता है; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिका लक्ष सम्पूर्ण वस्तु पर होता है, उस वस्तु पर दृष्टि डालनेके बाद पर्यायकी कारीगरीका पुरुषार्थ तो होता ही रहता है। अवस्था कितनी प्रगट होती है, इसे स्व-परप्रकाशक ज्ञान जानता है। देव-शास्त्र-गुरुके निमित्तकी ओरका लक्ष या रागका लक्ष छूट जाता है, तब यथार्थ स्वरूपाधीन प्रतीति होती है, किन्तु यथार्थ प्रतीति पूर्वकका स्व-परप्रकाशक ज्ञान, निमित्तको, रागको और सबको जानता है।

निश्चयदृष्टिका विषय त्रैकालिक सामान्य है। स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला ज्ञान सामान्य-विशेष दोनोंको विषय करता है।

पहले संसार था और फिर मोक्षकी उत्पत्ति-प्राप्ति हुई, इसप्रकार- [illegible] अवस्था-भेद द्रव्यदृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ [illegible]ह नहीं है कि विकारी, अपूर्ण या निर्मल अवस्थाका अस्तित्व ही [illegible]ी है। यदि सर्वथा अवस्था न हो तो अभेददृष्टिको प्रगट [illegible]नेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। विकार अल्पकालके लिये ही है। [illegible] केवलज्ञानकी पर्याय भी अवश्य है, वह कहीं सर्वथा नास्तिरूप [illegible] है। वस्तुदृष्टिका विषय अवस्था नहीं है, इसलिये यदि कोई समझे कि अवस्था है ही नहीं, विकार है ही नहीं, और केवलज्ञान इत्यादि पर्याय है ही नहीं, तो उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। और सर्वथा कुछ भी न हो तो संसार-अवस्थाका नाश और मोक्ष-अवस्थाकी प्राप्ति इत्यादिकी कोई बात ही नहीं रहती। [illegible] जान कि-विकार अवस्था है, निर्मल अवस्था है, [illegible] रागमें अटक गया तो भी मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती। [illegible] दृष्टि ही मोक्षका बीज है। व्यवहारका कथन [illegible] और निश्चयका कथन करनेवाले [illegible] सूक्ष्म और गूढ़ है।

अपूर्ण अवस्था, विकारी अवस्था और [illegible] स्वभावकी श्रद्धा करे तो निर्मल [illegible] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय[illegible]

यदि व्यवहार न हो तो निषेध किसका किया जाये और यदि आत्माका स्वरूप क्षणिक पर्याय जितना ही हो, नित्य न हो तो धर्म किसमें किया जाये! जो यह कहा गया है कि आत्मा सर्वथा निर्विकार निरपेक्ष है, सो यह श्रद्धाका स्वरूप बतानेको कहा है, परन्तु यदि निमित्त, विकार और प्रकार व्यवहारदृष्टिसे भी न हों तो वीतरागता होनी चाहिये। चैतन्यकी पर्यायमें राग होता है यदि इसे भूल जाये या उस रागको सर्वथा न माने तो वह ज्ञान मिथ्या है। यदि विकारी पर्यायको न माने तो अशुभ परिणामको दूर करके शुभ परिणाम दया, पूजा, भक्ति इत्यादिमें रहना नहीं हो सकेगा। जब महामुनि भी अप्रमत्तध्यानसे हटकर बाहर आते हैं तब पठनपाठन और उपदेश इत्यादिके शुभ परिणामोंमें लग जाते हैं। चार ज्ञानके धारी गणधरदेव जैसे महापुरुष भी बारम्बार भगवानका उपदेश सुनते हैं। यदि पर्याय-दृष्टिसे भी शुभाशुभ परिणाम न होते हों तो किसी भी प्रकारका व्यवहार सिद्ध नहीं होगा।

अशुभ परिणामसे बचनेके लिये साधकदशामें बीचमें शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु वे शुभभाव साधकको आदरणीय नहीं हैं। भगवानके दर्शन इत्यादिमें ज्ञानीका प्रयोजन वीतरागभावको बढ़ानेका होता है, बीचमें जो रागभाव होता है उस रागभावका प्रयोजन नहीं है किन्तु धर्मीका प्रयोजन शुद्ध स्वरूपमें स्थिर होना है। शुभराग वीतरागभावको नहीं बढ़ा देता किन्तु धर्मीका प्रयोजन वीतरागभावको बढ़ाना है, इसलिये भगवानके निमित्तको शुद्धका निमित्त भी कहा जाता है। ज्ञानीके व्रतादिका शुभविकल्प हो तो भी उसे उस रागका प्रयोजन नहीं है, किन्तु स्वरूपमें स्थिर होनेका प्रयोजन है। जहाँ ज्ञानीके व्रतादिका शुभविकल्प उठता है, वहाँ उसके साथ ही स्वरूपमें स्थिर होनेका वीर्य भी जागृत होता है। छट्ठे गुणस्थानकी स्थिरताके साथ मुनित्वके शुभ परिणाम होते हैं; इसप्रकार स्थिरताके साथ शुभ परिणामका संबंध है। अशुभ परिणामसे बचनेके लिये भी शुभ परिणाम होते हैं। शास्त्र-स्वाध्याय, श्रवण-मनन, देव-शास्त्र-गुरुकी-भक्ति और अणुव्रत-महाव्रतादिके परिणाम साधकदशामें होते हैं ऐसा व्यवहार है।

आत्माकी पर्यायमें यदि सर्वथा विकार न हो तो वीतरागता ही

होनी चाहिये, किन्तु सर्वत्र वीतरागता दिखाई नहीं देती, इसलिये राग है यह सिद्ध होता है। और त्रैकालिक वीतरागस्वभाव है उसकी श्रद्धा न करे तो वीतरागपर्याय प्रगट नहीं होगी। वस्तुस्वभावमें विकार नहीं है, किन्तु यदि अवस्थामें भी सर्वथा विकार न हो तो सुनना, समझना, मनन करना और समझाना इत्यादि कुछ भी न रहे।

आत्माकी पर्यायमें अच्छे-बुरेके भाव और स्वर्ग-नरकके भव इत्यादि सब है अवश्य, अर्थात् यह सब अवस्थाएँ है, यह व्यवहार-कथनके समय जानना चाहिये, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा सर्वथा विकारमय और अवस्था जितना ही है। तथा निर्विकार निरपेक्ष शुद्ध वस्तुका कथन करते समय पर्यायका भार न हो इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि पर्याय नहीं है। विकारमात्र पर्यायमें होना है, इसे न जाने तो परमार्थ कहाँ रहा? विकारपर्याय तुझमें नहीं है, यह कहनेकी अपेक्षा ही कहाँ रही? जब विकाररूप होना तभी तो निश्चयदृष्टिसे विकाररूप नहीं है, यह अपेक्षा होगी न? यदि अवस्थामें विकार हो तभी तो निश्चयदृष्टिसे नहीं है, यह अपेक्षा होगी न?

आत्मामें मोक्षमार्ग प्रगट होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी अवस्था प्रगट होती है। यदि अवस्था न होती हो तो सर्वथा कूटस्थ हो जाये, इसलिये अवस्था आत्मामें होती है। क्षणिक अवस्था होती है, उसे जानना सो व्यवहार और त्रिकाल पूर्ण द्रव्यको जानना सो निश्चय है। उन दोनों नयोंका एकसाथ ज्ञान हो सो प्रमाण है।

दर्शनके साथ रहनेवाले ज्ञानके दो पहलू हैं। एक [illegible] और जाना हुआ ज्ञानका अंश है और दूसरी ओर [illegible] और विकारी पर्यायको जानता हुआ ज्ञानका अंश [illegible] 'दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' अर्थात् [illegible] तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।

यदि क्रोध-मान-माया और लोभ [illegible] संसार हो न हो। यदि विकार सर्वथा न [illegible] रहता ही, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि विकार [illegible]

लक्षमेंसे नहीं जाना चाहिये। व्यवहारदृष्टिसे विकारका अंश है, ऐसा ज्ञानमें जानना चाहिये। जो 'है' उसे न माने तो एकान्त हो जाये। जो 'है' उसे जान लेना चाहिये और जाननेको स्वीकार करना चाहिये, किन्तु विकार अंगीकार करने योग्य नहीं है; अंगीकार करने योग्य तो एकमात्र स्वभाव ही है, और निश्चयदृष्टिका विषय ही आदरणीय है, तथा व्यवहार जानने योग्य है। जो जानने योग्य है उसे जानने योग्यसे अधिक महत्व देनेवाला मिथ्यादृष्टि है, और जो 'है' उसे 'नहीं है' कहे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। यदि पर्यायमें विकार न हो तो परमार्थका भी नाश हो जाये। जो विकार है, उसे न माने तो विकारको दूर करना और मोक्षमार्गकी साधकदशाको प्रगट करना आदि कुछ भी न रहे। इसलिये एक नय जानने योग्य और एक नय आदरणीय है। इसप्रकार दो पहलुओंसे वस्तु देखी जाती है। निश्चयदृष्टि व्यवहारके भंगको स्वीकार नहीं करती, किन्तु विपरीतका निषेध करती है। प्रमाणज्ञान दोनों पहलुओंको जानता है। व्यवहारनय, व्यवहारनयसे आदरणीय है, निश्चयदृष्टिसे नहीं। निश्चयदृष्टि अंगीकार करने योग्य है, और व्यवहार जानने योग्य है। व्यवहारनयसे लाभ होता है, और सहायता मिलती है, यह मान्यता मिथ्या है, और यदि निश्चयदृष्टिको आदरणीय न माने तो भी मिथ्या है।

प्रश्नः—जो राग-द्वेष होता है वह स्वभावमें कोई हानि करता है या नहीं?

उत्तरः—यदि राग-द्वेषको अपना माने तो वर्तमान पर्यायमें स्वभावको हानि पहुँचाता है। आत्माको निर्मल न मानने और उसे राग-द्वेषरूप माननेसे अवस्थामें हानि होती है, और जो अवस्थामें हानि है सो आत्माकी ही हानि है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों एक ही हैं। अवस्थामें राग-द्वेष होता है, इसलिये आनन्दगुणकी पर्यायका घात है, अतः यदि राग-द्वेषरूप होनेवाली मलिन पर्यायको न माने तो परमार्थका ही लोप हो जाये।

जो आत्मा है सो अपने रूपसे है, और विकाररूपसे नहीं है, ऐसा दृष्टिका विषय है। श्रद्धामें आत्माको परिपूर्ण माना और ज्ञानमें परिपूर्णता तथा अपूर्णता दोनों ज्ञात हुई। तथा परिपूर्णको जानना

निश्चय और अपूर्णको जानना व्यवहार है। यद्यपि वस्तुदृष्टिसे परिपूर्ण है, किन्तु यदि वर्तमान अवस्थामें अपूर्ण न हो तो, राग-द्वेषरूप अवस्था कहाँसे आई? इसलिये विकार अवस्था अवश्य है। यदि विकार अवस्थाको न माने तो इस परमार्थदृष्टिका लोप हो जावेगा कि जो यह विकार है सो मैं नहीं हूँ, और जो स्वभाव है, सो वही मैं हूँ। यदि पुण्य-पापकी वृत्ति पर्यायमें न होती हो तो परमार्थको समझनेकी ही क्या आवश्यकता है? आत्मा ज्ञायक है, सत् है, सो अस्ति है, और यदि अवस्थामें राग-द्वेष न हो तो यह राग-द्वेष मुझमें नहीं है—ऐसा नास्तिभाव कहाँसे आयेगा? और यदि अवस्थामें राग-द्वेष न हो तो परमार्थको प्रगट करना कहाँ रहा? इसलिये भगवानका उपदेश-स्याद्वाद समझने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है।

सर्वथा एकान्तको मानना मिथ्यात्व है। जैसे आत्मा द्रव्यसे भी पवित्र है और उसकी पर्याय भी पवित्र है, और आत्मा द्रव्यसे भी मलिन है, तथा उसकी पर्याय भी मलिन है। ऐसा माननेसे एकान्त हो जाता है। यदि मलिनता न होती तो अभी तक [illegible] कैसे हुआ? और यदि आत्मा मलिनस्वरूप ही हो तो शुद्ध अवस्था कहाँसे प्रगट हो? इसलिये आत्मा स्वभावसे शुद्ध है और उसकी पर्यायमें मलिनता है। उस मलिनताको दूर करके शुद्ध अवस्था प्रगट की जा सकती है।

अब एकान्त-अनेकान्तकी व्याख्या करते हैं:

चैतन्यमें एक वर्तमान अवस्था प्रगट है, [illegible] विद्यमान है। अखण्ड परिपूर्ण [illegible] है। द्रव्य और पर्याय [illegible] और पर्यायमात्र [illegible]

[illegible]

रूपसे व्याप्त हो और जो [illegible] अवस्थामें, [illegible] उस स्वरूप-व्याप्तिसे रहित न हो, उसका उसके साथ तादात्म्यसम्बन्ध [illegible] होता है। (जो वस्तु सभी अवस्थाओंमें जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्थामें उस भावस्वरूपताको न छोड़े उस वस्तुका उन भावोंके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है।)

वस्तु अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें व्याप्त होती है, किसी अवस्थामें व्याप्त न हो ऐसा नहीं होता, इसे तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं। यद्यपि जीव संसार-अवस्थामें किसी अपेक्षासे वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त होता है, तथापि वह मोक्ष अवस्थामें सर्वथा वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त नहीं होता। ऐसे जीवका वर्णादिके साथ किसी भी प्रकारका तादात्म्यसम्बन्ध नहीं हैं। वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंतके भावोंका पुद्गलके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध कहा है।

प्रश्न :—क्या केवलज्ञान भी इसमें आ जाता है? तब क्या केवलज्ञानका भी पुद्गलके साथ तादात्म्यसम्बन्ध कहा जायेगा? वह तो जीवकी स्वाभाविक पर्याय है?

उत्तर :—केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें प्रगट होता है, जिसे सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं, क्योंकि वहाँ योगका कम्पन होता है, और वह योगका कम्पन परकी ओरका भाव है, इसलिये उसे पुद्गलका परिणाम कहा है। किन्तु केवलज्ञानकी पर्याय द्रव्यकी निर्मल पर्यायरूप हो गई है, इससे उसे पुद्गलका परिणाम नहीं कहा। इसप्रकार चौदहवें गुणस्थानमें भी अकम्पनता प्रगट होती है, जो कि द्रव्यरूप अवस्था है, किन्तु वहाँ चार कर्म और शरीर इत्यादि विद्यमान है, इसलिये चौदहवें गुणस्थानको पुद्गलका परिणाम कहा है। चौदहवें गुणस्थानमें जीव शरीर और कर्मोंके कारण नहीं रुका है, क्योंकि वे पर द्रव्य हैं, इसलिये कोई भी जीव पर द्रव्यके कारण स्वयं नहीं रुकता। यदि वह पर द्रव्यके कारण रुकता हो तो स्वयं पराधीन हुआ कहलायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। वह प्रतिजीवी आदि गुणोंके विकारके कारण-असिद्धत्व औदयिकभावके कारण चौदहवें गुणस्थानमें रुका हुआ है। योग और मोहके कारण चौदह गुणस्थान कहे गये हैं, वे दोनों परोन्मुखी भाव हैं इसलिये गुणस्थान पुद्गलके परिणाम कहे गये हैं। जो केवलज्ञान-

पर्याय प्रगट हुई है वह अपने द्रव्यके साथ तादात्म्य सम्बन्धवाली है, किन्तु वहाँ जो कम्पन है सो परका भाव है, इसलिये उसका पुद्गलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञानपर्याय और सिद्धपर्याय आदिका [चै]तन्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष देनेसे [रा]ग होता है, और राग परकी ओरका भाव है, इस अपेक्षासे उन सब पर्यायोंको भी पुद्गलका परिणाम कहा है। सम्यग्दर्शनके भेद, केवलज्ञानकी पर्याय, और सिद्धकी पर्याय इत्यादि भेद सिद्ध या केवली नहीं किन्तु निम्न अवस्थाके साधक जीव करते हैं, और उन भेदों पर दृष्टि डालनेसे उन्हें राग होता है। जब साधक जीव यहाँ कहे गये २९ कथनों पर लक्ष देते हैं तब उन्हें राग होता है, और राग तो परोन्मुखी भाव है, इसलिये इस अपेक्षासे उन २९ कथनोंको पुद्गलका परिणाम कहा है, और इसप्रकार उन समस्त कथनोंका पुद्गलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध कहा है।

साधक जीवके राग होता है और मुक्त जीवके नहीं होता, इसलिये यह कहा है कि—संसारी जीवोंके वर्णादिभाव है, और मुक्त [ज]ीवोंके नहीं है। तथा मुक्त अवस्था प्राप्त होनेके बाद किसी भग-भेद [प]र दृष्टि नहीं करनी है, इसलिये वहाँ वर्णादि भाव नहीं है। [मुक्त] जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। [illegible] [भा]व नहीं है इसलिये सिद्ध होने पर वे अलग हो जाते हैं। [illegible] [इन]को भग-भेद पर दृष्टि डालनेसे राग होता है, और [illegible] [होत]ा है, इसलिये क्षायिकसम्यक्त्व केवलज्ञान, इत्यादि [illegible] [पुद्गल]का परिणाम कहा है; [illegible] केवलज्ञानी या सि[द्ध] [illegible] [अ]ौर सिद्धकी पर्याय अपने द्रव्यसे अभेदरूप हो गई है [illegible] [भ]ेद पर लक्ष देनेकी बात ही नहीं रही। [illegible] [के]वलज्ञानादि जो पर्याय प्रगट हुई है, [illegible] [सम्ब]न्ध है, तथा जो अविनाशी स्वभाव है [illegible] [illegible] कोई कारण नहीं है। [illegible] [illegible] पर्याय प्रगट होती है [illegible] [स]ाथ तादात्म्यसम्बन्ध है।

आत्मामें [illegible] आत्माका [illegible] होता है। [illegible] शरीरका [illegible] आत्मामें [illegible] मानता है, कि मुझे [illegible] शरीर, [illegible] एकमेक नहीं है, [illegible] शरीरका [illegible] पर आलम्बित है। संसारमें [illegible] रागादि भावोंको आत्माका कहा है, किन्तु सिद्धोंमें किसी भी प्रकारसे रागादि भाव नहीं है।

प्रश्नः—सिद्ध रागादि भावोंसे अलग हो गये हैं, किन्तु यहाँ तो भाव इकट्ठे ही हैं?

उत्तरः—जब कि यहाँ संसार-अवस्थामें वे भाव अलग हैं तब वे सिद्धोंमें अलग हो सकते हैं। जो भाव अपने होते हैं वे त्रिकाल अपने ही साथ रहते हैं, वे कभी अलग नहीं होते। इसलिये जो अलग हो जाते हैं वे अलग हैं, इसलिये अलग होते हैं। खाना-पीना, हिलना-चलना इत्यादि प्रवृत्ति संसारमें भी आत्माके अधीन नहीं है, किन्तु पुद्गलके अधीन है। आत्मा जो भाव करता है सो अपने अधीन है, किन्तु जो शारीरिक क्रिया होती है, वह पुद्गलके अधीन है। संसार-अवस्थामें शरीरादिक जीवके साथ एक ही स्थान पर रहते हैं, इसलिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि यह शरीर, यह वर्ण या यह संहनन इत्यादि इस जीवके हैं। यद्यपि यह सब निमित्तसे-उपचारसे कहा जाता है, किन्तु जो यह मानता है कि शरीरादिसे मुझे लाभ होता है, उसने शरीर और आत्माको एक ही मान रखा है, और जो जिससे हानि-लाभ मानता है, उसे वह निजरूप मानता है।

प्रश्नः—खाने-पीने इत्यादिमें आत्माको स्वाद आता है या नहीं?

उत्तरः—जो स्वाद आता है, वह जड़का है, आत्माका नहीं। आत्मा उस स्वादको जानता है। वह यह जानता है कि यह स्वाद आमका है, और यह मिठाईका। अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे आम और मिठाई आदिके रागका स्वाद लेता है; वैसे जड़का स्वाद तो कोई ले ही नहीं

देखा है? या मात्र कल्पना ही कर रखी है? परमें सुख न देखकर भी, सुखकी मान्यता कहाँ है यह खबर न होने पर भी, अनादिकालसे निःशंक होकर यही मान रहा है कि परमें सुख है। जिसको जिसमें रुचि है, वहाँ वह यह तर्क नहीं उठाता कि यदि मुझे आँखोंसे दिखाई दे तो मानूँ! आत्मामें एक निःसंदेह स्वभाव ऐसा है, कि उसको विपरीत पर्यायमें भी वस्तुमें सुख नहीं देखा, कल्पना नहीं की, तथापि ऐसा निःशंक हो जाता है कि किसी प्रकारके विचारका अवकाश नहीं रखता। जब कि विपरीत पर्यायमें भी ऐसा निःशंक हो जाता है, तब फिर जो आत्माका परिचय करके सम्यक् प्रतीति करता है, उसमें तो निःशंक होगा ही। मुझे परसे सुख प्राप्त नहीं होता, मेरा सुख मुझमें ही है, इसप्रकार यथार्थतया माननेके बाद परका आश्रय नहीं रहता। मेरी शांति, सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्ज्ञान इत्यादि सब मुझमें हैं, किन्तु परमें नहीं हैं, ऐसी यथार्थ प्रतीति स्वसन्मुखता सहित करनेसे निःशंक हो जाता है। यह सारी बात अंतरंगमें जम जाये तभी ठीक है।

प्रश्नः—आप कहते हैं कि शरीर और वाणीका सम्बन्ध पुद्गलके साथ है, किन्तु जब आप ही वाणी बोलते हैं तो इसे क्या समझना चाहिये?

उत्तरः—आत्मा वाणी नहीं बोल सकता, वह तो मात्र ज्ञान करनेवाला ज्ञायक है। वाणीका कर्तव्य वाणीमें है, वह और चैतन्यका कर्तव्य नहीं है। चैतन्यका कर्तव्य चैतन्यमें है, और वाणी पुद्गलकी अवस्था है।

प्रश्नः—यदि ज्ञान और वाणी भिन्न हों तो जैसा [illegible] है, वैसा ही कैसे बोला जाता है? अन्यथा क्यों नहीं [illegible]

उत्तरः—ज्ञान और वाणीका निमित्त नैमित्तिक [illegible] इसलिये ज्ञान जैसा परिणमित होता है, वैसी ही वाणी [illegible] होती है; सर्वज्ञ भगवानको सम्पूर्ण ज्ञान है, [illegible] सम्पूर्ण रहस्यको लिये हुए निकलती है। [illegible] ऐसा ही आता है। श्री समयसार [illegible]

[illegible], [illegible], [illegible], [illegible]
[illegible], [illegible], [illegible] [illegible]

आत्मामें शरीरका कोई भी गुण या पर्याय नहीं है। [illegible] आत्माका हित करना हो [illegible] होता है। [illegible] शरीरका वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, संहनन और आकार इत्यादि इनकी अवस्थामें [illegible] है। पर [illegible] मिथ्यादृष्टि मानता है, कि मुझे [illegible] शरीर, वर्ण इत्यादि एकमेक नहीं हैं, [illegible] शरीरका [illegible] पर आलम्बित है। व्यवहारसे [illegible] वर्णादि भावोंको आत्माका कहा है, किन्तु सिद्धोंमें किसी भी प्रकारसे वर्णादि भाव नहीं है।

प्रश्नः—सिद्ध वर्णादि भावोंसे अलग हो गये हैं, किन्तु यहां तो भाव इकट्ठे ही हैं?

उत्तरः—जब कि यहाँ संसार-अवस्थामें वे भाव अलग हैं तब वे सिद्धोंमें अलग हो सकते हैं। जो भाव अपने होते हैं वे त्रिकाल अपने ही साथ रहते हैं, वे कभी अलग नहीं होते। इसलिये जो अलग हो जाते हैं वे अलग हैं, इसलिये अलग होते हैं। खाना-पीना, हिलना-चलना इत्यादि प्रवृत्ति संसारमें भी आत्माके अधीन नहीं है, किन्तु पुद्गलके अधीन है। आत्मा जो भाव करता है सो अपने अधीन है, किन्तु जो शारीरिक क्रिया होती है, वह पुद्गलके अधीन है। संसार-अवस्थामें शरीरादिक जीवके साथ एक ही स्थान पर रहते हैं, इसलिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि यह शरीर, यह वर्ण या यह संहनन इत्यादि इस जीवके हैं। यद्यपि यह सब निमित्तसे–उपचारसे कहा जाता है, किन्तु जो यह मानता है कि शरीरादिसे मुझे लाभ होता है, उसने शरीर और आत्माको एक ही मान रखा है, और जो जिससे हानि-लाभ मानता है, उसे वह निजरूप मानता है।

प्रश्नः—खाने-पीने इत्यादिमें आत्माको स्वाद आता है या नहीं?

उत्तरः—जो स्वाद आता है, वह जड़का है, आत्माका नहीं। आत्मा उस स्वादको जानता है। वह यह जानता है, कि यह स्वाद आमका है, और यह मिठाईका। अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे आम और मिठाई आदिके रागका स्वाद लेता है; वैसे जड़का स्वाद तो कोई ले ही नहीं

अर्थः—अथवा यदि तुम्हारा मत यह हो कि—संसारमें स्थित जीवोंके ही वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूपसे) हैं, तो इस कारणसे संसारमें स्थित जीव रूपित्वको प्राप्त हुए; ऐसा होनेसे वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्यका होनेसे, हे मूढबुद्धि! पुद्गलद्रव्य ही जीव कहलाया और (मात्र संसारावस्थामें ही नहीं किन्तु) निर्वाण प्राप्त होनेपर भी पुद्गल ही जीवत्वको प्राप्त हुआ!

जो यह मानता है कि शरीरकी क्रियाओंको आत्मा करता है, वह प्रकारान्तरसे शरीर और आत्माको एक ही मानता है, क्योंकि जड़ और आत्माके एक होने पर ही आत्मा जड़की प्रवृत्ति कर सकता है, जड़से अलग रहकर जड़की प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इसलिये शरीर और आत्मा दोनों एक हैं—यही अज्ञानीका अभिप्राय है।

जो यह मानता है कि यदि शरीर अच्छा रहे तो वह ज्ञान-ध्यानमें सहायक होता है, वह शरीर और आत्मा दोनोंको एक मानता है। जैसे अग्नि और उष्णता अलग नहीं की जा सकतीं इसी प्रकार शरीर और आत्मा अलग नहीं किये जा सकते—यह अज्ञानीका मानना है।

जो यह मानता है कि चलना-फिरना, खाना-पीना आदि [illegible] होता है, वह इन्हीं अवस्थाओंको चेतनकी अवस्था मानता [illegible] वह दोनोंको एक मानता है। आत्माकी अपनी [illegible] की अवस्था दोनों एक ही समयमें होनेसे अज्ञानी [illegible] को अलग न मानकर एक ही मान लेता है।

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शका [illegible] मान्यताके अनुसार तो [illegible] [illegible]

रही, तथा आत्मा रूपी हो गया—जड़ हो गया।

जो यह मानता है कि शरीरको सुन्दर या पुष्ट बनाना आत्माके वशकी बात है, वह सर्वथा मिथ्या है। रजकण सदा बने रहते हैं इसलिये उनमें विविध प्रकारकी अवस्था होती है। शरीरकी गति देखकर अज्ञानीको भ्रम होता है कि मैं गति कर रहा हूँ, किन्तु गति करना रजकणका स्वभाव है, आत्माकी अरूपी अवस्था तो उस समय भी अलग ही है। आत्मा, जो अवस्था होती है उसका ज्ञान करता है, अथवा अभिमान करता है कि मैं परकी अवस्थाको कर सकता हूँ, किन्तु आत्मा जड़की अवस्थाको तीन काल और तीन लोकमें नहीं कर सकता।

देव-शास्त्र-गुरु शरीर और आत्माको भिन्न बताते हैं। जो ऐसे स्वरूपको नहीं जानता वह देव-शास्त्र-गुरुको यथार्थतया नहीं जानता। देव-गुरु आत्मा है, देव-गुरुका शरीर और वाणी उनका आत्मा नहीं है, इसलिये जिसने देव-गुरुके आत्माको शरीर और वाणीसे भिन्न नहीं माना उसने देव-गुरुको ही यथार्थतया नहीं जाना। जो यह मानता है कि शरीरकी अवस्थाको आत्मा करता है, वह प्रकारान्तरसे यह मानता है कि अनन्त रजकणोंको मैं करता हूँ, और अनन्त रजकण मेरे हैं। न तो देव-गुरु किसी रजकणके कर्ता हैं और न अज्ञानी आत्मा ही—ऐसा देव-गुरु-शास्त्रोंका कथन है। जो इसे नहीं मानता वह देव-शास्त्र-गुरुको ही नहीं मानता। देव-शास्त्र-गुरुने बताया है कि शरीर और आत्माकी अवस्था अलग-अलग है, यदि इसे माने तो देव-शास्त्र-गुरुको माना कहलायेगा।

[illegible]का अभिप्राय यह है कि संसार अवस्थामें जीवका अनादि [illegible] है, उसके मनमें संसार अवस्थाके समय [illegible] किन्तु [illegible] और ऐसा [illegible]

उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। इसलिये यह भाव सत्य नहीं है।

संसारअवस्थामें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श यदि जीवके हों तो जीव रूपी कहलायेगा; क्योंकि वर्णादिक रूपी हैं, और रूपीपना पुद्गल द्रव्यका असाधारण लक्षण है, इसलिये जीव भी पुद्गल सिद्ध हुआ क्योंकि दोनोंका लक्षण एक ही है, और दोनोंका लक्षण एक होनेसे लक्ष्य भी एक ही सिद्ध होगा। इसप्रकार पुद्गल ही जीव सिद्ध हुआ इसलिये जीव पदार्थ ही नहीं रहा। और वर्णादियुक्त जीव ही मुक्त हुआ क्योंकि जीव और पुद्गल दोनोंमें लक्षणभेद न होनेसे पुद्गल ही मुक्तिको प्राप्त होता है यह सिद्ध हुआ। इसप्रकार पुद्गलके अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव पदार्थके अस्तित्वका अभाव सिद्ध होता है।

शरीर, मन, वाणी और आत्मा त्रिकालमें प्रतिक्षण भिन्न हैं। शरीर और आत्मामें मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है यह जानने योग्य है। गुरुदेव कहते हैं कि रूपित्व तो जड़का लक्षण है, इसलिये वह तेरे आत्माका लक्षण नहीं है। अजीवमें जीव और जीवमें अजीव नहीं है, यह नास्तिस्वभावकी अपेक्षासे कथन है, और अस्तिकी अपेक्षासे सबके स्वचतुष्टय सबमें हैं। परमाणु और आत्माके स्वचतुष्टय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सब सबके अपने-अपने कारणसे हैं, आत्मा [illegible] जड़के आधीन नहीं है, और जड़की आत्माके आधीन नहीं है। [illegible] शरीर, वाणी और मन आत्मा [illegible] तेरे अधीन हुई कहलायी, तब फिर पृथक्त्वकी अवस्था [illegible] और मुक्तदशा कहांसे होगी। मुक्तिका अर्थ आत्माका [illegible] किन्तु परसे अलग होना है, [illegible] अलग होता है। [illegible] श्रद्धा और ज्ञानके बिना मुक्तावस्था प्राप्त नहीं होती। [illegible] जड़की अवस्थाको अपनी मानता है, [illegible] वह अवस्था साथ ही जायगी क्योंकि जो अपना [illegible] अपने साथ ही रहता है। [illegible] और वाणीकी अवस्थाको अपना [illegible] पुद्गल द्रव्य स्वयं जीव सिद्ध होता है, [illegible] ही था मोक्षमें, किन्तु मेरी अवस्था [illegible]

जड़के अधीन है,–ऐसा माने बिना मोक्षका सच्चा उपाय है ही नहीं।

यदि तुझमें और जड़में एकमेकता हो तो तू भी जड़ हुआ; और इस हिसाबसे मोक्षमें रहनेवाला जीव भी जड़ हुआ, क्योंकि सदा अपने स्वलक्षणसे लक्षित द्रव्य समस्त अवस्थाओंमें हानि अथवा ह्रासको प्राप्त नहीं होता इसलिये अनादि-अनन्त है। ऐसा होनेसे उसके मतमें भी पुद्गलोंसे भिन्न कोई जीवद्रव्य न होनेसे जीवका अभाव अवश्यम्भावी है।

स्वलक्षणसे लक्षित द्रव्य सम्पूर्ण अवस्थाओंसे स्वयं अनादि-अनन्त होता है। अवस्थामें भी हानि या ह्रासको न प्राप्त होता हुआ पर्यायोंसे भी अखंड है, इसप्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने स्पष्ट बात लिखी है। इसप्रकार द्रव्य समस्त अवस्थाओंमें अनादि-अनन्त-अखंड हो अज्ञानीके मतमें पुद्गल द्रव्य ही जीव सिद्ध होता है।

जो वस्तु तुझसे भिन्न हो जाती है वह त्रिकालमें भी तेरे साथ एकमेक नहीं है। कोई यह कहता है कि कानोंसे सुनने और आँखोंसे देखनेसे भी तो ज्ञान होता है? यदि कान न हों तो कैसे सुनेंगे? यदि आँखें न हों तो भगवानके दर्शन कहांसे होंगे, और शरीर अच्छा न हो तो तीर्थयात्रा कैसे होगी? आचार्यदेव कहते हैं कि हे मूढमति! तेरा चैतन्यस्वरूप तेरे आधीन है या जड़के? जब तेरी तैयारी होती है, तब कान, आँख और शरीर निमित्त कहलाता है। किन्तु तेरी तैयारी न होनेसे अनन्तवार सैनीपना, मनुष्यभव प्राप्त करके और साक्षात् तीर्थंकर भगवानके समवशरणमें जाकर भी चैतन्यकी प्रतीतिके बिना कोई लाभ नहीं हुआ, इन शरीर, आँख, कान इत्यादिके साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु तूने मान रखा है कि यह तेरे हैं, इसलिये चौरासीके भवोंमें भ्रमण करना पड़ रहा है। शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पापसे भिन्न निर्विकल्प-निर्विकारस्वरूप आत्मा भिन्न है। आत्माका किसी भी अवस्थाका कोई भाग आत्माके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी इत्यादिमें किसी भी प्रकारसे प्रविष्ट नहीं होता और जड़की कोई भी अवस्था आत्मामें प्रविष्ट नहीं होती। इसलिये जो आत्मामें प्रविष्ट नहीं होता वह आत्माको लाभ कैसे पहुँचा सकता है?

श्वासोच्छ्वास इत्यादिका समावेश है। ये सब कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुई वस्तुएँ हैं। कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न वस्तुओंसे तीन काल और तीन लोकमें धर्म नहीं हो सकता। यदि शरीर और इन्द्रियाँ तेरी सहायता करें तो वे तुझरूप हो गईं, तुझसे अलग नहीं रहीं। सभीको धर्म करना है, किन्तु वह कैसे होता है इसकी खबर नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा शरीर और इन्द्रियवाला है, इस विपरीत मान्यताको बदलकर मैं इन्द्रियरहित स्वतःस्वभावी तत्त्व हूँ, ऐसी स्वाश्रयी-सीधी मान्यता कर तो धर्मलाभ होगा।

जैसे सोनेका पत्र सुवर्णमय ही है, इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, मन और वाणी इत्यादि नामकर्मकी प्रकृतिका फल है इसलिये जड़-स्वरूप ही है। और नामकर्मकी प्रकृति जड़ है यह आगम सिद्ध है। अनुमानसे भी यह जाना जा सकता है कि यह इन्द्रियाँ जड़ हैं, इसलिये जड़का कारण जड़ ही होता है। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि इन्द्रियाँ इत्यादि जड़ ही हैं इसलिये मैं चैतन्य आत्मा जड़ इन्द्रियोंसे भिन्न हूँ —ऐसा मान और श्रद्धा कर।

कोई कहता है कि शास्त्रोंमें यह बात लिखी हुई है कि यदि प्रथम संहनन हो तो केवलज्ञान होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि शास्त्रोंमें यह नहीं कहा कि हड्डियोंकी क्रिया तेरे द्वारा होती है, अथवा हड्डियोंकी अवस्था तेरे द्वारा उत्पन्न की गई वस्तु है। हाँ; जब केवलज्ञान होता है, तब प्रथम संहनन विद्यमान होता है, ऐसा सम्बन्ध है किन्तु उन हड्डियोंके कारण केवलज्ञान होता है ऐसा कहीं-किसी शास्त्रमें नहीं कहा। शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। भिन्न द्रव्योंकी भिन्न श्रद्धा करके स्वपदार्थमें स्थिर होनेसे धर्म होता है।

आत्मा ज्ञानादिक अनन्त गुणोंका पिंड है, वह अजीवस्वरूप नहीं है। अजीव-पुद्गलमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श होता है; संहनन, शरीर, इन्द्रिय इत्यादि जड़की अवस्था है, वह आत्माका स्वरूप नहीं है। परवस्तु आत्मामें और आत्मा परवस्तुमें नहीं है, इसप्रकार अनादि-अनन्त दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं—निराली हैं।

शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय और शुभाशुभभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो

ज्ञानादिक अनन्तगुणोंकी मूर्ति हूँ। ऐसी अन्तर्मुख-दृष्टि और अन्तर्मुख ज्ञान आत्माकी निर्मल पर्यायके विकास होनेका कारण है। शरीर इन्द्रियादि जो जड़ वस्तु हैं, उसपर दृष्टि रखनेसे वे विकासका कारण कैसे हो सकती हैं।

लाखों बार गुरुका उपदेश सुने किन्तु वह मात्र इन्द्रियोंसे सुने तथा अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा निर्णय न करे तो श्रवणसे जो धर्मलाभ उत्पन्न करना चाहिये, वह नहीं होता। समवशरणमें जाकर भी इन्द्रियोंसे उपदेश सुना किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा स्वरूपका निर्णय नहीं किया इसलिये भवभ्रमण ज्योंका त्यों बना रहा। आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय आत्माका निर्णय अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा हो सकता है। इन्द्रियाँ कोई लाभ या हानि नहीं कर सकतीं; क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं, आगम भी इन्द्रियोंको जड़ कहता है, अनुमानसे भी इन्द्रियाँ जड़ प्रतीत होती हैं। मैं न तो इन्द्रियरूप हूँ और न इन्द्रियोंकी ओरका राग भी मैं हूँ, मैं तो अतीन्द्रिय-स्वरूप आत्मा हूँ। यह निर्णय मुक्तिका मार्ग है। देव-शास्त्र-गुरुके दर्शन तथा सत्-श्रवणमें इन्द्रियाँ बीचमें होती हैं, किन्तु यदि अतीन्द्रिय स्वरूपका निर्णय करे तो उसे निमित्त कहते हैं।

इसीप्रकार वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोंसे रचित हैं, इसलिये पुद्गलसे अभिन्न हैं। वे जड़के साथ एकमेक हैं, आत्माके साथ नहीं। यहाँ जीवस्थानके कहनेसे वर्णादिक सभी कथन ले लेना चाहिये।

यहाँ इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

[illegible] इन्द्रिय, आदि जड़से बने हैं, इसलिये जड़ ही हैं, वे किसी भी प्रकारसे आत्मा नहीं हो सकते। शरीर, इन्द्रिय इत्यादि म्यान हैं तलवार नहीं। भगवान आत्मा शरीर और इन्द्रियादिसे रहित है, उसका इन्द्रियादिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्नः—शरीर और इन्द्रियादिक साधन तो हैं, न?

उत्तरः—आत्माका साधन आत्मासे होता है,—शरीर इन्द्रियादिसे तीनलोक और तीनकालमें भी नहीं हो सकता।

पीतलके घड़ेको पानीका घड़ा कहना, उपचारसे—व्यवहारसे कथन है, उसमें पानी है इसलिये वह पानीका घड़ा कहलाता है, वैसे वास्तवमें तो वह पीतलका ही है पानीका नहीं। इसी प्रकार आत्माको शरीरवाला या इन्द्रियवाला कहना सो उपचारसे—व्यवहारसे कथन है। शरीर और इन्द्रियाँ एकक्षेत्रावगाह रूपसे साथमें रहतीं हैं इसलिये आत्मा शरीरवाला और इन्द्रियवाला कह दिया जाता है, वास्तवमें तो आत्मा इन्द्रियादिसे रहित ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे युक्त है।

जिसने आत्माको शरीर और इन्द्रियादिवाला ही देखा और जाना है, तथा जिसने अभी तक आत्माको शरीर इन्द्रियादिसे रहित नहीं जान पाया उसे श्रीगुरु समझाते हैं कि यह जो शरीरादि दिखाई देता है सो आत्मा नहीं, किन्तु वह तो शरीरादिसे भिन्न ज्ञानादिगुण स्वरूप है। पुद्गल, पुद्गल स्वरूपसे है, वह त्रिकालमें भी आत्मारूपसे नहीं हो सकता, तथा आत्मा, आत्मा स्वरूपसे है, वह कभी भी पुद्गल स्वरूप नहीं हो सकता। पुद्गलके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा-स्वरूप और आत्माके पुद्गलस्वरूप नहीं हैं, किन्तु दोनोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग ही हैं।

जैसे लोग सोनेके म्यानको सोना ही देखते हैं, किसी भी प्रकारसे तलवार नहीं देखते, उसी प्रकार शरीर इन्द्रियादिक पुद्गल-[illegible] हैं, [illegible] पुद्गलमय ही देखते हैं किसी भी [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] शरीर और आत्मा एक क्षेत्रमें [illegible] है, [illegible] नहीं है। किन्तु अज्ञानी आत्मा [illegible] है।

यह शरीर इंद्रियादिकी रचना जड़की है—आत्माकी नहीं। यह आत्माकी जातिकी नहीं है, जो आत्माकी जातिकी नहीं है वह त्रिकालमें भी आत्माकी सहायता नहीं कर सकती। कभी भी जड़ चेतन, और चेतन जड़ नहीं हो सकता। स्वयं निजरूप है, वह पररूप त्रिकालमें भी नहीं है। और पर पररूप है, वह अपनेरूप त्रिकालमें भी नहीं है। जो जड़से बना है वह जड़ ही है, वह त्रिकालमें भी आत्मारूप नहीं हो सकता। जो जीवस्वरूप है, वह जीवस्वरूप ही है, और जो जीवस्वरूप नहीं है, वह त्रिकालमें भी जीवस्वरूप नहीं हो सकता। जैसे म्यान और तलवार अलग-अलग है उसीप्रकार म्यानरूपी शरीर और तलवाररूपी आत्मा दोनों ही भिन्न हैं। शरीरकी क्रिया त्रिकालमें भी तेरे हाथमें नहीं है, इसलिये तू अन्तर्मुख होकर देख।

अब यहाँ दूसरा कलश कहते हैं—

(उपजाति)

वर्णादि सामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माण मेकस्य हि पुद्गलस्य
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ [illegible] ॥

अर्थः—हे ज्ञानीजनो! यह जो वर्णादि [illegible] है उन सबको एक पुद्गलकी रचना जानो। [illegible] ही है, आत्मा नहीं; क्योंकि आत्मा तो [illegible] इसलिये वह वर्णादिक भावोंसे अन्य है। [illegible]

हे ज्ञानीजनो! इन [illegible] वर्णादि [illegible] भावोंको पुद्गलकी रचना जानो। [illegible] भी आत्मा नहीं है। [illegible] विज्ञानघनस्वभावी [illegible] भिन्न है। [illegible]

[illegible]

या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी हूँ, ऐसे विचार तथा पांचों ज्ञानकी पर्यायके भेदके विचार सब रागमिश्रित विचार हैं, वह राग जड़कर्मके निमित्तसे होनेवाला विकार है, आत्मा उससे भिन्न है। जड़ वस्तु या उसके निमित्तसे होनेवाला विकार अथवा जड़का संयोग इत्यादि सब जड़ है। यह सबसे पहली इकाई है। आत्मा परसे भिन्न है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान कर, और उसमें स्थिर हो; तथा अन्तर्मुख होकर बहिर्मुखताको छोड़! अन्तर्मुखताकी प्रतीति कर!

संयोगीका अवलम्बन लूँ तो गुण प्रगट हो, या शरीर, वाणी, मन इत्यादिका अवलम्बन लूँ तो गुण प्रगट हो—ऐसी मान्यता सर्वथा अज्ञान है। क्या आत्मा ऐसी निर्माल्य वस्तु है, कि उसमें दूसरेसे गुण आते हैं? आत्मामें अनन्तगुण भरे हुए हैं, यह प्रतीति कर। जब कि आत्मामें अनन्तगुण हैं तभी तो उसमेंसे प्रगट होंगे। गुण प्रगट नहीं होते किन्तु पर्याय प्रगट होती है। मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों गुणकी पर्याय हैं, संसार भी पर्याय है गुण नहीं। आत्माकी विकारी अवस्था संसार है, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिक नहीं। राग-द्वेष और परवस्तु मेरी है, इसप्रकार विपरीत मान्यतारूप संसार आत्माकी अवस्थामें होता है। संसार चौदहवें गुणस्थान तक होता है। पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वभावका, चौथेसे दसवें तक कषायभावका और ग्यारहवेंसे तेरहवें तक योगके कम्पनका संसार है, तथा चौदहवें गुणस्थानमें जो रहते हैं वह संसार है। इसप्रकार चौदहवें गुणस्थान तक आत्माके चार प्रतिजीवी गुणोंकी और ऊर्ध्वगमनादि स्वभावोंकी अशुद्ध अवस्था होनेके कारण संसार है।

द्रव्य और गुण अनादि-अनन्त हैं। पर्यायके दो पहलू होते हैं, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, संसार और मोक्ष इत्यादि। आत्माकी निर्मल पर्यायें-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्माके गुणोंसे प्रगट होती हैं; वे हाथ, कान, मन या विकारसे प्रगट नहीं होतीं; जब तक ऐसी स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती तबतक सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र नहीं होता। स्वरूपकी प्रतीतिके विना मोक्ष प्रगट नहीं हो सकता। एक समयमें अनन्तगुणोंके रसकन्द अभेद आत्मामें भंग-भेद नहीं होते; ऐसे अखंड द्रव्यकी यथार्थ प्रतीति है जो अनन्तकालमें कभी भी प्रगट नहीं की थी; यह कल्याणका अपूर्व मार्ग है। जैसे म्यान और तलवार

दोनों भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और शुभाशुभ विकार दोनों भिन्न हैं। आत्माका धर्म आत्मासे प्रगट होता है। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तुका स्वभाव ही धर्म है। धर्म कहीं बाहरसे नहीं आता। जो जिसमें नहीं है, वह हो नहीं सकता, और जो है वह जा नहीं सकता, इसलिये आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिंड है, उसमेंसे उसकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है, परमेंसे नहीं।

कोई कहता है कि ऐसे वस्तुस्वभावकी खबर न हो, किन्तु भगवानका स्मरण किया करें या 'णमो अरिहंताणं' की जाप जपा करें तो लाभ होगा या नहीं?

शुद्ध स्वभावसे परिपूर्ण है। मुझे राग–द्वेषका त्याग करना है—ऐसा जो भाव तेरे भीतरसे उत्पन्न होता है उससे सिद्ध है कि भीतर अनन्त गुणोंका पिण्ड अखण्ड नित्य आत्मा विद्यमान है, जिसके बलसे यह विचार होता है कि अब राग–द्वेष मुझे नहीं चाहिये, किन्तु तुझे खबर नहीं है, इसलिये तू अशुद्ध पर्यायको ही जीव मान रहा है। इसप्रकार अज्ञानीको खबर नहीं है, इसलिये उसे व्यवहारसे समझाते हैं।

आत्मामें जो अवगुण होते हैं वे एक समयमात्रके होते हैं। और वे आत्माकी पर्यायमें होते हैं। आत्मा कहीं अलग रह जाता हो और पर्याय कहीं अलग रह जाती हो सो बात नहीं है। अशुद्ध पर्याय आत्मासे अभिन्न है, परन्तु शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे देखा जाये तो वह भिन्न है। जो वस्तुस्वभावको नहीं समझता उससे कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेषवाला है, शरीर, रूप, रंग, संस्थान वाला है, इसप्रकार तू मान रहा है, किन्तु ऐसा नहीं है, वह तो ज्ञानमय है; इसप्रकार उसमें अस्ति-नास्ति दोनों स्वरूप आ जाते हैं। आत्मा ज्ञानमय है, ऐसा कहनेमें अभेददृष्टिसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों एक साथ आ जाते हैं।

वास्तविक दृष्टिसे त्रैकालिक जीव वस्तुमें अज्ञान और राग–द्वेष हैं ही नहीं। अनन्तगुणोंका पिंड अखंड आत्मा परसे भिन्न है, ऐसी प्रतीति मोक्षका सर्व प्रथम उपाय है। जब ऐसी प्रतीति होती है, तब जीव अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्वसे छूट जाता है। और जहाँ अगृहीत मिथ्यात्व छूटा कि वहाँ गृहीत मिथ्यात्व तो छूट ही जाता है। मिथ्या देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति छूट जाने पर गृहीत मिथ्यात्व छूट जाता है। जहाँ सच्चे देव–शास्त्र–गुरुकी प्रतीति होती है वहीं *यथार्थ* सम्यग्दर्शन होता है। सच्चे देव–शास्त्र–गुरुकी प्रतीति हो किन्तु यदि स्वयं यथार्थ निर्णय न करे तो आत्माकी पहिचान नहीं होती, परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति होती ही है।

अज्ञानीको ऐसा लगता है कि शरीर और इन्द्रियादिकी सहायताके बिना मैं टिक नहीं सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं परके आधार बिना नहीं रह सकता। ऐसी मान्यता ही संसार है। आत्मा तो परसे निराला ज्ञानमय है, अज्ञानीको इसकी खबर नहीं है। वह

विपरीत मान्यतामें लगा हुआ है, उसीमें विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण भी समाविष्ट है, और यथार्थ मान्यताके होनेपर उसीमें सच्चा ज्ञान और सच्ची स्वरूपस्थिरता भी आ जाती है।

आत्मा रागवाला, शरीरवाला है, इत्यादि व्यवहार-कथन है, और आत्मा रागरूप तथा शरीररूप नहीं है, किन्तु ज्ञानरूप है, यह निश्चय-कथन है। यदि ऐसे निश्चय-कथनको समझ ले तो व्यवहार, व्यवहाररूपसे सच है, और यदि निश्चयके कथनको न समझे तो व्यवहार स्वयं ही निश्चयरूप हो गया। क्योंकि उसने व्यवहारसे भिन्न निश्चयके स्वरूपको नहीं जाना। व्यवहारका कथन निमित्तमात्र है, क्योंकि वस्तुस्वरूप व्यवहारमय नहीं है, इतना समझ ले तो निमित्त कथन भी यथार्थ है अर्थात् व्यवहार व्यवहारसे सच है, और यदि न समझे तो निश्चय तथा व्यवहार दोनों मिथ्या हैं।

यहाँ इस गाथामें व्यवहारको अप्रयोजनभूत कहा है, और बारहवीं गाथामें यह कहा था कि व्यवहारको जानना प्रयोजनवान है। इन दोनोंकी अपेक्षायें भिन्न-भिन्न हैं। व्यवहारसे मुझे लाभ नहीं है, इसलिये वह अप्रयोजनभूत है और बारहवीं गाथाके अनुसार इस व्यवहारकी अपेक्षा ऐसी है कि व्यवहारको जानना प्रयोजनवान है, क्योंकि [illegible] है उसे न जाने तो ज्ञान मिथ्या कहलायेगा। इसलिये [illegible] जानना प्रयोजनवान है। इसप्रकार दोनों अपेक्षाएँ भिन्न हैं।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं।

घृतकुंभाभिधानेऽपि कुंभो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ [illegible]

अर्थः—'घीका घड़ा' [illegible] नहीं है (मिट्टीमय ही है), इसी प्रकार [illegible] जो जीव है वह वर्णादिमय नहीं है, [illegible]

[illegible]

करता है—ऐसा माननेसे व्यवहार ही निश्चय हो गया, अर्थात् दोनों एक ही हो गये; इसलिये ऐसा मानना मिथ्या है। घीका घड़ा घीमय नहीं किन्तु माटीमय है, जैसे यह निश्चित हुआ उसी प्रकार यह भी निश्चय हो गया कि शरीरवान आत्मा शरीरमय नहीं किन्तु ज्ञानमय है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ निमित्तका कथन आये वहाँ यह समझना चाहिये कि उसमय नहीं है। इस प्रकार उसका अर्थ सच्चा है, और ऐसा न समझकर यदि वस्तुको निमित्तमय ही माने तो उसका अर्थ सच्चा नहीं है।

व्यवहारसे जितनी वात कही है वह व्यवहार आत्माके अखंड-स्वरूपमें नहीं है। निमित्तसे समझाया जाता है किन्तु आत्मा निमित्तमय नहीं है। इस प्रकार समझने वाला जीव यथार्थ समझ जाये तो वह निमित्त, निमित्तरूप कहलाता है। जहाँ ऐसा कथन है कि—पुस्तकसे आत्माको लाभ होता है, वहाँ यह समझना चाहिये कि वास्तवमें पुस्तकसे लाभ नहीं होता, किन्तु जव स्वयं यथार्थ स्वरूपको समझता है तव पुस्तकको निमित्तका आरोप होता है। यदि समझे विना मात्र व्यवहारको पकड़ेगा तो लाभ नहीं होगा। जीवोंकी बहिर्मुखदृष्टि हो गई है, उनकी अन्तर्मुखदृष्टि करनेका यही उपाय है।

इस जगतमें जीवद्रव्य अनन्त हैं और प्रत्येक आत्मा अनन्तगुणोंका पिंड ईश्वर है। प्रत्येक आत्मा स्वभावसे परिपूर्ण है। यह आत्मा किसीकी प्रार्थनासे प्रगट नहीं होता किन्तु स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपने स्वरूपकी पहिचान करके प्रतीति करे तो प्रगट होता है। कोई आत्मा किसी परपदार्थसे परतंत्र नहीं है, किन्तु स्वयं अपने गुण-पर्यायसे स्वतंत्र है।

घीका घड़ा, आटेका घड़ा, पानीका घड़ा, और दवाकी शीशी इत्यादि बोलनेकी व्यावहारिक रीति है, वास्तवमें घीका घड़ा इत्यादि नहीं होता। इसीप्रकार आत्माको मनवाला, श्वासोच्छ्वासवाला, पर्याप्तिवाला, शरीरवाला कहना सो मात्र एकक्षेत्रमें इकट्ठे रहनेके कारण उस प्रकारसे व्यवहारका कथन है, किन्तु वास्तवमें वह आत्माका स्वरूप नहीं है, क्योंकि उन सबसे आत्माका स्वरूप भिन्न है। जो भिन्न है वह त्रिकालमें भिन्न ही रहता है, कभी एक नहीं होता।

मात्र एक ही क्षेत्रमें एकत्रित रहनेके संबंधसे आत्मा शरीरादिवाला कहलाता है, वैसे शरीरादि पुद्गलमय और आत्मा ज्ञानमय ही है।

प्रश्नः—मतिज्ञान शुद्धताका अंश है, किन्तु जब शुद्धताका अंशरूप मतिज्ञान प्रगट होता है तो उसमें मनका निमित्त है या नहीं?

उत्तरः—यह सच है कि मतिज्ञान शुद्धताका अंश है; किन्तु वह शुद्ध अंश मन रहित प्रगट होता है। जब मतिज्ञान प्रगट होता है, तब मन विद्यमान होता है, किन्तु मनसे मतिज्ञान प्रगट नहीं होता। पाँच इन्द्रियों और मनसे मतिज्ञान होता है—ऐसा कहना मात्र निमित्तसे बोलनेकी रीति है। शास्त्रोंमें व्यवहारसे जो स्वरूप कहा है, वहाँ यह समझना चाहिये कि स्वभावमें वैसा नहीं है। इस प्रकार यथार्थ वस्तुस्वभाव जैसा हो, वैसा ही समझना चाहिये, व्यवहारको निश्चय मानकर मिथ्या मान्यता नहीं करनी चाहिये। जहाँ व्यवहारकी अपेक्षासे कथन होता है वहाँ यह कहा जाता है कि मतिज्ञान मन और इन्द्रियोंसे प्रगट होता है, किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। मतिज्ञान आत्मासे ही प्रगट होता है—ऐसा जानना सो उसका वास्तविक अर्थ है, क्योंकि मन और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, तब क्या जड़ और [illegible] अपनी ज्ञानपर्याय प्रगट हो सकती है? कदापि नहीं। ज्ञानकी पर्याय आत्मासे ही प्रगट होती है।

जीव नहीं हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध हो गया कि यह रागादि भाव जीव नहीं हैं।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

अर्थः—ये गुणस्थान मोहकर्मके उदयसे होते हैं, ऐसा (सर्वज्ञके आगममें) कहा गया है; वे जीव कैसे हो सकते हैं जो सदा अचेतन कहे जाते हैं?

६६ और ६७ वीं गाथामें यह कहा गया है कि आत्मामें जीवस्थान नहीं हैं, और अब यहाँ ६८ वीं गाथामें यह कहते हैं कि गुणस्थान भी जीवके नहीं हैं। गुणस्थान चौदह हैं, उनमेंसे पहला गुणस्थान मिथ्यात्व का है, शरीर-वाणी और चैतन्यकी अवस्थामें होने वाले राग-द्वेषके परिणाम मेरे हैं यह मान्यता मिथ्यात्व है। सब आत्मा मिलकर एक आत्मा होता है, यह मिथ्या मान्यता है। आत्माको किसीने बनाया है और आत्मा जगतका करता है, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानघनज्योति है। यदि मिथ्यात्व आत्माका स्वभाव हो तो वह दूर कैसे हो सकता है, इसलिये मिथ्यात्व आत्माका स्वरूप नहीं है।

दूसरा गुणस्थान सासादन है। आत्मप्रतीति होनेके बाद यदि कोई जीव वहाँसे गिरे और मिथ्यात्वको प्राप्त हो तो उससे पूर्वके परिणामको सासादन गुणस्थान कहते हैं। उसकी स्थिति अत्यल्प होती है। तीसरा मिश्र गुणस्थान है, उसकी स्थिति भी अत्यल्प होती है।

चौथा गुणस्थान सम्यग्दर्शनका है, इसे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। वहाँ आत्माकी अपूर्व प्रतीति होती है, जो अखंडानन्दस्वरूप चैतन्य है, उसका आंशिक अनुभव होता है। चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। यहींसे मोक्षका मार्ग प्रारम्भ होता है। वहाँ अनन्तानुबंधी कषायकी चौकड़ी दूर हो जाती है, और तीन कषाय शेष रह जाते हैं। वहाँ अभी अव्रत दूर नहीं होता इसलिये उसे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान कहते हैं।

सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वरूपकी आंशिक स्थिरता बढ़ने पर, अव्रतके परिणाम दूर होने पर पांचवीं भूमिका प्राप्त होती है। वहाँ कषायकी दूसरी चौकड़ीका अभाव हो जाता है। यहाँ सर्वथा अव्रत दूर नहीं होता किन्तु अमुक अंशमें दूर होता है, इसलिये इसे संयमासंयम या देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

छठ्ठी भूमिका परिपूर्ण स्वभावको सिद्ध करनेकी उत्कृष्ट साधक-दशा है। उस भूमिकामें स्वरूपरमणता बहुत अधिक बढ़ जाती है। मुनिजन छठ्ठी और सातवीं भूमिकामें हजारों बार गमनागमन करते हैं। वहां वीतरागता प्राप्त कर ली है, अथवा प्राप्त करनेवाले ही हैं, ऐसी दशामें मुनिराज झूलते हैं। मुनियोंके अन्तरंगमें और बाह्यमें निर्ग्रन्थता–नग्नता होती है। वहां कषायकी तीन चौकड़ियोंका अभाव हो जाता है, और मात्र एक संज्वलन कषायका ही उदय रहता है। वहां अव्रतका सर्वथा अभाव होता है इसलिये छठ्ठे गुणस्थानको प्रमत्तसंयत कहते हैं, और सातवेंको अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। छठ्ठे गुणस्थानमें शुभमें उपयोग होता है इसलिये उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं और सातवें गुणस्थानमें उपयोग स्वरूपध्यानमें लीन रहता है, इसलिये उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

होते हैं, किन्तु उस भंगपर लक्ष जानेसे राग होता है। गुणस्थानके जो भेद होते हैं, उनमें कर्मोंके निमित्तकी अपेक्षा होती है, इस अपेक्षासे गुणस्थानको पुद्गलका परिणाम कहा है। गोम्मटसारमें भी गुणस्थानोंको मोह और योग निमित्तक कहा है। यह बात अखंड दृष्टि कराने या अखंड पर भार देनेको कही है। जो भंग-भेद हैं सो गौण हैं, इसके भारको यह बात दूर कर देती है। अखंड द्रव्यपर दृष्टि डालनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। खंड पर दृष्टि देनेसे सम्यक्-दर्शन प्रगट नहीं होता। अवस्थाके लक्षसे परिपूर्णताका लक्ष कैसे हो सकता है? इसलिये यहां परिपूर्णतापर दृष्टि देनेकी बात है। **आत्मामें निमित्तकी अपेक्षा लक्षमें ली जाये तो बन्ध और मोक्ष दो भेद हो जाते हैं। यदि निमित्तकी अपेक्षाको लक्षमें न लें और अकेला निरपेक्षतत्त्व ही लक्षमें लें तो स्वभावपर्याय ही प्रगट होती है।** आचार्यदेव अखंडदृष्टि करानेके लिये और अखंडद्रव्यकी ओर उन्मुख होनेके लिये यथार्थ वस्तुदृष्टिकी बात करते हैं, उसे वैसा समझे और साधक दशाको सिद्ध करते हुए बीचमें कौन-कौन सी पर्याय आती है, उसका ज्ञान करानेके लिये और अशुद्ध पर्यायको दूर करके शुद्ध पर्याय प्रगट करानेके लिये पर्यायदृष्टिसे बात करते हैं सो वैसा समझे; द्रव्यदृष्टिको पर्यायदृष्टिमें न डाले, और पर्यायदृष्टिको द्रव्यदृष्टिमें न डाले, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही समझे सो यह मोक्षका उपाय है।

आत्मा परमाणुसे, शरीरादिसे और रागादिसे पृथक् तत्त्व है, ऐसा विश्वास हुए विना पूर्ण होनेका प्रयास कैसे हो सकता है? सुखी कैसे हुआ जा सकता है? स्त्री-कुटुम्बादिसे सुख होगा ऐसा विश्वास जबतक रहेगा, तबतक परिपूर्ण आत्मतत्त्वका विश्वास नहीं जमेगा।

जीवोंको अपने स्वभावकी महिमा ज्ञात नहीं हुई, इसलिये वे पर-वस्तुको एकत्रित करना चाहते हैं, सम्पूर्ण लोकालोकको एकत्रित करनेका प्रयत्न करते हैं; इतना ही नहीं किन्तु यदि अनंतानंत लोका-लोक हों तो भी उन्हें एकत्रित करना चाहते हैं, ऐसी भारी तृष्णा विद्यमान है। मुझे कुछ नहीं चाहिये; लोकालोक तो क्या किन्तु

क्षणिक पुण्य-पापकी पर्याय भी मुझे नहीं चाहिए, ऐसी श्रद्धा हुई और स्वोन्मुख हुआ कि वहाँ मर्यादा आ जाती है, और जिस वस्तुको एकत्रित करना चाहता है, उसकी मर्यादा नहीं होती। जीव परोन्मुख होता है और परको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता रहता है। अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और अनन्त पुण्य-पापके भाव इसप्रकार अनन्तानन्त वस्तुओंको प्राप्त करने और उन्हें भोगनेका भाव हुआ करता है, उसमेंसे सुख और शांति प्राप्त करूँ ऐसे भावकी मर्यादा नहीं होती। यदि संयोगी वस्तु मिल जाती है तो उसके रागके दाहमें और यदि चली जाती है तो उसके द्वेषके दाहमें जलता रहता है। जितने समय स्वयं रहता है उतने समय तक संयोगी वस्तु नहीं रहती, इसलिये दुःखका वेदन किया करता है। यदि वह वस्तु रहती है तो रागकी पीड़ा और नहीं रहती तो द्वेषकी पीड़ा होती रहती है। अनन्त वस्तुओंको प्राप्त करनेके भावमें एक वर्ष, दो वर्ष, दस वर्ष और सारा जीवन यों ही व्यतीत करके दूसरे भवमें जाता है, और वहाँ भी वही भाव बना रहता है। इसप्रकार जीव यों ही अनन्त भवोंमें अनन्त काल इस दाहमें व्यतीत कर देता है।

और कुछ नहीं है, इसलिये अपने विचार बदल। बाहर तो कहीं भी सुख नहीं है, किन्तु जो एकमात्र आत्मा है उसमें एक साथ अनन्त गुणोंका संग्रह विद्यमान है, उस ओर उन्मुख हो। उसमेंसे शांति प्राप्त होगी।

अज्ञानीकी दृष्टि बाह्य पदार्थों पर जाती है, इसलिये वह अनन्त पर-पदार्थोंको प्राप्त करना चाहता है. परन्तु एक समयमें सम्पूर्ण—अनन्त पदार्थ उसके पास नहीं आ सकते। एक आत्माने शरीर, मन, वाणी, श्वासोच्छ्वास और इन्द्रियोंके रूपमें अनन्त परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण किया है, तथापि उसके द्वारा अगृहीत अनन्तानन्त परमाणु इस लोकमें ठसाठस भरे हुए हैं, और जिन्हें अनन्त कालमें भी ग्रहण नहीं किया जा सकेगा ऐसे अनन्त परमाणुओंका समूह संग्रहात्मक रूपसे इस जगतमें विद्यमान है। मिथ्याश्रद्धाके विषयमें बाहर लक्ष करता है. तथापि अनन्त एकत्रित नहीं हुआ और वह एकत्रित हो भी कहाँसे ? वह पर वस्तु तेरे आधीन नहीं है, पर वस्तुमें अच्छे-बुरेकी कल्पना करने वाला तू स्वयं ही है। पर वस्तुमें कुछ अच्छा-बुरा है ही नहीं। वह पर वस्तुयें तो यों ही पड़ी हुई हैं, उनमेंसे अच्छा-बुरा किन्हें कहा जाये ? औरकी तो बात क्या किन्तु नर्क बुरा और स्वर्ग अच्छा है, इसप्रकार अपनी अज्ञानतासे परमें भेद कर रहा है।

अब यदि तुझे अपनी आत्माकी शक्ति प्रगट करनी हो, आत्माका सुख चाहिये हो, और अपना कल्याण करना हो तो बाहरसे हटकर अपनी ओर उन्मुख हो, और फिर देख तो तुझे ज्ञान होगा कि-पर वस्तुकी चाहसे मेरे स्वभावकी हत्या हो रही है। अरे ! मुझे परवस्तुकी आवश्यकता ही कहाँ है ? मेरे आत्मामें एक समयमें अनन्तानन्त गुणोंका समूह विद्यमान है, उन गुणोंकी पर्यायको मैं अपने ही पुरुषार्थ द्वारा प्रगट कर सकता हूँ। ऐसा विश्वास होने पर स्वभावपर्यायका अनुभव होता है, आत्मशांति प्रगट होती है, जो फिर कभी दूर नहीं होती। पहले बाह्यदृष्टि थी इसलिये बाहर अनन्ती कल्पनायें करता था, और अब अन्तर्दृष्टि होने पर अंतरंगमें अनन्त शांत हुआ है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सामर्थ्य अनन्त है। वह एक-[illegible] दर्शन बढ़ता हुआ अनन्त नहीं होता किन्तु वर्तमान पूर्ण

उसमें अनन्त है। सम्यग्दृष्टि अपने भीतर देखता है कि मुझमें अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्थिरता, अनन्त स्वच्छत्वशक्ति, अनन्त विभुत्वशक्ति, अनन्त प्रभुत्वशक्ति इत्यादि शक्तियोंका अनन्तानन्त संग्रह विद्यमान है। जो सम्यग्ज्ञानी उन अनन्त गुणोंकी पर्यायोंका अनुभव करता है, उसकी शांतिको कोई पर पदार्थ दूर नहीं कर सकता।

जिसकी दृष्टि संयोग या पुण्य-पाप पर है, उसे कभी सुख-शांति नहीं होती। लोग कहते हैं कि ऐसे तो आप सभीको छोड़ देना चाहते हैं? उनसे कहते हैं कि हाँ, चिदानंदआत्माके अतिरिक्त सब कुछ छोड़ देनेकी श्रद्धा किये बिना धर्मका प्रारम्भ नहीं हो सकता। हे भाई! यह तो तेरी प्रभुताके गीत गाये जा रहे हैं। जो वस्तु तेरी नहीं है वह तुझमें नहीं रह सकती, तू उसे नहीं भोग सकता, भला उससे तुझे सुख कैसे होगा? इसलिये जो तुझमें है, तेरे भीतर [illegible] विद्यमान है, जिससे भेंट हो सकती है और जिसका अनुभव हो सकता है, उसका अनुभव कर। शांतिकी यह सबसे पहली बात है, सम्यग्दर्शनकी बात है, यह कहीं छट्ठे गुणस्थानकी बात नहीं है। छट्ठा गुणस्थान तो सम्यग्दर्शनका फल है। सम्यग्दर्शनके [illegible] चारित्र और केवलज्ञान है। मैं अनंत गुणोंका [illegible] प्रकार स्वके अनन्त विश्वासमें परका विश्वास टूट जाता है [illegible] अनन्त विश्वास टूटनेसे स्वका विश्वास हो जाता है, और [illegible] लौकिक चारित्र प्रगट होता है, जिसका नाम [illegible] लौकिक, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। कहा भी है [illegible] परमात्मका पंथ"। [illegible] ही होता है। आचार्यदेवने ऐसी अपूर्व बात [illegible] यह बात तो स्वीकार [illegible]।

अनन्तगुणोंका पिंड सम्पूर्ण आत्मा वर्तमानमें प्रति समय परिपूर्ण भरा हुआ है। वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट करनेका कारण है। सम्यग्दर्शनकी पर्याय भी चारित्रकी पर्यायको प्रगट करनेमें परमार्थतः कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन अवस्था है; किन्तु श्रद्धाका विषय जो समस्त परिपूर्ण द्रव्य है, उसके विषयके बलसे पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानकी चारित्रकी पर्याय प्रगट होती है। पर्यायके लक्षसे पर्याय प्रगट नहीं होती, अपूर्ण पर्याय पूर्ण पर्यायका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि जो कम निर्मल पर्याय है वह अधिक निर्मल पर्यायको कैसे प्रगट कर सकती है? किन्तु अखंड परिपूर्णके लक्षसे ही अधिक निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तूने कर्मको, कर्मनिमित्तक भावको और परवस्तुको अपना मानकर अपनी गोद भर रखी है, अब उसे एक बार खाली कर, परका आग्रह छोड़, भारका त्याग करके हलका हो, एक बार सम्पूर्ण आग्रह छोड़कर सब ओरसे उठ खड़ा हो—ऐसा करनेसे यह बात तेरे मनमें जम जायेगी; यदि कहीं भी चिपका रहा तो फिर हिल-डुल नहीं सकेगा, इसलिये एकबार तो रागसे मुक्त होकर यह अनुभव कर कि मैं रागरहित हूँ, फिर चाहे भले ही राग आये, किन्तु एकबार तो पल्ला झाड़कर खड़ा हो जा जिससे समझमें आ सके कि सत्य क्या है। कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले गुणस्थान इत्यादिके भंग-भेदोंसे उठाकर तेरी दृष्टि अखंड स्वभावमें लगानी है, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि एकबार सब ओरसे पल्ला झाड़कर खड़ा हो जा और कहीं भी अंशमात्र भी चिपका मत रह!

गुणोंका विकास हुए बिना यह माने कि मेरे गुण विकसित हुए हैं, तो गुणोंके खिलनेसे जो शांति मिलनी चाहिये वह नहीं मिलेगी। अखंड आत्माकी श्रद्धा किये बिना गुण नहीं खिलते। जौ पूर्वक जौ ही होते हैं, इस न्यायसे गुणस्थान भी पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। गुणस्थानोंकी अचेतनता आगमसिद्ध है। जौ पूर्वककी युक्ति देकर गुणस्थानोंको जड़ और आगमकी साक्षी देकर उनका अचेतनत्व सिद्ध किया है। गोम्मटसार जैसे व्यवहार-शास्त्रोंमें भी चौदह गुण-स्थानोंको मोह और योग-निमित्तक कहा है, फिर इस अध्यात्म-

शास्त्रमें तो वैसा कहेंगे ही।

भगवानकी दिव्यध्वनि आगम है। आगममें भी यही आता है कि तू चैतन्यघन सम्पूर्ण निर्मल है, यदि उस पर दृष्टि डाले तो वहीं मोक्षमार्गका प्रारम्भ है। उस मार्गको प्राप्त करनेके बाद उसमें बीचमें पांचवां, छट्ठा गुणस्थान इत्यादि क्या-क्या आता है, इसे साधक अवश्य समझ लेगा। जो व्यक्ति जिस मार्ग पर चला ही नहीं उसे क्या मालूम हो सकता है कि मार्गमें क्या-क्या आता है? इसीप्रकार जिसे मोक्ष-मार्गकी प्रतीति हुई है, उसे सब कुछ ज्ञात हो जायेगा। पहले आत्माको अन्तरंगसे स्वीकार कर, फिर उसके अभ्याससे यथार्थ निर्णय होने पर निर्विकल्प अनुभव होगा।

चैतन्यस्वभावसे व्याप्त, आत्मासे भिन्नरूप गुणस्थान-भेद आदिकोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान होनेसे भी सदा उनकी अचेतनता सिद्ध होती है।

सम्यग्दर्शन होनेके बाद जो देव-शास्त्र-गुरुके प्रति अपार भक्ति हो ही जाती है, किन्तु उससे पूर्व भी सत्की जिज्ञासामें देव-शास्त्र-गुरुकी ओरका राग बढ़ जाना चाहिये। इसप्रकार सत्की जिज्ञासामें भी देव-शास्त्र-गुरुकी ओरकी भक्ति पहले आती है। 'ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे तहां समजवुं तेह'। यद्यपि राग बन्धन है, किन्तु वह बीचमें आता अवश्य है। जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्मकी प्रकृतिका बन्ध होता है वह भी बन्धन है। वह तीर्थंकर प्रकृति आत्माको लाभ नहीं पहुँचाती। तीर्थंकर देव भी रागको दूर करके वीतरागता प्रगट करते हैं—वही उन्हें लाभ करती है।

जैसे गुणस्थानको अचेतन कहा है, उसी प्रकार राग द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान इत्यादि समस्त भंग भी पुद्गलके निमित्तसे होनेके कारण अचेतन हैं। चैतन्यके अखण्ड स्वभावमें भंग-भेद नहीं हैं। चैतन्य आत्मा अनन्त गुणोंका अभेद पिंड है। उसकी श्रद्धा किये विना धर्मका वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। इसलिये पहले यथार्थ श्रद्धा करनेका जिनेन्द्र भगवानका उपदेश है।

पहले देव-शास्त्र-गुरुकी यथार्थ लक्षणोंके द्वारा परीक्षा करे. और फिर उनके द्वारा जो वस्तुस्वरूप समझाया गया है, उसे स्वयं बहुमान और अर्पणता पूर्वक समझनेका प्रयास करे। देव और गुरुके आन्तरिक हृदयकी मूल प्रयोजनभूत परीक्षा करे, और फिर वे जैसा कहें तदनुसार बहुमान और अर्पणता पूर्वक समझनेका प्रयास करे। जिसे सत्की जिज्ञासा जागृत हुई है, वह सत्को यथार्थ लक्षणोंसे पहिचान सकता है। किन्तु यदि कोई यह कहे कि पहले मुझे सबका सब समझा दो उसके बाद तुम्हें मानूँगा तो इसमें माननेकी बात ही कहाँ रही? अमुक प्रकारसे समझाने पर जिसे उसमेंसे सत्की जिज्ञासा जागृत हुई हो वह निर्णय कर सकता है कि यह सत् है, और फिर जैसा वह समझाये उस प्रकार स्वयं यथार्थ समझकर वस्तुस्वरूपका निर्णय करके उसमें स्थिर हो तो सुखको प्राप्त होता है।

आत्मामें कर्मसंयोगसे जो विकार विद्यमान है, वह आत्माके स्वभावमें नहीं है। जो हितका इच्छुक है, उसे कर्मोंके भेदका लक्ष छोड़कर स्वभाव पर दृष्टि करनी चाहिये—यही हितका उपाय है। आत्मा वस्तु है, वह परिणामी है, बदलती है और अवस्था बदलते-बदलते अनन्तकाल तक रहती है, किन्तु एक समयमें एक ही अवस्था प्रगट होती है। अनन्त गुणोंकी मिलकर अनन्त अवस्थाएँ प्रगट होती हैं। भूत और भविष्यकालकी अन्य अवस्थाएँ आत्मामें द्रव्यरूप होती हैं। ऐसे आत्मस्वरूपको लक्षमें, प्रतीतिमें बिठाये तो धर्म हो।

अनन्तानन्त पर्यायोंका पिंड गुण, और अनन्तानन्त गुण-पर्यायोंका पिंड द्रव्य परिपूर्ण है। किन्तु उस परिपूर्ण स्वभावको समझानेवाले देव-शास्त्र-गुरु कौन हैं; यह जाने बिना परिपूर्ण स्वभाव नहीं जाना जाता। स्वभावको समझानेवाला सच्चा निमित्त क्या और कौन है, उसका विवेक करना न आये तो आत्माके परिपूर्ण स्वभावका निर्णय नहीं हो सकता। सच्चा या झूठा निमित्त कौन है, इसप्रकार जिसे निमित्तके अन्तरकी जानकारी नहीं है, वह अपने उपादानको भी नहीं पहिचान सकता। जिसे सच्चे और झूठे देव-शास्त्र-गुरुका विवेक, अर्थात् उनका अन्तर या भेद करना नहीं आता उसके अन्तरमें [illegible] नहीं जम सकता; क्योंकि सच्चे और झूठे देव-शास्त्र-गुरुका विवेक [illegible] उनकी परीक्षा करना तो प्रथम पात्रता है। [illegible]

[illegible]

यहाँ ६८वीं गाथामें जीवाजीवाधिकारको पूर्ण करते हुए युक्ति, आगम और अनुभवसे वही बात कही है। इस प्रकार आचार्यदेवने पाँचवीं गाथामें जैसा प्रारम्भ किया था उसी प्रकार यहाँ समाप्त किया है।

भवका अन्त करनेवाले पुरुषका आश्रय लिये बिना भवका अन्त नहीं होता। भवका अन्त करनेवाले निमित्तरूप आलम्बनमें देव-शास्त्र-गुरु और भीतर भवका अन्त करनेवाले आत्माका अपनी ओर उन्मुखता-का पुरुषार्थ है; इसप्रकार अन्तरंगमें स्वयं और बाह्यमें देव-शास्त्र-गुरुका आश्रय लिये बिना भवका अन्त नहीं होता।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें चैतन्य अभेद है, और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। द्रव्यार्थिकनय अर्थात् जिसे द्रव्यका प्रयोजन है, किन्तु राग-द्वेष तथा भंग-भेदका प्रयोजन नहीं है। वस्तुकी दो बाजू होती हैं, अर्थात् ढालको देखनेके दो पहलू होते हैं। उसमेंसे जो एक पहलूको देखता है, वह दूसरेको नहीं देखता—इसीप्रकार जिसे आत्माके अभेद स्वभावको ओर देखनेका प्रयोजन है उसे राग-द्वेष, भंग-भेदका पृथक् नहीं है, उसे उस ओर देखनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

फिर यह कैसे माना जाये कि उसके मनमें उन देव-गुरु आदिकी बात जम गई है, जिनका अनन्तभवका भाव दूर हो गया है। जिसके अंतरंगमें भवोंके नाश करनेकी बात जम जाती है, उसके अनन्तभव हो ही नहीं सकते, और उसके ऐसा सन्देह भी नहीं हो सकता। इसलिये यह निश्चय हुआ कि पुण्य इत्यादिके विकारी भाव चाहे जितने हों तथापि वह आत्माके निःसन्देह होनेमें कारण नहीं है। पुण्यके भंग भवका सन्देह दूर नहीं कर सकते और शांति नहीं दे सकते, इसलिये निःसन्देह होनेके कारणभूत त्रैकालिक अविकारी पूर्ण आत्मस्वभाव पर लक्ष देना चाहिये। पराश्रयसे निःसन्देहता प्रगट नहीं होती और आंतरिक शांति प्राप्त नहीं होती। इसप्रकार पराश्रयसे श्रद्धा और चारित्रका दोष आता है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है? उसके उत्तरस्वरूप श्लोक कहते हैं:—

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

अर्थः—जो अनादि है अर्थात् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, जो अनन्त है, अर्थात् जिसका कभी विनाश नहीं होगा, जो अचल है, अर्थात् जो कभी चैतन्यभावसे अन्य रूप चलाचल नहीं होता, जो स्वसंवेद्य है, अर्थात् जो स्वयं स्वतः ज्ञात होता है, और जो स्फुट अर्थात् प्रगट है—छुपा हुआ नहीं है—ऐसा अत्यन्त चकचकित होने वाला चैतन्य स्वयं ही जीव है।

यहाँ शिष्यने अस्तिरूप चैतन्य भगवानको जाननेके लिये प्रश्न किया है कि जिसका आश्रय लेनेसे हित हो, कल्याण हो। उसे गुरुने उत्तर दिया है।

जो अनादिसे है। जैसे किसी गोल चक्करका कोई प्रारम्भ ज्ञात नहीं होता, उसीप्रकार जो वस्तु अनादि है उसका प्रारम्भ कैसे हो सकता है? जिसका प्रारंभ नहीं है, वह वस्तु ही न हो ऐसी बात नहीं है। किन्तु यदि आदि हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि उससे पूर्व वस्तु नहीं थी और जब वस्तु ही नहीं थी तो उसका प्रारम्भ कैसे हो सकता है? इसलिये जो वस्तु वर्तमानमें है, वह त्रिकाल

है, स्वतःसिद्ध है। जो वस्तु है, उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता, इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु अनादि-अनन्त है।

जब कि वस्तु कहीं संयोगोंसे उत्पन्न नहीं होती तो उसका नाश भी नहीं होता। एक-एक गुण एकत्रित होकर वस्तु उत्पन्न हो, और फिर गुण बिखर जायें तथा वस्तुका नाश हो जावे—ऐसा वस्तुका स्वभाव नहीं है। वस्तुका आदि नहीं है, तो उसका अन्त भी नहीं है, किन्तु वह स्वतःसिद्ध है, इसलिये वस्तु किसीसे न तो उत्पन्न होती है और न किसीसे उसका नाश ही होता है—ऐसा वस्तुस्वभाव है।

इस श्लोकमें 'अनादि' कहकर भूतकालकी बात कही है, और 'अनन्त' कहकर भविष्यकालकी बात कही है, और 'अचल' कहकर वर्तमानकी बात कही है, अर्थात् आत्मा वर्तमानमें [illegible] है,—अवस्थामें भी विकार नहीं है। आत्मा [illegible] जैसा है वैसा ही है, कुछ चल हो और कुछ अचल हो—ऐसा नहीं है। [illegible] भी कुछ चल हुआ है, सो वह भी [illegible] वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी पर्याय अचल है [illegible] आत्मा नहीं है, ऐसी [illegible]

पुण्य भी परमाणुओंकी एक अवस्था है, पुण्यप्रकृतिका उदय होनेसे बाह्य अनुकूलता प्राप्त हो जाती है, किन्तु अंतरंगका निर्णय किये बिना, चैतन्यलक्षणके अवलम्बनके बिना शांति कहाँसे आयेगी? पुण्यके भाव करने पर भी उनमें शांतिका कारण कौन है? पुण्यका फल प्राप्त होनेसे उसी पर लक्ष देने लगता है, और यह प्रतीति नहीं करता कि मैं ही ज्ञानज्योति हूँ, तब फिर तुझे कौन शरण होगा? पुण्यसे भविष्यमें जड़का संयोग प्राप्त हो जायेगा किन्तु मरण-समय जब आकुलित होगा तब संयोग क्या करेंगे? ज्ञानानन्द लक्षणको जाने बिना यों ही कुचल-मरनेका नाम बालमरण है, अज्ञान-मरण है, जब मरणकी चक्कीमें पिसता है तब पुण्यका संयोग कुछ नहीं कर पाता! इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जानने-देखनेके लक्षण द्वारा आत्माको ग्रहण कर तो उसकी शरणसे हित-कल्याण होगा, उसकी शरणके बिना अन्यत्र कहीं भी हित नहीं है। शरीर और पुण्य इत्यादि सब अशरण हैं। आत्माके लक्षणसे आत्माको पहिचाने बिना अन्य कोई शरण नहीं है।

ऐसे चेतनालक्षण द्वारा जीव प्रगट है, तथापि अज्ञानी लोगोंको उसका अज्ञान क्यों रहता है? इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि:—

(वसंततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ।। ४३ ।।

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्त भिन्न लक्षणके कारण जीवसे अजीव भिन्न है, उसे (अजीवको) उसके द्वारा ही (स्वतन्त्रतया, जीवसे भिन्नरूपसे) विलसित-परिणमित होता हुआ ज्ञानी पुरुष अनुभव करता है, तथापि अज्ञानी जीवको अमर्याद रूपसे फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्व-परके एकत्वकी भ्रांति) कैसे नचा रहा है?—हमें यह बड़ा आश्चर्य और खेद है!

आचार्यदेव कहते हैं कि यह जानना-देखना लक्षण प्रगट है, वह लक्षण राग-द्वेषमें व्याप्त नहीं है, किन्तु वह तो आत्माके आधार पर अवलंबित है, आत्मामें ही व्याप्त हो रहा है। ऐसे आत्मस्वभावको न पहिचानकर अज्ञानीका अज्ञान कैसे नाच रहा है? चाहे जैसा प्रसंग हो तथापि क्या जानने-देखनेका नाश हो सकता है? यदि जानने-देखनेरूप गुणका नाश हो तो गुणीका भी नाश हो जाये, किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। गुणीके आधार पर गुण प्रगट रूपसे व्याप्त है और राग-द्वेषका व्याप्त होना पुद्गल पर आश्रित है। इसप्रकार भिन्न लक्षणोंके होने पर भी अज्ञानीके ऐसा क्यों होता है? उनका मोह कैसे नाचता है? हमें इससे महा आश्चर्य होता है।

तीन लोकमें नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानीका मिथ्या भ्रम हो गया है। आत्मा ज्ञानभावसे ज्ञानका कर्ता और अज्ञानभावसे राग-द्वेषका कर्ता होता है। ऐसे परद्रव्यका कर्ता ज्ञानी तो क्या किन्तु अज्ञानी भी नहीं है। अज्ञानी मात्र मानता है कि मैं परका कार्य कर देता हूँ, इसमें वह मात्र विपरीत मान्यता ही करता है, ऐसे परद्रव्य शरीर, वाणी और मन इत्यादिका काम अज्ञानी भी नहीं कर सकता।

प्रश्नः—रोगके समय भले ही न बोल-चाल सके किन्तु निरोग समयमें तो आत्मा बोलने-चालनेका काम करता है?

उत्तरः—समयसारकी ९६ वीं गाथामें आचार्यदेवने मृतक कलेवर कहा है-जीव सहित शरीरको मुर्दा कहा है, जिसप्रकार पानीके संयोगसे पीतलके लोटेको पानीका लोटा कहा जाता है उसीप्रकार शरीरमें जीव है-ऐसा उसे उपचारसे सचेतन कहा है। उस मृतक कलेवरमें अमृतरूप विज्ञानघन आत्मा व्याकुल हो रहा है, और चक्करमें पड़ा हुआ है, इसलिये वह वैसे भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। शरीरके साथ आत्मा है, इसलिये उसे सचेतन कहा है, वैसे तो वह शरीर, ज्ञान, दर्शनसे रहित मुर्दा ही है। अज्ञानके कारण मैं शरीरका यह कार्य कर सकता हूँ और वह कर सकता हूँ ऐसा मानने लगता है, किन्तु रोग या निरोग अवस्थाके समय भी आत्मा शरीरादिका कुछ भी नहीं कर सकता। जड़ और चेतन दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं, और जो भिन्न हैं वे भिन्नका कभी कुछ नहीं कर सकते।

धर्मी जीव जड़की स्वतन्त्र अवस्थाको जड़से होती हुई देखकर विकारी अवस्थाको भी आत्मासे भिन्न जानता है। अस्थिरताके कारण अल्प विकारी अवस्था चैतन्यकी अवस्थामें होती है, किन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे अपनेसे भिन्न जानता है।

आत्माका स्वभाव जैसा अमर्याद है वैसा ही उल्टा पड़ा हुआ विपरीत मान्यतामें अमर्यादरूपसे मोह व्याप्त हो रहा है, घोर अज्ञान हो गया है। अज्ञान ही संसारका बीज है, और सम्यग्ज्ञान मोक्षका बीज है।

आत्माके ज्ञान-लक्षणमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र-इन तीनोंका समावेश रहता है; आत्मा जानने-देखने आदि अनन्त गुणोंका पिंड है, इसके अतिरिक्त वह परका कुछ भी नहीं कर सकता, तीन लोक और तीन कालमें भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता, तब फिर अज्ञानीका मोह क्यों नाचता रहता है? आचार्यदेवको धर्म न समझने वालेके प्रति प्रशस्त खेद हो जाता है।

लोग समझते हैं कि यदि चतुर डॉक्टर मिल जाये तो रोग मिट जाये, किन्तु यह अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। यदि डॉक्टर अच्छा कर सकते होते तो डॉक्टर स्वयं क्यों मर जाते हैं? चाहे जितने उपाय करो तथापि जो जैसा संयोग मिलना है वह बदल नहीं सकता और जो बदलनेवाला है वह फिर मिल नहीं सकता। लाख बातकी एक बात यही है कि कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा होनेपर भी अज्ञानीका मोह क्यों नाचता रहता है।

अज्ञानीका अभिमान परमें और दूसरोंके कार्योंमें फैला हुआ है। कई लोग कहा करते हैं कि पहले दूसरेका कल्याण कर दें, फिर अपना कर लेंगे, किन्तु जो स्वयं ही नहीं समझा वह दूसरेको क्या समझायेगा? दूसरेका कल्याण होना उसी पर अवलम्बित है, तुझ पर नहीं। दूसरेका पुरुषार्थ जागृत हुए बिना वह समझ नहीं सकता। इसलिये तू अपने सत्को ढूंढनेका पुरुषार्थ कर। [illegible] ही पुरुषार्थ काम आयेगा। यदि सत्को समझो [illegible] अवश्यमेव सत्की प्राप्ति होगी। सद्गुरुका योग [illegible] उसका कर्ता स्वयं नहीं है; किन्तु जिस समय [illegible] जिज्ञासा जागृत होती है, उस समय [illegible] समागम आ जाता है, अथवा सद्गुरु [illegible] ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। [illegible] शरीर, वाणी, राग, द्वेष और [illegible] रहा है? और फिर कहता है कि [illegible] भाग! तथापि वस्तुस्वभाव [illegible]

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

अर्थः—इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं। अभेदज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई देता है जीव अनेक प्रकारका नहीं है। यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारोंसे विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस अविवेकके नाटकमें पुद्गल ही नाच रहा है। राग-द्वेष विकार इत्यादि परभाव हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार जिसे पृथक् प्रतीति करनेकी शक्ति नहीं है, उसकी श्रद्धारूपी जड़ ही ठीक नहीं है। जिसने परभावसे भिन्न विवेक करके परके साथ एकत्वबुद्धिरूपी जड़ोंको उखाड़ फेंका है, उसके अल्प अस्थिरता रूपी टहनियाँ और पत्ते रहने पर भी वे विकसित नहीं हो सकते, किन्तु वे सूख जायेंगे और नष्ट हो जायेंगे।

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, और जो यह जड़ पदार्थ नाच रहे हैं, सो मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, इसप्रकार आंतरिक प्रतीतिका होना ही धर्म है और वही मुक्तिका उपाय है। यहाँ अज्ञानरूपसे नाचनेको जड़ कहा है, और चैतन्यके अज्ञान एवं विकारी परिणामोंको भी जड़ कहा है। चेतन प्रगट लक्षण है, वह सदा विद्यमान है। अभेदज्ञानमें अर्थात् सम्यग्ज्ञानमें यह सब पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई दे रहा है, जीव अनेक प्रकारका दिखाई नहीं देता। इसलिये जो यह दिखाई दे रहा है, सो सब पुद्गलका ही नाच है।

कलम द्वारा शब्दका लिखा जाना वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है; आत्माके द्वारा वह क्रिया नहीं हो सकती। अज्ञानी मानता है कि यह

मुझसे लिखा जा रहा है और ज्ञानी मानता है कि मैं इस लिखे जानेकी क्रियाका ज्ञाता ही हूँ-कर्ता नहीं।

भगवान आत्मामें जो अल्प विकारी अवस्था होती है वह क्षणिक है। चैतन्यका लक्षण विकारसे विलक्षण है। विकार जड़का और निर्विकार आत्माका लक्षण है। आत्मस्वरूपको पहिचानकर उसमें स्थिर होना ही धर्म है। उसके अतिरिक्त जो रागादिक विकार है वह सब आत्मासे विलक्षण हैं। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातुसे सुशोभित है।

जैसे राख, कालिख और धुऐंसे रहित अंगार लाल-लाल जाज्वल्यमान दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मामें इस शरीररूपी राखका आवरण, कर्मोंकी कालिख और राग-द्वेषका धुआँ नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसका बारम्बार परिचय कर यही धर्म है। जो धारण कर रखे सो धातु है, आत्मा स्वयं अनन्त गुणोंसे टिका हुआ है, शरीरादिकसे नहीं; उसे पहिचान, उसकी रुचि कर! यही हितका मार्ग है, अन्य नहीं।

आत्मा पदार्थ है, तत्त्व है। कोई भी पदार्थ गुणरहित नहीं होता और कोई भी गुण गुणीरहित नहीं होता। द्रव्य और गुण दोनों वस्तुतः अभिन्न हैं। वस्तुस्वरूपको यथावत् जानकर उसमें स्थिर होनेसे धर्म होता है। परद्रव्यके परिणमनको मैं बदल सकता हूँ यह [illegible] मिथ्या है, जो कि चौरासीके भ्रमणका मूल है। [illegible] जानकर उसमें स्थिर होना भव-भ्रमणको मिटानेका [illegible]

शरीर, मन, वाणी इत्यादि [illegible] अवस्थामें होते हैं—ऐसे [illegible] चाहिये कि यह मेरा स्वभाव है, आत्मा [illegible] स्वभाववाला तत्त्व है, उसकी पर्यायमें [illegible] है, उसे ज्ञाताभावसे जान लेना चाहिए [illegible] चाहिए कि यह भी मेरा स्वभाव है। [illegible] है कि पुण्य-पापके जो-जो परिणाम [illegible] नहीं है, आत्मस्वभाव नहीं है, [illegible] भी मालूम हो तथापि यदि आत्माकुल [illegible]

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

अर्थः—इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं। अभेदज्ञानमें पुद्गल हो अनेक प्रकारका दिखाई देता है जीव अनेक प्रकारका नहीं है। यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारोंसे विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस अविवेकके नाटकमें पुद्गल ही नाच रहा है। राग-द्वेष विकार इत्यादि परभाव हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार जिसे पृथक् प्रतीति करनेकी शक्ति नहीं है, उसकी श्रद्धारूपी जड़ ही ठीक नहीं है। जिसने परभावसे भिन्न विवेक करके परके साथ एकत्वबुद्धिरूपी जड़ोंको उखाड़ फेंका है, उसके अल्प अस्थिरता रूपी टहनियाँ और पत्ते रहने पर भी वे विकसित नहीं हो सकते, किन्तु वे सूख जायेंगे और नष्ट हो जायेंगे।

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, और जो यह जड़ पदार्थ नाच रहे हैं, सो मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, इसप्रकार आंतरिक प्रतीतिका होना ही धर्म है और वही मुक्तिका उपाय है। यहाँ अज्ञानरूपसे नाचनेको जड़ कहा है, और चैतन्यके अज्ञान एवं विकारी परिणामोंको भी जड़ कहा है। चेतन प्रगट लक्षण है, वह सदा विद्यमान है। अभेदज्ञानमें अर्थात् सम्यग्ज्ञानमें यह सब पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई दे रहा है, जीव अनेक प्रकारका दिखाई नहीं देता। इसलिये जो यह दिखाई दे रहा है, सो सब पुद्गलका ही नाच है।

कलम द्वारा शब्दका लिखा जाना वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है; आत्माके द्वारा वह क्रिया नहीं हो सकती। अज्ञानी मानता है कि यह

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

अर्थः—इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं। अभेदज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई देता है जीव अनेक प्रकारका नहीं है। यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारोंसे विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस अविवेकके नाटकमें पुद्गल ही नाच रहा है। राग-द्वेष विकार इत्यादि परभाव हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार जिसे पृथक् प्रतीति करनेकी शक्ति नहीं है, उसकी श्रद्धारूपी जड़ ही ठीक नहीं है। जिसने परभावसे भिन्न विवेक करके परके साथ एकत्वबुद्धिरूपी जड़ोंको उखाड़ फेंका है, उसके अल्प अस्थिरता रूपी टहनियाँ और पत्ते रहने पर भी वे विकसित नहीं हो सकते, किन्तु वे सूख जायेंगे और नष्ट हो जायेंगे।

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, और जो यह जड़ पदार्थ नाच रहे हैं, सो मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, इसप्रकार आंतरिक प्रतीतिका होना ही धर्म है और वही मुक्तिका उपाय है। यहाँ अज्ञानरूपसे नाचनेको जड़ कहा है, और चैतन्यके अज्ञान एवं विकारी परिणामोंको भी जड़ कहा है। चेतन प्रगट लक्षण है, वह सदा विद्यमान है। अभेदज्ञानमें अर्थात् सम्यग्ज्ञानमें यह सब पुद्गल हो अनेक प्रकारका दिखाई दे रहा है, जीव अनेक प्रकारका दिखाई नहीं देता। इसलिये जो यह दिखाई दे रहा है, सो सब पुद्गलका ही नाच है।

कलम द्वारा शब्दका लिखा जाना वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है; आत्माके द्वारा वह क्रिया नहीं हो सकती। अज्ञानी मानता है कि यह

मुझसे लिखा जा रहा है और ज्ञानी मानता है कि मैं इस लिखे जानेकी क्रियाका ज्ञाता ही हूँ—कर्ता नहीं।

भगवान आत्मामें जो अल्प विकारी अवस्था होती है वह क्षणिक है। चैतन्यका लक्षण विकारसे विलक्षण है। विकार जड़का और निर्विकार आत्माका लक्षण है। आत्मस्वरूपको पहिचानकर उसमें स्थिर होना ही धर्म है। उसके अतिरिक्त जो रागादिक विकार है वह सब आत्मासे विलक्षण है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातुसे सुशोभित है।

जैसे राख, कालिख और धुएँसे रहित अंगार लाल-लाल जाज्वल्यमान दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मामें इस शरीररूपी राखका आवरण, कर्मोंकी कालिख और राग-द्वेषका धुआँ नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसका बारम्बार परिचय कर यही धर्म है। जो धारण कर रखे सो धातु है, आत्मा स्वयं अनन्त गुणोंसे टिका हुआ है, शरीरादिकसे नहीं; उसे पहिचान, उसकी रुचि कर! यही [illegible] मार्ग है, अन्य नहीं।

आत्मा पदार्थ है, तत्त्व है। कोई भी पदार्थ गुणरहित नहीं होता और कोई भी गुण गुणीरहित नहीं होता। द्रव्य और गुण दोनों वस्तुसे अभिन्न हैं। वस्तुस्वरूपको यथावत् जानकर उसमें स्थिर होनेसे धर्म होता है। परद्रव्यके परिणमनको मैं बदल सकता हूँ [illegible] मिथ्या है, जो कि चौरासीके भ्रमणका मूल है। [illegible] जानकर उसमें स्थिर होना भव-भ्रमणका मिटाना [illegible]

शरीर, मन, वाणी इत्यादि चैतन्यमय नहीं, [illegible]
[illegible] होते हैं—ऐसे [illegible]
[illegible] कि यह मेरा स्वभाव है, आत्मा [illegible]
[illegible] तत्त्व है, उसकी पर्यायमें [illegible]
है, उसे ज्ञाताभावसे जान लेना चाहिये, [illegible]
[illegible] कि यह भी मेरा स्वभाव है। [illegible]
है कि पुण्य-पापके जो-जो परिणाम [illegible]
[illegible] है, आत्मस्वभाव नहीं है, [illegible]
[illegible]

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ।। ४४ ।।

अर्थः—इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं। अभेदज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई देता है जीव अनेक प्रकारका नहीं है। यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारोंसे विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस अविवेकके नाटकमें पुद्गल ही नाच रहा है। राग-द्वेष विकार इत्यादि परभाव हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार जिसे पृथक् प्रतीति करनेकी शक्ति नहीं है, उसकी श्रद्धारूपी जड़ ही ठीक नहीं है। जिसने परभावसे भिन्न विवेक करके परके साथ एकत्वबुद्धिरूपी जड़ोंको उखाड़ फेंका है, उसके अल्प अस्थिरता रूपी टहनियां और पत्ते रहने पर भी वे विकसित नहीं हो सकते, किन्तु वे सूख जायेंगे और नष्ट हो जायेंगे।

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, और जो यह जड़ पदार्थ नाच रहे हैं, सो मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, इसप्रकार आंतरिक प्रतीतिका होना ही धर्म है और वही मुक्तिका उपाय है। यहां अज्ञानरूपसे नाचनेको जड़ कहा है, और चैतन्यके अज्ञान एवं विकारी परिणामोंको भी जड़ कहा है। चेतन प्रगट लक्षण है, वह सदा विद्यमान है। अभेदज्ञानमें अर्थात् सम्यग्ज्ञानमें यह सब पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई दे रहा है, जीव अनेक प्रकारका दिखाई नहीं देता। इसलिये जो यह दिखाई दे रहा है, सो सब पुद्गलका ही नाच है।

कलम द्वारा शब्दका लिखा जाना वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है; आत्माके द्वारा वह क्रिया नहीं हो सकती। अज्ञानी मानता है कि यह

मुझसे लिखा जा रहा है और ज्ञानी मानता है कि मैं इस लिखे जानेकी क्रियाका ज्ञाता ही हूँ–कर्ता नहीं।

भगवान आत्मामें जो अल्प विकारी अवस्था होती है वह क्षणिक है। चैतन्यका लक्षण विकारसे विलक्षण है। विकार जड़का और निर्विकार आत्माका लक्षण है। आत्मस्वरूपको पहिचानकर उसमें स्थिर होना ही धर्म है। उसके अतिरिक्त जो रागादिक विकार है वह सब आत्मासे विलक्षण है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातुसे सुशोभित है।

जैसे राख, कालिख और धुएँसे रहित अंगार लाल-लाल जाज्वल्यमान दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मामें इस शरीररूपी राखका आवरण, कर्मोंकी कालिख और राग-द्वेषका धुआँ नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसका बारम्बार परिचय कर यही धर्म है। जो धारण कर रखे सो धातु है, आत्मा स्वयं अनन्त गुणोंसे टिका हुआ है, शरीरादिकसे नहीं; उसे पहिचान, उसकी रुचि कर! यही हितका मार्ग है, अन्य नहीं।

आत्मा पदार्थ है, तत्त्व है। कोई भी पदार्थ गुणरहित नहीं होता और कोई भी गुण गुणीरहित नहीं होता। द्रव्य और गुण दोनों वस्तुसे अभिन्न है। वस्तुस्वरूपको यथावत् जानकर उसमें स्थिर होनेसे धर्म होता है। परद्रव्यके परिणमनको मैं बदल सकता हूँ [illegible] मिथ्या है, जो कि चौरासीके भ्रमणका मूल है। [illegible] जानकर उसमें स्थिर होना भव-भ्रमणका मिटानेका [illegible]

शरीर, मन, वाणी इत्यादि [illegible] अवस्थामें होते हैं—ऐसे [illegible] चाहिये कि यह मेरा स्वभाव है, [illegible] स्वभाववाला तत्त्व है, उसकी पर्यायमें [illegible] है, [illegible] ज्ञाताभावसे जान लेना चाहिए, [illegible] चाहिए कि यह भी मेरा स्वभाव है। [illegible] है कि पुण्य-पापके जो-जो परिणाम [illegible] नहीं है, आत्मस्वभाव नहीं है, [illegible] भी [illegible] [illegible]

होगा। आत्माके ज्ञानधर्मके अतिरिक्त जो कोई पुण्य-पापके परिणाम आत्माका धर्म नहीं हैं। पुण्य-पापके परिणामोंका होना अलग बात है, और उसमें धर्म मानना अलग बात है। पुण्य-पापके परिणामोंको होता हुआ देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह मेरा धर्म है; परके प्रति अपनेपनकी मान्यता अनन्त संसारका मूल है।

चिद्विकारोंको देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह चैतन्य ही हैं, क्योंकि यह युक्ति पूर्वक कहा जा चुका है कि चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त हो वही चैतन्यका कहलाता है। रागादिक विकार चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त नहीं रहते क्योंकि मोक्ष-अवस्थामें उनका अभाव हो जाता है, इसलिये वे चैतन्यके नहीं हैं। रागादि विकारोंका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है, इसलिये वह चेतन नहीं हैं, चैतन्यका स्वभाव नहीं हैं किन्तु जड़के निमित्तसे होनेके कारण जड़ ही है। चैतन्यका स्वभाव तो निराकुल है।

पाप और पुण्य विकार दोनों आकुलतामय हैं, किन्तु अज्ञानीजन पुण्यके फलको मीठा और पापके फलको कड़ुवा मानते हैं; किन्तु यह निरा भ्रम है, क्योंकि पुण्य-पापके वर्तमानमें जो परिणाम होते हैं वे भी दुःखरूप हैं, आकुलतामय हैं, तब फिर उनके फल मीठे कहाँसे हो सकते हैं? जो वर्तमानमें ही दुःखरूप हैं उनके फल भी दुःखरूप ही होंगे। अज्ञानीको भ्रमवश सुख मालूम होता है। जिसे विष चढ़ा होता है उसे नीमके पत्ते कड़वे नहीं मालूम होते; इसका अर्थ यह नहीं कि–नीमके पत्तोंकी कड़वाहट मिट जाती है, किन्तु विषके प्रभाव-से कड़वे नहीं मालूम होते; इसीप्रकार अज्ञानकी विपरीतताके प्रभावसे अज्ञानीको पुण्यके फल मीठे मालूम होते हैं, जब कि वास्तवमें वे विप-फल हैं; तथापि विपरीत मान्यताके विषप्रभावसे वे मीठे मालूम होते हैं। वास्तवमें पुण्यके भाव और पुण्यके फल–दोनों दुःखरूप ही हैं, किन्तु अज्ञानीने उनमें सुखकी कल्पना कर रखी है।

आत्मामें पुण्य-पापका अनुभव दुःखरूप है। दोनों चांडालीके पुत्र हैं। आत्मा अमृतपिंड है, उसका आश्रय किये बिना न तो कभी किसीका हित हुआ है, न होता है, और न होगा। आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसकी पर्यायमें पुण्य-पापके भाव होते हैं वह विष है, आत्मस्वभावकी हत्या करनेवाले हैं। पुण्य-पापके भाव ही दुःखरूप हैं तब फिर उनके फलोंका तो कहना ही क्या है! भला वे सुखरूप कहाँसे हो सकते हैं? आत्म-स्वभावका वेदन शांत-निराकुल है, उसे जाने बिना आत्मानुभव नहीं हो सकता। पुण्य-पापके भाव आत्माको शांति नहीं देते, किन्तु आत्म-स्वभाव ही शांति देता है। पुण्य-पापके भाव आत्माका स्वभाव नहीं है, और जो जिसका स्वभाव नहीं है उसका आश्रय लेनेसे स्वभाव कैसे प्रगट हो सकता है? सत्-सत्से प्रगट होता है, असत्से नहीं। आत्मा अनन्त गुणोंका पिंड है उसकी वर्तमान अवस्थामें मात्र राग-द्वेष होता है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु [illegible] है, इसलिये जड़ है इसप्रकार दोनोंका पृथक् ज्ञान करनेसे [illegible] प्रगट होता है।

अब भेदज्ञानकी प्रवृत्तिके द्वारा यह ज्ञाताद्रव्य स्वयं प्रगट होता है, इसप्रकार कलशमें महिमा प्रगट करके हुए इस अधिकारको पूर्ण करते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं [illegible]
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव [illegible]
विश्वं व्याप्य प्रसभविकस[illegible]
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसा[illegible]

अर्थ:—इसप्रकार ज्ञानरूपी आरेको [illegible]
तक भी जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रगट [illegible]
को ज्ञाताद्रव्य अत्यंत विकासरूप [illegible]
शक्ति द्वारा विश्वको व्याप्त करके अपने आप [illegible]
प्रकाशित हो गया।

वह है कि जहाँ यह दृष्टि हो कि मैं परकी क्रिया कर ही नहीं सकता। वहाँ परकी क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं रहती, उसके बाद जो क्रिया होती है वह स्वामित्वबुद्धि पूर्वक नहीं होती। रागकी या शरीरकी क्रिया होती है, अथवा हो जाती है, किन्तु उसमें स्वामित्व-बुद्धि नहीं है, राग पर राग नहीं है, किन्तु वह रागका ज्ञाता रहता है। परकी क्रिया निष्कामभावसे करनी चाहिये, इसप्रकार जहाँ करनेकी बुद्धि है वहाँ निष्कामदृष्टि नहीं, किन्तु सकामदृष्टि है। इस बातको आज माने, कल माने या दो-चार भवोंके बाद माने, किन्तु यह मार्ग ग्रहण किये बिना कहीं भी कभी हित नहीं हो सकता।

पहले कलशमें कहा था कि पुद्गल द्रव्य नाचता है और इस कलशमें ज्ञानरूपी आरेसे 'यह इस प्रकार भिन्न है, यह इसप्रकार भिन्न है' यों कहकर आरेको नचाकर अर्थात् परिणमित करके प्रकाश हुआ कि वहाँ ज्ञाताद्रव्य प्रकाशित हो उठा। इसप्रकार कलशमें नास्तिको और इसमें अस्तिको प्रधान बनाकर कथन किया है।

यथार्थ चारित्र होनेका कारण यथार्थ दर्शन है। यथार्थ प्रतीति या यथार्थ विश्वासके बिना एकाग्रता नहीं हो सकती, इसलिये [illegible] होनेका कारण पहले आत्माको पहिचानकर यथार्थ प्रतीति करना है। विपरीत श्रद्धामें विपरीत और यथार्थ श्रद्धामें [illegible]।

यह शरीर, वाणी और मन [illegible] भिन्न है। मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र [illegible] मैं अनन्त गुणोंका पिंड आत्मा हूँ [illegible] और उसकी प्रतीति करना [illegible] प्रकार पृथक् आत्मामें [illegible] जाती है। जीव और अजीव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

आत्मा अपने स्वभावमें लीन हो जाता है, अथवा वह फूलकी कलीकी भांति विकसित हो उठता और इसप्रकार जड़ तथा चैतन्य दोनों अलग हो जाते हैं। फूलकी कलीकी भांति आत्माके गुण शक्तिरूपसे विद्यमान थे वे विकसित हो जाते हैं।

चिन्मात्रशक्ति अर्थात् ज्ञानमात्र शक्तिके द्वारा विश्वको व्याप्त कर लेता है; अर्थात् विश्वको जाननेका आत्माका स्वभाव है। इसप्रकार मेरा स्वभाव जगतके समस्त पदार्थोंको जाननेका है। मेरा और परका व्यवहारसे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, परमार्थतः कोई सम्बन्ध नहीं नहीं है। परमार्थसे मैं अपने ज्ञानकी पर्यायको ही जानता हूँ। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं परको जानता ही नहीं हूँ; क्योंकि ज्ञान परको भी जानता है, आत्माका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। वह निश्चयसे अपने ज्ञानकी पर्यायको जानता है, किंतु व्यवहारसे परको भी जानता है। इसप्रकार समस्त पदार्थोंको जाननेका मेरा स्वभाव है, यह जानता हुआ वह अपने आप ही पराश्रयके विना, स्वतन्त्रतया अतिवेगसे ज्ञाताद्रव्य विकसित हो उठता है। बारंबार अभ्यास करने पर और स्वोन्मुखताकी प्रतीति होने पर एकाग्रता होती है, वहाँ अति वेगसे उग्रतया ज्ञाताद्रव्य प्रकाशित हो जाता है, उसमें किंचित्मात्र विलम्ब नहीं होता।

जहाँ जीव और जड़ दोनों स्पष्टतया भिन्न प्रतीति हुए कि वहाँ तत्काल निर्विकल्प अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, सर्व प्रथम बोध-बीज प्राप्त हुआ, श्रद्धारूपी बीज प्रगट हुआ और सर्व प्रथम धर्म उदित हो गया। वहाँ मैं आत्मा शांतस्वरूप हूँ—ऐसे बुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार भी छूट जाते हैं, और निर्विकल्प आनन्दमय अनुभव हुआ, अहो ! अनन्त समृद्धि प्रगट हो गई।

भेदज्ञानसे अलग करते-करते, एकाग्र होते-होते अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आन्तरिक शुद्धि बढ़ी और मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ, इत्यादि बुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार भी छूट गये। यह सबसे पहली इकाईकी बात है, एल० एल० बी० जैसी बड़ी भूमिकाकी बात नहीं है; यह तो प्रथम सम्यग्दर्शनकी बात है। जैसे अज्ञानी जीव सांसारिक विवाहादि कार्योंमें ऐसा लीन हो जाता है कि उनके अतिरिक्त सब

कुछ भूल जाता है, उसीप्रकार जीव निरुपाधिकतत्त्वके स्वादमें लीन हो जाता है और वह स्वभावभावकी ओर बढ़ता हुआ बाहरके समस्त तत्त्वोंको दुःखरूप देखता है, तथा वह जानता है कि आत्मस्वभावको पहिचान कर उसमें स्थिर होनेसे अनन्त जन्म-मरणका दुःख दूर करके स्वभावकी अनन्त समृद्धि और अनन्त सुख प्रगट होगा। मेरे स्वभावमें बाह्य अवलम्बन नहीं है, मैं शरीर, मन, वाणी और विकल्पोंसे रहित हूं, इसप्रकार विचार करते-करते जहाँ स्वभावमें जम गया कि वहाँ निर्विकल्प अनुभव हो जाता है। इसीका नाम धर्म है। पुण्य-पापके परिणामोंसे धर्म नहीं होता। त्रिकालमें भी असत्के मार्गसे सत् नहीं आता। वस्तुस्वरूप किस प्रकारका है यह समझनेके लिये पहले यथार्थ श्रवण करना चाहिये। राग-द्वेष और भ्रान्तिरूप विकारके हिंडोले पर झूल रहा है; एक-दो घंटे श्रवण किया और मान लिया कि अब हम तर गये। किन्तु भाई! अनन्तकालसे विविध प्रकारकी विपरीत मान्यताएँ बना रखी हैं, उन्हें दूर करनेके लिये सत्समागम द्वारा बारम्बार अभ्यास करना चाहिये, उसके बिना समझमें नहीं आ सकता। एक-दो घंटे सुननेसे धर्म हो जायगा ऐसी समझसे पुरुषार्थ उदित नहीं होता, जिसे आत्महित करनेकी रुचि हो गई हो उसे अकुलाहट [illegible] नहीं होती।

इस कलशमें कहा है कि विश्वको व्याप्त करके, अर्थात् [illegible] जानकर ज्ञातृद्रव्य प्रगट होता है। इसका अर्थ यह है कि [illegible] जीव [illegible] द्वारा विश्वके समस्त भावोंको [illegible] जानता है, और निश्चयसे विश्वको प्रत्यक्ष [illegible] है। इसलिये यह कहा है कि वह विश्वको [illegible] जीव श्रुतज्ञानके द्वारा अर्थात् आगम [illegible] विश्वके भावोंको जानता है। जैसे [illegible]

[illegible]

चेतन दोनों एकत्रित होकर रंगभूमिमें नाच रहे थे, वे दोनों अलग हो जाते हैं।

इस समयसारको नाटक कहनेका कारण यह है कि जैसे नाटकमें कोई भर्तृहरि राजाका वेश धारण करके उसके समस्त जीवन चरित्र-को तीन चार घंटेमें ही बता देता है, इसीप्रकार अनादिकालसे एक ही साथ चले आने वाले आत्मा और कर्मोंको जिन्होंने एक मान रखा है, उन जीवोंको आत्मस्वरूप बताकर मोक्षमें पहुँचानेके लिये आचार्यदेवने ४१५ गाथाओंमें सब कुछ बता दिया है।

जीवाजीवाधिकारमें पहले ३८ गाथाओंमें रंगभूमि-स्थल बताया है, तत्पश्चात् नृत्यमंच पर जीव और अजीव दोनों मिलकर प्रवेश करते हैं, और दोनोंने एकत्वका स्वाँग रचा है; तथापि दोनोंकी प्रवृत्ति प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न है। जड़की अवस्थाका आत्मा और आत्माकी अवस्थाका जड़ आधार नहीं है, किन्तु अज्ञानावस्थामें दोनों मिलकर नाच रहे थे कि वहाँ सम्यग्ज्ञानीने लक्षणभेदसे परीक्षा करके दोनोंको अलग-अलग जान लिया इसलिये स्वाँग पूरा हो गया। जैसे कोई बहुरूपिया वेश बनाकर नाच रहा हो, और उसे लोग पहिचान लें कि यह तो अमुक व्यक्ति है, तो वह गाल फुलाकर चला जाता है, इसीप्रकार जड़ और चैतन्य नाच रहे थे उन्हें सम्यग्ज्ञानीने मूल रूपमें अलग-अलग जान लिया इसलिये वे अलग हो गये, अर्थात् रंगभूमिमेंसे निकल भागे। पुद्गल परमाणु जगतमें रह गये और आत्मा मोक्ष चला गया।

जीव-अजीव ज्ञानादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावें,
सम्यक् भेदविज्ञान भये पुन भिन्न गहे निज भाव सुदावें;
श्रीगुरुके उपदेश सुनैं रु भले दिन पाय अज्ञान गमावें,
ते जगमांहि महन्त कहाय वसैं शिव जाय सुखी नित थावें।

जीव और अजीव अनादि संयोगसे मिले हुए हैं। शरीर, वाणी और मन सब जड़ हैं-परमाणुओंका समूह हैं और वे जगतके अनादि तत्त्व हैं, और चैतन्य भगवान भी अनादि तत्त्व है। जीव-अजीव अनादि संयोगसे एक ही स्थान पर रह रहे हैं, इसे मूढ़ जीव नहीं समझता। जड़ और चैतन्य दोनोंको भिन्नरूपसे जाने बिना आत्मप्राप्ति

नहीं होती। जड़ और चैतन्य दोनों एक ही स्थान पर रहते हैं इसलिये क्या वे एक हो गये हैं ? क्या एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप हो सकता है ?—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु मूढ़ जीव समझता नहीं है, इसलिये आत्मपनेको प्राप्त नहीं होता।

सम्यक् भेदविज्ञान होने पर तत्काल ही वीतरागता नहीं होती, किन्तु निज और परके एकत्वकी विपरीत मान्यताको बदलकर दोनोंको भिन्न मानने लगा, पुण्य-पाप और अपने स्वरूपमें भेद करके निज-परको भिन्न-भिन्न मानने लगा। इसप्रकार अपने भावके दाव-पेंच या कलासे आत्माको पकड़ा जा सकता है। यहाँ 'सुदावें' का अर्थ यह है कि अपनी प्रगट करने योग्य कला आत्माके निजभावसे प्रगट होती है—परसे नहीं।

सत्के प्रति प्रीति हो तभी तो सत्यको समझनेकी भावना होती है ? और तभी गुरुका उपदेश सुननेके लिये तत्पर होता है। जिसे आत्माको जाननेकी उत्कट इच्छा होती है, वह कहता है कि अहा ! मैंने ऐसा उपदेश कभी नहीं सुना था, जो कुछ गुरु कह रहे हैं इस-प्रकार मैंने कभी नहीं समझा था, यह तो कोई अपूर्व ही बात है। इसप्रकार उल्लास पूर्वक पुरुषार्थ करता हुआ अज्ञान दूर करता है। जिस समय पुरुषार्थ किया वही समय भला है और वही दिन भला है। पुरुषार्थ करनेमें चारों समवाय आ जाते हैं। वस्तु पर यथार्थ दृष्टि की और उसमें स्थिर हुआ सो वह पुरुषार्थ, और पुरुषार्थ द्वारा जो स्वभावपर्याय प्रगट हुई सो स्वभाव, जिस समय स्वभावपर्याय प्रगट हुई सो सुकाल, पुरुषार्थके द्वारा जो पर्याय होनी थी वह हुई सो नियत और स्वभावपर्याय प्रगट होते समय जो कर्मका अभाव हुआ सो कर्म है। चार समवाय अस्तिरूप हैं, और कर्म नास्तिरूप हैं–इसप्रकार पुरुषार्थमें चारों समवाय आ जाते हैं।

अज्ञानके दूर होने पर आत्ममहत्ताकी प्रतीति हुई कि जगतमें महन्त हो गया है। आत्मा, महात्मा और परमात्मा, इसप्रकार आत्माके तीन प्रकार हैं। आत्मा अनादि कालसे है, किन्तु जब उस आत्माकी प्रतीति होती है, तब वह महात्मा हो जाता है, और पूर्ण केवलज्ञान-दशा प्रगट होने पर परमात्मा हो जाता है। रुपया-पैसा और बाह्य वैभव

वाले सच्चे महंत नहीं हैं, किन्तु जिनने आत्मस्वरूपको जान लिया है वे ही सच्चे महंत हैं। महंत धर्मात्मा होता है, और वह निरुपद्रव निर्विघ्न शिवपदमें पूर्णदशा प्रगट करके निवास करता है। आत्मा स्वयं कल्याणमूर्ति है, उसमें स्थिर होना ही शिवपद है, शिवपद आत्मामें है, अन्यत्र-बाहर नहीं। सिद्धक्षेत्र भी बाह्य क्षेत्र है, आत्माका शिवपद आत्मामें ही है। शिवपद प्राप्त होने पर आत्मामें सदा सुखावस्था बनी रहती है। एक बार मोक्षपर्याय प्रगट हो जाने पर फिर संसारमें अवतार नहीं लेना पड़ता।

कुछ लोग यह मानते हैं कि दूसरोंको तारनेके लिये पुनः अवतार ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है। जैसे जला हुआ बीज फिर कभी नहीं उग सकता, उसीप्रकार जिनके संसारका बीज जल चुका है, और मोक्षपर्याय प्रगट हो गई है वे फिर कभी संसारमें अवतार नहीं लेते। जो जीव आत्मविकास करके आगे बढ़ते हैं वे दूसरोंको तारनेके लिये नहीं, किन्तु स्वयं मोक्षप्राप्तिके लिये ऐसा करते हैं। आत्माकी यथार्थ प्रतीति और ज्ञान करके उसमें स्थिर होनेसे शिवपद प्राप्त होता है, जहाँ आत्मा शाश्वत् सुख भोगता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इन ६८ गाथाओंमें और अमृतचंद्राचार्यने इनकी टीकामें अनेकानेक अद्भुत बातें कही हैं। यदि उन्हें ज्योंका त्यों समझ ले तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

[—इस प्रकार इस समयसार शास्त्रपर आध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी द्वारा किये प्रवचनोंका यह प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ]

होगा? जड़-चैतन्य समस्त पदार्थ एक ही साथ प्रकाशमान हो गया उसका सामर्थ्य है। जिसप्रकार अग्निकी एक चिनगारी सारे वनको जला देती है उसी प्रकार ज्ञानका एक अंश सबको जान लेता है।

चौदह राजु लोकमें धर्मास्तिकाय नामका एक अरूपी पदार्थ है जो जड़-चैतन्यको गति करनेमें उदासीन निमित्त है। जैसे-मछलीसे पानी यह नहीं कहता कि तू चल! किन्तु जब मछली चलती है उस समय पानी उदासीनरूपसे निमित्त होता है, उसीप्रकार धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

उसीप्रकार चौदह ब्रह्माण्डमें एक अधर्मास्तिकाय नामका अरूपी पदार्थ है। जड़-चैतन्य गति करते हुए स्थिर होते हैं उन्हें स्थिर होनेमें वह उदासीन निमित्त है। जैसे—वृक्ष पथिकसे नहीं कहता कि तू इस छायामें बैठ जा! किन्तु जो स्थिर होता है उसे छाया उदासीन निमित्त है, उसीप्रकार अधर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

वैसे ही आकाशास्तिकाय नामका लोकालोकमें सर्व व्यापक एक अरूपी पदार्थ है; जो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव-इन पाँचों द्रव्योंको अवगाह (स्थान) देनेमें उदासीन निमित्त है। यह संग्रहात्मक लोकके बाद क्या होगा? यह सब वस्तुएँ ऐसीकी ऐसी कहाँतक होंगी? उसके बाद क्या होगा? उसके बाद क्या होगा? ऐसा विचार किया जाये तो मात्र रिक्त स्थान लक्षमें आयेगा वह क्षेत्रसे अमर्यादित आकाश है।

लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु द्रव्य स्थित है, वे कालाणु द्रव्य असंख्य हैं। जिस सूर्य-चन्द्रके निमित्तसे दिन-रात निश्चित् होते हैं वह काल द्रव्य नहीं है, किन्तु कालद्रव्य नामका अरूपी स्वतन्त्रपदार्थ है जो सर्व द्रव्योंको परिणमनमें निमित्त है।

इन पदार्थोंको जिसने स्वीकार नहीं किया, उसने अपने ज्ञानके विस्तारको ही स्वीकार नहीं किया है। ज्ञानी समझता है कि यह सब

पदार्थ जगतमें हैं, सर्वज्ञ भगवानने देखे हैं, मेरे ज्ञानमें भी ज्ञात होते हैं
तथापि उन पदार्थोंका और मेरा कोई संवंध नहीं है।

यह जो समस्त वस्तुएँ दिखाई देती हैं सो पुद्गलके स्कन्ध हैं।
उस स्कन्धमें एक एक परमाणु द्रव्य स्वतन्त्र पृथक् पृथक् है। ऐसे परमाणु
द्रव्य अनंत हैं। और इस जीव द्रव्यसे अन्य दूसरे जीव द्रव्य भी अनंत
हैं। धर्मी जीव समझता है कि–धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ, पुद्गल और
मुझसे अन्य जीव द्रव्य—वे छहों द्रव्य मुझसे भिन्न हैं, वह मेरे ज्ञानका
ज्ञेय है, वह मेरे ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य हैं किंतु उसका और मेरा
ई सम्वन्ध नहीं है।

घरके दरवाजे–खिड़कियाँ कितनी हैं, घरमें कितनी रजाइयाँ हैं,
एक एक खिड़कीमें कितने लोहेके सलिये हैं—उन सवकी खवर होती
है, किन्तु आत्मामें कितना सामर्थ्य हे उसकी खवर नहीं है। जगतके
छह पदार्थ हैं—वह ज्ञानका विपय है, उस वस्तुकी जिसे खवर नहीं
है उसे मेरा ज्ञान कितना है उसकी खवर नहीं है। थोड़ा–थोड़ा जाननेमें
अटक जाता है, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें अच्छा-वुरा मानकर अटक
जाता है, किन्तु धर्मात्मा समझता है कि थोड़ा–थोड़ा जाननेमें रुक जाना
—ऐसी अपूर्णता तथा अनुकूलता-प्रतिकूलतामें रुक जाना—ऐसी तुच्छता
मेरे स्वभावमें नहीं है। वे ज्ञेय और वह मोह; उनका और मेरा कोई
सम्वन्ध नहीं है। पुद्गल और जीव द्रव्यकी विशेप वात आगे आयेगी।

जीव द्रव्यको अन्य किसी द्रव्यके साथ कुछ लेन-देन नहीं है
उसका अधिकार इसमें दिया है।

३६ वीं गाथामें आया कि—मोहकर्मके निमित्तसे आत्मामें जो
भाव हो वह आत्माका भाव नहीं है, उससे आत्माको लाभ नहीं है।
आत्माका स्वभाव तो ज्ञायक है, उसे समझकर उसमें एकाग्रता हो
वही लाभ है।

अव यहाँ कहते हैं कि—जीव और पुद्गल मेरे ज्ञानका ज्ञेय है।

होता है तभी स्व-परको यथार्थ जानता है। जब स्वोन्मुख हो तभी देव-गुरु-शास्त्रसे मैं भिन्न हूँ, परमार्थसे कोई मुझे सहायक नहीं है—ऐसा भान होनेके पश्चात् ही स्व-परका यथार्थ ज्ञान होता है। देव-गुरु-शास्त्रका निमित्त और अपना उपादान-दोनोंका अर्थात् स्व-परका स्वरूप यथार्थ जानता है; निमित्त कौन है और मैं कौन हूँ वह बराबर जानता है; मैं परसे निराला जागृत चैतन्यज्योति हूँ; मेरे गुणोंका विकास मुझसे होता है और मेरे गुणोंका विकास हुआ उसमें उपस्थितिरूप निमित्त देव-गुरु और शास्त्र हैं। इस प्रकार अपना स्वरूप और देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप स्वका भान होनेके पश्चात् बराबर समझ लेता है। स्वसन्मुख होनेके पश्चात् स्व-परका ज्ञान हो वह यथार्थ ज्ञान है। अकेले निमित्त पर लक्ष होना सो राग है; अकेले पर पदार्थपर लक्ष है तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। परसे भिन्न पड़े हुए ज्ञानमें जो स्व-पर पदार्थका स्वरूप ज्ञात हो वह यथार्थ ज्ञात होता है।

धर्मी विचार करता है कि—जो राग है सो मैं नहीं हूँ; शरीरादि तथा अन्य आत्मा भी मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायक एक आत्मा हूँ; अन्य आत्मा मेरे ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य ज्ञेय हैं किन्तु वह मेरे संबंधी नहीं हैं।

मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावपनेसे परमार्थतः अंतरंगतत्त्व हूँ, अनंत ज्ञानादि गुणोंका पिण्ड हूँ। टंकोत्कीर्ण अर्थात् मैं निविड हूँ; परवस्तु आकर मेरे स्वभावमें विघ्न नहीं डाल सकती; वह मुझे लाभ-हानि करने या छूने–स्पर्श करनेको भी समर्थ नहीं है। चाहे जितने अनुकूलता या प्रतिकूलताके संयोग आयें, तथापि वह मुझे स्पर्श करनेमें भी समर्थ नहीं है ... ग्रहण करने या त्याग देनेमें भी धर्म ...ो धम्मो" वस्तुका

नहीं

स्वभ

प्रव

ध

योग्य लक्षण है, उस लक्षणसे आत्माको पहिचानकर भेदज्ञान किया जा सकता है।

जिसे आत्मकल्याण करना हो अर्थात् आत्मसुखका मार्ग ग्रहण करना हो उसे आत्माका निर्दोष लक्षण जान लेना चाहिये, जो कि लक्षसे अलग न हो सके। जो जिससे अलग हो सकता है, वह उसका लक्षण नहीं हो सकता। जो लक्षण अपनेसे अलग हो जाये अथवा जो अपनेमें सम्पूर्णतया व्याप्त न हो और जो नाशवान हो ऐसे लक्षणसे आत्माका ग्रहण नहीं हो सकता। शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभ परिणाम अपनेसे अलग हो जाते हैं। और नाशवान हैं, इसलिये उस लक्षणसे आत्माका ग्रहण नहीं हो सकता अथवा वह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता।

धर्म करनेवालेको एक चेतना लक्षणका आधार लेना चाहिये। उसमें कोई संकल्प-विकल्प, आकुलता, हर्ष-शोकके भाव और शरीर, मन, वाणी इत्यादि कुछ नहीं आते। जानना-देखना आत्माका प्रगट लक्षण है। जानना-देखना, गुणी चैतन्यका गुण है। यदि उसका अवलम्बन ले तो शुभाशुभभाव और शरीर, वाणी इत्यादिका अवलम्बन सहज ही छूट जाता है।

इसप्रकार आत्मा लक्ष है, और जानना-देखना उसका लक्षण है। स्वयं जाननेके आधारमें रुचि-प्रतीति करके उसमें जितना रत हो सो धर्म है, और पुण्य-पापके अवलम्बनमें जितना रत हो उतना अधर्म है।

जैसे वस्तुके बिना गुण, अग्निके बिना उष्णता और गुड़के बिना मिठास अलग—अकेली नहीं रह सकती, उसीप्रकार आत्माके बिना ज्ञानगुण अलग—अकेला नहीं रह सकता। इससे सिद्ध है कि आत्मा और उसके गुण दोनों अभेद हैं—एकरूप हैं। आत्माके गुण आत्मामें ही व्याप्त हैं; वे परमें कदापि नहीं होते।

यहाँ कोई कह सकता है कि इसमें करनेकी कौनसी बात है? किन्तु यदि विचार किया जाय तो इसमें अपने करनेकी अनन्त बातें निहित हैं। आत्माके स्वलक्षणके द्वारा आत्माको पहिचानने और फिर उसमें

स्थिर होनेमें अनन्त पुरुषार्थ करनेकी बात है। आत्माके लक्षणके द्वारा आत्माको पहिचाना-पकड़ा, और उस अनन्त गुणस्वरूप आत्माके अतिरिक्त मुझमें कोई भी शुभाशुभ भाव या शरीर, वाणी, मन इत्यादि नहीं हैं, इसप्रकार स्वरूपकी सत्ताभूमिमेंसे निश्चय होनेसे अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है और वहांसे मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। प्रायः जीव कोई प्रयत्न नहीं करना चाहते और वे अनन्त कालसे पर पदार्थोंकी रुचि और उसके चक्करमें पड़े हुए हैं। यदि वे अपनी ओर रुचि करें तो आत्माकी अचिंत्यताका कुछ ध्यान आये। अज्ञानी जीव इसी चक्करमें पड़े हुए हैं कि राग-द्वेष, शरीरादिकी क्रिया, कुटुम्ब-परिवार और मकान इत्यादि मैं ही हूँ, या वे मेरे हैं; और वे यह भूल गये हैं कि जो ज्ञाता है सो मैं हूँ। हे भाई! जो-जो जानना-देखना है सो ही तू है, वह स्वभाव त्रिकालमें भी नहीं छूट सकता, वह सदा विद्यमान है; जगत उसीका अवलम्बन करे! आचार्यदेव कहते हैं कि हे हिताभिलाषियो, हे स्वतन्त्रताके इच्छुको! जानने-देखनेके भावका ही अवलम्बन ग्रहण करो। यदि आत्मस्वभावको पहिचानना हो-उसे ग्रहण करना हो, कल्याण करना हो तो चैतन्यकी ओर उन्मुख होओ, और उसीका अवलम्ब लेकर उसीमें स्थिर हो जाओ।

स्वावलम्बनके बिना मात्र देव, गुरु, शास्त्रका अवलम्बन ग्रहण करना परावलम्बन ही है। स्वावलम्बन ग्रहण करने पर [illegible] होती है, तत्पश्चात् आत्मामें स्थिरता होती है। [illegible] जानना-देखना और उसमें स्थिर होना होता है; इसप्रकार [illegible], दर्शन, चारित्र तीनोंका समावेश हो जाता है।

निश्चयसे वर्णादि भावोंमें रागादि भाव आ [illegible] जीवमें कभी व्याप्त नहीं होते, इसलिये उन भावोंके [illegible] पहिचाना जाता। वह उसका लक्षण नहीं है। [illegible] लक्षण है ही नहीं, किन्तु व्यवहारसे भी [illegible] अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योंकि [illegible] भगवानमें व्यवहारसे भी व्याप्त नहीं होते, [illegible]

दोष आता है। यहाँ अव्याप्ति दोषमें असम्भव दोषका भी समावेश हो गया है।

यह वस्तुका लक्षण कहा जा रहा है, पर्यायका नहीं। पर्यायदृष्टिसे विकारी-अवस्था या संसार-अवस्थाको व्यवहारमें आत्माकी अवस्था कहते हैं किन्तु वह कहीं वस्तुका लक्षण नहीं है। यदि वह वस्तुका लक्षण माना जाये तो वस्तुसे वस्तुका लक्षण कभी और कहीं भी अलग नहीं हो सकता, इसलिये वह लक्षण सिद्धोंमें भी रहना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञान-दर्शनरूप चेतना लक्षण कभी भी जीवसे अलग नहीं होता, और वह सिद्ध जीवोंमें भी होता है।

राग-द्वेषके भाव व्यवहारसे भी यदि चैतन्य 'द्रव्य'रूप हो गये हों, वस्तुमें प्रविष्ट हो गये हों, तो राग-द्वेषके भाव सिद्ध जीवोंमें भी रहना चाहिये, परन्तु वे सतत आत्मस्वभावमें नहीं रहते, इसलिये व्यवहारसे भी वे भाव द्रव्यरूप नहीं हैं, परन्तु अवस्थामें अवश्य होते हैं। उपादानसे ही नहीं किन्तु व्यवहारसे भी राग-द्वेष तेरे नहीं हैं। यदि व्यवहारसे राग-द्वेष द्रव्यरूप हों तो वे आत्माका स्वभाव हो जायें, और जो आत्माका स्वभाव होता है वह कभी दूर नहीं होता, इसलिये निमित्ताधीन भाव पर्यायका लक्षण है। जो चैतन्यकी विकारी पर्यायरूप भाव होते हैं, वे पर्यायका लक्षण हैं, वस्तुका नहीं। वे भाव वस्तुरूप हुए ही नहीं इसलिये व्यवहारसे भी वस्तुका (जीवका) लक्षण राग-द्वेष नहीं है।

इसलिये निश्चय कर कि इस समय भी मैं निश्चय या व्यवहारसे वर्ण, गंध, शरीर या राग-द्वेष विकारी भावरूप नहीं हूँ। मुझमें जानने-देखनेका अस्तित्व है, और उन भावोंका नास्तित्व है। यह निश्चय करके जानने-देखनेकी और स्थिर होनेकी परिणति कर!

लोग कहते हैं कि आत्मा अरूपी है, किन्तु अरूपित्व भी आत्माका मुख्य लक्षण नहीं है, क्योंकि वह सर्व जीवोंमें व्याप्त होकर भी धर्मा-धर्मादिक अजीव द्रव्योंमें भी पाया जाता है, इसलिये उस लक्षणमें अतिव्याप्ति नामक दोष आता है। इसलिये अरूपी लक्षण द्वारा आत्माको